वलिका निशीथ महा-निशीथ, प्रश्न व्याकरण, सुख-विपाक, अन्त कृतांग, आदि आदि जैनागमों के, तथा सटीक योग-शास्त्र, आचार दिनकर, ओघनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति आदि ग्रन्थों के, व शिव-पुराण, आदि अन्य ग्रन्थों के मुख-वस्त्रिका विषयक, उसके मुख ही पर बाँधने के, पक्के और सच्चे प्रमाण-भूत मूल पाठों का, बिलकुल मूँठा, तार्किक, पक्षपात-पूर्ण और विरोधार्थ करके, जगत् के बेचारे भोले-भाले जीवों को धोखे में डालने के लिए मुँहपत्ति को मुख पर न बाँधते हुए, हाथों में रखना ठहराया है। साथ ही मुँहपत्ति को मुख पर बाँधने वाले प्रमाणिक और समाधानी जैन मुनियों की भर सक पेट-भर के, अनेकों तार्किक और कुत्सित युक्तियों के द्वारा, निन्दा भी की है। पुस्तक को विवेक और जैन धर्म का अभिमान रखते हुए पढ़ने पर, किसी भी विद्वान् की यह धारणा असंगत नहीं कही जा सकती कि इसकी य पुस्तक क्या लिखी है, मानो जगत् के बेचारे अनभिज्ञ जीवों को अपने चंगुल में फँसा मारने के लिए, एक बहेलिया की भाँति जाल फैला दिया है। अतएव, जिनशासन के अधीन लालित-पालित, कोई भी जैन धर्माभिमानी, जहाँ तक हमारा विचार है इस कपट रूप जाल का खण्डन करने, तथा सत्यासत्य का निर्णय करके जगत को वास्तविकता का दिग्दर्शन कराने के लिए चुप्पा साध कर नहीं बैठ सकता। यही कारण है, कि मैं ने भी अपनी लेखनी उठाई है।

तपाक तथा खरतर सम्प्रदाय बन्धु मूर्ति की उपासना करने से मूर्ति पूजक' विक्रम सं० १७०० के लगभग अपने श्वेत वस्त्र की जगह पीत वस्त्र धारण करने के कारण 'पीताम्बरी' और खाखाम्बर दण्ड हाथ में ग्रहण करने से दण्डी आदि नामों से पुकारे जाने लगे। यही कारण है, कि मैं [illegible] । इस छोटी सी पुस्तक में 'आगमानुसार मुँहपत्ति का [illegible] महाराज [illegible] के गुरुओं

❀ ॐ ❀

सबसे पहले इस सूचना को अवश्य पढ़ें ।

प्रिय पाठको ! आज का समय परम शान्ति-पूर्वक सबसे मिल-जुल कर रहने का है, न कि पारस्परिक वैर विरोध उत्पन्न कर, किसी से लड़ने-झगड़ने का । परन्तु जो लोग बेचारे अपनी अबोध-मयी, अज्ञान-मूलक, अहंकार और अभिमान-भरी वैर-विरोध की आदत ही से लाचार होते हैं वे ऊपर की बात पर ध्यान और कान देने ही क्यों और कब लगे ! वैसा ही कलुषित-हृदय एक दण्डी मणिसागरजी का जन-समाज भी पैदा हुआ प्रतीत हो रहा है । और, उसके कुछ आँखों देखे कामों तथा कानों सुने विचारों से, यह जान पड़ता है, कि मानों उस समाज का जन्म ही, इधर-उधर के कुछ झूँठे बहाने ग्रहण कर, अपनी तारीफ़ के पुल बाँधने, खण्डन-मण्डन का पैना अस्त्र अपने हाथों ले कर, पराये की निन्दा करने, तथा उनके हृदयों में उनके प्राण-प्रिय धर्म के प्रति क्षोभ पैदा करने वाली पुस्तकों को यदा कदा प्रकाशित करवाते रहने, आदि जघन्य कामो को लेकर, जगत् में हुआ है । हमारे कथन की सचाई के प्रमाण में, हम अपने पाठकों को अभी अभी का एक वैसा ही नमूना दिखाने की चेष्टा यहाँ करते हैं ।

कुछ ही दिन हुए, जब कि पीताम्बरी-मूर्ति-पूजको की ओर से, खरतर गच्छीय दण्डी मणिसागरजी ने, 'आगमानुसार मुँहपत्ति का निर्णय" और "जाहिर उद्घोषणा नं० १, २, ३" नामक पुस्तकों को हजारों प्रतियाँ छपवा कर वितरण की हैं । उन में से मुँहपत्ति के निर्णय में, आपने जैनागमों के विरुद्ध, अनेकानेक तार्किक कुयुक्तियों के द्वारा, मुँहपत्ति को मुँह पर न बाँधने के बदले हाथ में धारण करना सिद्ध किया है । यही नहीं मुख-पत्ति को मुख पर बाँधने वाले सब जैन मुनियों पर अनेकों औंधे सीधे आक्षेप भी आपने उसमें किये हैं । उसमें भगवतीजी, ज्ञाताजी, निरया-

❀ ॐ ❀

सबसे पहले इस सूचना को अवश्य पढ़ें ।

प्रिय पाठको ! आज का समय परम शान्ति-पूर्वक सबसे मिल-जुल कर रहने का है; न कि पारस्परिक वैर विरोध उत्पन्न कर, किसी से लड़ने-झगड़ने का। परन्तु जो लोग बेचारे अपनी अबोध-मयी, अज्ञान-मूलक, अहंकार और अभिमान-भरी वैर-विरोध की आदत ही से लाचार होते हैं वे ऊपर की बात पर ध्यान और कान देने ही क्यों और कब लगे ! वैसा ही कलुषित-हृदय एक दण्डी मणिसागरजी का जन-समाज भी पैदा हुआ प्रतीत हो रहा है। और, उसके कुछ आँखों देखे कामों तथा कानो सुने विचारों से, यह जान पड़ता है, कि मानों उस समाज का जन्म ही, इधर-उधर के कुछ झूँठे बहाने ग्रहण कर, अपनी तारीफ़ के पुल बाँधने, खण्डन-मण्डन का पैना अस्त्र अपने हाथों ले कर, पराये की निन्दा करने, तथा उनके हृदयों में उनके प्राण-प्रिय धर्म के प्रति क्षोभ पैदा करने वाली पुस्तकों को यदा कदा प्रकाशित करवाते रहने, आदि जघन्य कामो को लेकर, जगत् में हुआ है। हमारे कथन की सचाई के प्रमाण मे, हम अपने पाठकों को अभी अभी का एक वैसा ही नमूना दिखाने की चेष्टा यहाँ करते हैं।

कुछ ही दिन हुए, जब कि पीताम्बरी-मूर्ति-पूजको की ओर से, खरतर गच्छीय दण्डी मणिसागरजी ने, 'आगमानुसार मुँहपत्ति का निर्णय" और "जाहिर उद्घोषणा नं० १, २, ३" नामक पुस्तकों की हजारों प्रतियाँ छपवा कर वितरण की हैं। उन में से मुँहपत्ति के निर्णय मे, आपने जैनागमों के विरुद्ध, अनेकानेक तार्किक कुयुक्तियों के द्वारा, मुँहपत्ति को मुँह पर न बाँधने के बदले हाथ में धारण करना सिद्ध किया है। यही नहीं मुखपत्ति को मुख पर बाँधने वाले सच्चे जैन मुनियों पर अनेकों औंधे सीधे आक्षेप भी आपने उसमे किये हैं। उसमें भगवतीजी, ज्ञाताजी, निरया-

त्तिका निशीथ, महा-निशीथ, प्रश्न व्याकरण, सुख-विपाक, अन्त कृतांग, आदि आदि जैनागमों के, तथा सटीक योग-शास्त्र, आचार दिनकर, ओघनिर्युक्ति पिण्डनिर्युक्ति आदि ग्रन्थों के व शिव-पुराण, आदि अन्य ग्रन्थों के मुख-वस्त्रिका विषयक, उसका मुख ही पर बाँधने के, पक्ष और सबूत प्रमाणद-भूत मूल पाठों का, बिलकुल झूँठा, तार्किक, पक्षपात-पूर्ण और विरोधार्थी अर्थ करके, जगत् के बेचारे भोले-भाले जीवों को धोखे में डालने के लिए मुँहपत्ति को मुख पर न बाँधते हुए, हाथों में रखना ठहराया है। साथ ही मुँहपत्ति को मुख पर बाँधने वाले प्रामाणिक और सनातनी जैन मुनियों की भर सक पेट भर के, अनेकों तार्किक और कुत्सित युक्तियों के द्वारा, निन्दा भी की है। पुस्तक को विवेक और जैन धर्म का अभिमान रखते हुए पढ़ने पर, *किसी भी* विद्वान् की यह धारणा अत्युक्ति नहीं कही जा सकती कि एएडीजी ने पुस्तक क्या लिखी है, मानो जगत् के बेचारे अनभिज्ञ जीवों को अपने चंगुल में फँसा मारने के लिए, एक बहेलिया की भाँति जाल फैला दिया है। अतएव, जिनशासन के अधीन लालित-पालित, कोई भी जैन धर्माभिमानी जहाँ तक हमारा विचार है इस कपट रूप जाल का खण्डन करने, तथा सत्यासत्य का निर्णय करके, जगत का वास्तविक दिग्दर्शन कराने के लिए चुप्पी साध कर नहीं बैठ सकता। यही कारण है, कि मैं ने भी अपनी लेखनी उठाई है।

उक्त तथा उनके समाधीय बन्धु मूर्ति की उपासना करने से मूर्त्तिपूजक' विक्रम सं० १७० के लगभग अपने श्वेत वस्त्रों की जगह पीत वस्त्र धारण करने के कारण 'पीताम्बरा' और आकस्मिक दण्ड हाथ में ग्रहण करने से 'दण्डा' आदि नामों से पुकारे जाने लगे। यही कारण है, कि मैं ने भी अपनी इस छोटी सी पुस्तक में 'आगमानुसार मुँहपत्ति का निर्णय' आदि के लेखक महानुभाव को उपर्युक्त गुणों

से युक्त होने के कारण ही 'दण्डी' नाम दिया है। अतः किसी महानुभाव को मेरे इस नाम-करण से चिढ़ न जाना चाहिए।

अन्त में, मैं इसके पाठकों से यही निवेदन करूँगा, कि वे स्वयं बारीक़ी से इस पुस्तक को पढ़ें; अपने इष्ट मित्रों से इसके पढ़ने का आग्रह करें, तथा अपने पड़ौसी गाँवों के अनभिज्ञ जैन-बन्धुओं के घर-घर और दर-दर मे, इस का प्रचार करने-करवाने की अपने बल-भर चेष्टा करें। ताकि, जगत से मिथ्यात्व का मुँह काला हो, लोगों को "सत्यं शिवं सुन्दरं" का परिचय प्राप्त हो, और वे उसका समादर करना सीखें।

॥ ॐ सिद्धा सिद्धिं मम दिसन्तु ॥

कृतज्ञता-प्रकाशन

इस "आगमानुसार-मुख वस्त्रिका निर्णय" जाहिर उद्‌घोषणा नं० १, २, ३, के उत्तर लिखने में तथा "सचित्र मुख-वस्त्रिका निर्णय" में मुझे मेरे परम प्रिय सहपाठी साहित्य-प्रेमी गुरु-भ्राता पंडित मुनि श्री प्यारचन्दजी ने प्रत्येक समय इनके लिखने में तथा संशोधन आदि
...दि शुभ कार्यों में मुझे पूरी पूरी सहायता की
...के इस पावन कृत्य की जितनी
...ी संघटित है, इसका
... मानता हुआ
...ा करता
...माज
...भाग्रों
... करते

गुरुभ्राता—
...करमुनि।

कृतज्ञता-प्रकाशन

इस "आगमानुसार-मुख वस्त्रिका निर्णय" जाहिर उद्घोषणा नं० १, २, ३, के उत्तर लिखने में तथा "सचित्र मुख-वस्त्रिका निर्णय" में मुझे मेरे परम प्रिय सहपाठी साहित्य-प्रेमी गुरु-भ्राता पंडित मुनि श्री प्यारचन्दजी ने प्रत्येक समय इनके लिखने में तथा संशोधन आदि आदि शुभ कार्यों में मुझे पूरी पूरी सहायता की है, एतदर्थ उनके इस पावन कृत्य की जितनी प्रशंसा की जाय उतनी ही संघटित है, इसका सादर सप्रेम आभार एवं कृतज्ञता मानता हुआ हार्दिक भावों से धन्यवाद देता हुआ आशा करता हूं कि वे सदैव इसी प्रकार श्रमणोपासक समाज के उन्नतिशील कार्यों में अपने पावन हार्दिक भावों की दिन द्विगुनी एवं रात चौगुनी वत् वृद्धि करते रहेंगे। विशेष विस्तरेण किम् ॥

आपका सहपाठी गुरुभ्राता—

शंकरमुनि।

॥ ॐ ॥

आगमानुसार मुँहपत्ती का निर्णय नामक ग्रन्थ में दी हुई

ज़ाहिर उद्घोषणा नम्बर १ का

उत्तर !

मोक्षाभिलाषी सुज्ञों को लाभदायक सूचना !

लेखक की इस लेख को आद्योपांत पढ़ने की विनम्र

प्रार्थना है ।

नादंसणिस्स नाणं नाणेण विणा न होंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥

उत्तराध्ययन सूत्र अ० २८ श्लोक ३० ।

प्रिय महोदयो ! इस अगाध संसार चक्रकाल में जीवों को सतत पर्यटन करते एवम् जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, शोक, संयोग, वियोग, शारीरिक, मानसिक उपाधि, नरक, तिर्यंच, गर्भवास आदि के अनेक असह्य कष्ट सहन करते हुए कभी पुण्योदय से देवलोक में निवास और इन्द्रादि पद भी मिल गया, कभी सरस आहार इष्ट भोग आदि अनेक

सुखों के साथ पृथ्वी भर का राज्य भी मिल गया। किन्तु संसार के समस्त दुःखों का दूर करने वाला सम्यक्त्व धर्म इस जीव को कभी नहीं मिला। यही कारण है कि यह जीव संसार में गोते खाते हुए अनन्तकाल व्यतीत कर चुका और करता रहा है। भगवान ने इसीलिए यह कहा है कि "सद्धा परम दुल्लहा" सम्यक्त्व-वीतराग के वचनों पर शुद्ध श्रद्धा होना इस जीव के लिए महान दुश्वार है। अस्तु कभी पुण्योदय से सम्यक्त्व मिल भी गई तो मार्ग में बैठे हुए ढोंगी, धर्म के लुटेरे जीव को अपनी माया जाल में फँसा सम्यक्त्व-रत्न चुरा लेते हैं और उस सम्यक्त्व (श्रद्धा) रहित बना उसके मानस क्षेत्र को ज्ञान विहीन कर देते हैं। जब सम्यक्त्व ही नहीं तो शुद्ध ज्ञान कैसे रह सकता है और बिना शुद्ध ज्ञान के त्याग धर्म निभ नहीं सकता और बिना त्याग के कर्मों का अन्त नहीं, बिना कर्मों का अन्त किये इस जीव की मोक्ष नहीं हो सकती। अतएव सम्यक्त्वी मोक्षाभिलाषी भव्य जीवों को चाहिये कि वे स्वयं अपने सम्यक्त्व की रक्षा करने के हेतु दूसरों के मिथ्या लेखों और कुतर्कों में न फँसकर सत्यानुयायी बने और उन लोगों को जो सत्यमार्ग से विचलित होरहे हैं। उन्हें पतित होनेसे बचावें तथा अन्योन्योमी जो सत्यमार्ग से दूर रहकर इधर उधर भटक रहे हैं उन्हें सत्य मार्ग पर लाने की कोशिश करें इसी अभिप्राय से आज मैं संवेगी सम्प्रदाय के मुनि मणि सागर की लिखी हुई कुतर्कों का सप्रमाण उत्तर देना उचित समझता हूँ।

वक्तृत्ववादी मुनि मणीसागरजी अपनी रचित "आगमानुसार मुंहपत्ती का निर्णय" नामक ग्रन्थ में जो "जाहिर उद्घोषणा नम्बर १" दी है उसके प्रथम पृष्ठ पर "सम्यग्दर्शन चारित्राणि मोक्ष मार्ग" लिखकर अपनी सफाई दिखाते हैं पर यदि वे इन वचनों की जिनेन्द्र के वचनों पर शुद्ध श्रद्धा होती और वे भव भ्रमण से डरते तो पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को भूलकर उत्सूत्र प्ररूपणा कभी नहीं करते और न भव्य जीवों को अनादि अभिग्रहिक मिथ्यात्व में फँसाकर जैन शासन व जैन लिंग की अवहेलना ही कराते, जो कुछ हम कह रहे हैं वह अपने मन से नहीं परन्तु इन्हीं के माननीय हरीभद्र सूरिजी विरचित सिम्बोध प्रकरण की १२-५०-५१ वीं गाथा में लिखे अनुसार कहते हैं, इसलिये जरा आँख खोलकर देखें।

संवेगी मुनि नाम धराय के, दूरा मुख्या हो संवेग ना रंग के।

लोक लजावे वापड़ा न्यारा २ हो जायगो सहूना ढंग के ॥१॥
छापा परस्पर छापता देसी चेजेंजो हो लड़ता मांहो-माह के।
लोक लजावे वापड़ा, पीताम्बरी ही अब विगड़ा जायके ॥२॥
नहीं करयो नहीं कर सके न हो कुछ करण के योग के।
पीला कपड़ा पहेर के, भला हसाया कलयुगीया लोक के ॥३॥

पाठकगण ! इन दण्डी जी का सम्यक् ज्ञान व सम्यग् दर्शन तो जरा देख लीजिये। तिर्यंच मरकर वासुदेव नहीं होता ऐसा पन्नवणाजी सूत्र के वीसवें पद में भगवन्त ने फरमाया है और दण्डी लोग भैंसा मरकर वासुदेव होना मानते हैं।

भगवान् तो पन्नवणाजी के वीसवे पद मे तथा भगवती सूत्र के बारहवे शतक के नववें उद्देशे मे चौथी नरक का निकला हुआ जीव तीर्थंकर नहीं होता ऐसा फरमाते हैं और यह दण्डी लोग चौथी नरक में गए हुए रावण का तीर्थंकर होना मानते हैं।

भगवान् भगवती सूत्र के सातवें शतक के छट्ठे उद्देशे में एवम् जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में छट्ठे आरे के अधिकार में इस भारत में वैताढ्य पर्वत के सिवाय सब पर्वत अनित्य अशाश्वत फरमाते हैं और दण्डी लोग शत्रुंजय पर्वत को निश्चय शाश्वत मानते हैं जिसपर तुर्रा यह है कि शाश्वत कहकर घटना बढ़ना भी मानते हैं जो कि घट बढ़ नही सकता।

भगवान् भगवती सूत्र के आठवे शतक के नववे उद्देशे में कृत्रिम वस्तु की स्थिति सख्याते काल की फरमाते हैं पर दण्डी लोग अष्टापद पर भरतजी ने बिम्ब भराये और गौतम स्वामी वन्दने गए ऐसा मानते हैं, अब कहिये भरतजी और गौतम स्वामी के बीच असख्याते काल का अन्तर रहता है तब भरतजी के भराये हुए बिम्ब गौतम स्वामी ने कैसे देखे ? क्योंकि अगर भरतजी के भराये बिम्ब मान भी लें तो भी वे

असंख्याते काल तक भगवान के कथनानुसार नहीं तर सकते। एसी दयाजी जी की अनेक कपोल कल्पित बातें हैं जिन्हें लिखकर मुझे लेख नहीं बढ़ाना है केवल मुझे तो यही दिखाना है कि दयाजी लोगों के सम्यक् ज्ञान-सम्यग् दर्शन कहने और मानने में कितना अन्तर है।

सुहृदयो! अभिनिवेशिक मिथ्यात्व के आवेश में आकर हठाग्रह पर केवल वचन की वीरता से अपने आपको पंडित मान लेना हानिप्रद है देखो भगवान सूत्रकार क्या कहते हैं ?

मणंता अकरन्ता य बन्ध मोक्ख पइण्णिणो।
वाया विरियमेत्तेण, समासासन्ति अप्पयं ॥ १ ॥
न चित्ता तायए भासा कुओ विज्जाणुसासणं।
विसण्णा पावकम्मेहिं, बाला पंडियमाणिणो ॥ २ ॥
—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ६ श्लोक ९-१०

इस प्रकार पाण्डित्य का दावा करने वाले अपनी एवम् दूसरों की आत्मा का उद्धार कैसे कर सकते हैं? जहां सम्यक्ज्ञान और सम्यग्-दर्शन का ही अभाव है वहां चारित्र कैसे टिक सकता है? "मूलो नास्ति कुतो शाखा" बिना जड़के शाखा कैसी? बिना सम्यक्त्व के चारित्र(सत्ता) कैसा? इसलिये आत्म हितैषी भव्य जीवों को जिनेन्द्र भगवान की आज्ञानुसार चलने वाले सनातन जैन साधुओं की सेवाकर सम्यक्त्व (श्रद्धा) ज्ञान चारित्र की आराधना करनी चाहिये जिससे आत्म कल्याण हो।

आगे चलकर दयाजी जी दूसरे पृष्ठ पर लिखते हैं कि—"आज्ञा विरुद्ध चलने वाले चाहे वह २ तप करें जप करें ध्यान करें वगैरह आज्ञा विरुद्ध होने से सब निष्फल होजाते हैं।"

दयाजी! ठीक है, हम भी इस बराबर ठीक मानते हैं कि

भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध जितनी भी धर्म क्रिया की जायँगी सेव निष्फल हैं। पर क्या दण्डीजी "पर उपदेश कुशल बहुतेरे" की तरह आप दूसरो को उपदेश देना ही जानते हैं या अपनी आत्मा पर भी लक्ष लगाते हैं? यह तो वही बात हुई कि जैसे चोर किसी का धन चुरा-कर आम बाजार से पोलिस के सामने दौडता हुआ ऐसा कहते निकले कि पकड़ना चोर जारहा है तो क्या वह पोलिस के आंखो में धूल फैंक-कर जनता को धोखा देकर बरी हो सकेगा? पाठक स्वयं सोचे।

आगे चलकर दण्डीजी ने उसी पृष्ठ मे जमालीजी का उदाहरण दिया सो न्याय और उदाहरणो की उभय पक्ष मे कोई त्रुटि नहीं। चाहे जो उदाहरण दे सक्ते हैं और लिख सक्ते हैं। जमाली जैसे कौन हैं? यह अपने स्वय दिल से पूछकर निर्णय करले, कहीं ऐसा न-हो कि उनसे भी बढकर पश्चात्ताप का मौका आवे। भगवान् की आज्ञा विरुद्ध हठाग्रह वश कितनी भी उच्च क्रिया की जाय वह सब निष्फल है, मोक्ष प्रदायक नही।

आगे चलकर दण्डी जी पृष्ठ तीसरे पर यों लिखते हैं कि:—
"कोई भी प्राणी शास्त्र का एकपद, एक अक्षर काना, मात्रा, एक विन्दु की भी उत्थापना करें या अर्थ उलटा करें वा पहिले का पाठ निकाल कर नया दाखिल करके सूत्र को और अर्थ को उलट पुलट कर देवें तो वह अपने सम्यक्त्वका और चारित्र का नाश करके मिथ्या दृष्टि अनन्त ससारी होता है।"

दण्डीजी ने यह बहुत ही ठीक लिखा इसका हम हृदय से स्वागत करते हैं किन्तु दण्डी जी ऐसा लिख ही जानते हैं या तदनुसार चलते भी हैं। शास्त्र के अक्षर काना, मात्रा, विन्दु की तो बात ही अलग रही पर पद के पद आप सूत्रों में से निकाल रहे हो इसकी भी कुछ खबर है?

देखिये! इन्ही दण्डी लोगो के अनुयायियों द्वारा प्रकाशित आचा-

रंग सूत्र में "नो रएज्जा" ऐसा पद होते हुए भी आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित सं० १९७२ के आचारांग सूत्र के २०० में पृष्ठ में "नो रएज्जा" यह पाठ (पद) निकाल दिया गया है। यदि भगवान् कर्मों के उत्थापना का भय होता तो इस प्रकार पाठान्तर करने का किसी को साहस नहीं होता।

उववाइ जी सूत्र में चम्पा नगरी के वर्णन में "बहुला अरिहन्त चेइयाई" यह पाठ बराबी लोगों ने पाठान्तर कर रख दिया है। और ज्ञाता धर्म कथांग सूत्र में द्रौपदी के अधिकार में नमोत्थुणं का पाठ भी पीछे से रख दिया गया है। क्योंकि कुल्गर के लायब्रेरी में और दिल्ली में लाला मन्नूलालजी अग्रवाल के पास में प्राचीन हस्त लिखित प्रतियों में नमोत्थुणं का पाठ नहीं है। सं ११८४ की ताड़ पत्रों पर लिखी उपासक दशांग में "अण्ण उत्थिय परिग्गहियाणि चेइयाई" इस पाठ में "अरिहन्त" शब्द न होते हुए भी टीकाकार ने रखने का साहस किया है। इस कथन की पुष्टि के लिये अंग्रेजी अनुवादक ए० एफ० रुडल्फ होर्नल के पास इसी सूत्र की (ए-बी-सी-डी-ई) अर्थात् पांच प्रतियें हैं जिनमें ए-बी-सी-संख्या की प्रतियों में "अरिहन्त" शब्द नहीं है। देखो सन् १८०० में बेपटिस्ट मिशन कलकत्ता की प्रकाशित और उक्त महोदय की अंग्रेजी में अनुवादित प्रति में जिसका हिन्दी उपासक दशांग के प्रथम अध्ययन के पृष्ठ १५ वें पर अनुवाद छपा है इस विषय के बारे में उक्त महोदय की यह सम्मति है कि "वास्तव में जिनोक्त पाठ में तो अरिहन्त तथा चेइयाई ये दोनों ही शब्द नहीं हैं पर पीछे से टीकाकारों ने प्रक्षेप किये हैं। देखो अंग्रेजी अनुवाद की द्वितीय आवृत्ति पृष्ठ ३५ के नोट ९१ में वे लिखते हैं—

The words Chey im r arihanta Cheyaim which the M. S. S. here have appe r to be an xplanatry interpholation, taken over from the commentary which s ys the objects for

reverence may be either, Arhats (or great Saint) or Cheiyas. If they had been an original portion of the text, there can be little doubt but that they would have been Cheiyani

अर्थात् शब्द चेइयाई और अरिहन्त चेइयाइं जो हस्त लिखित पुस्तको में नहीं है, उस पर से साफ प्रतीत होता है कि ये शब्द टीका से लेकरके मिला दिये हैं। उस टीका में लिखा है कि या तो अरिहन्त या चैत्य पूज्यनीय हैं, यदि ये शब्द मूल पुस्तक के होते तो वहां "चेइयाणि" होता।

फिर भी देखिये मकसूदाबाद निवासी राय धनपतसिंह बहादुर का छपाया हुआ आचारंग सूत्र उसके द्वितीय स्कध के पृष्ठ १०२ पर लिखा है कि —

"जाणं वा णो जाणंति वदेज्जा"

पर कलिकाल सर्वज्ञ की मिथ्या उपाधि से भूषित दण्डी आनन्द-विजयजी ने सम्यक्त्व शल्योद्धार ग्रन्थ के पृष्ठ २५६ में आचारंग सूत्र का पाठ इस प्रकार लिख मारा —

"जाणं वा नो जाणं वदेज्जा"

विद्वज्जनो! इस पाठ में "जाणति" की 'ति' बिलकुल उड़ा दी गई। इस प्रकार इन दण्डियों के पाठ उड़ाने के व मिला देने के अनेकों उदाहरण प्रस्तुत हैं यहा विशेष लिखकर पाठकों का समय लेना ठीक नहीं समझता। जब पद के पद उड़ा देने की बातें प्रस्तुत हैं तो फिर काना, मात्रा, बिन्दु की तो गिनती ही क्या है? जैनधर्मी इस बात पर पूर्ण विश्वास रखते हैं कि जो भगवद् प्रणित वचनों के अक्षर मात्रा मात्र भी उत्थापना करते हैं वे मिथ्यात्वी होते हैं और उन्हें अनन्त संसार रुलना पड़ता है। और यही मान्यता दण्डी जी की भी है।

प्रिय महोदयो! जिन्हें भगवान् के वचनों की मात्राएं, बिन्दु आदि उड़ाने और वचन बढ़ाने का तनिक भी डर नहीं है, उनका उपदेश

---

[1] जिन्हें विशेष देखना हो वह दण्डी दम्भ दर्पण ग्रन्थ में देखें।

मिथ्यात्व बढ़ाने वाले। क्यों नहीं हो सकता तथा उनके उपदेश को सुनने वाले सम्यक्त्वी अपने सम्यक्त्व धर्म से पतित होकर संसार सागर में गोता खावें तो इसका पाप उपदेश दाता के पल्ले क्यों नहीं पड़ता होगा? अगर ऐसा जान तो सब पापों में मिथ्या उपदेश का पाप अधिक है। मिथ्या उपदेश सुनने वाला यदि कोई पाप सेवन करे—तो उससे उसकी आत्मा की ही हानि होती है पर मिथ्या उपदेश से तो उपदेश दाता को अपना ही फल भुगतना नहीं पड़ता बल्कि तमाम श्रोताओं की आत्मा के दुःखद पाप का परिणाम भी भुगतना पड़ता है। मिथ्या उपदेश दाता आप भी डूबता है और श्रोताओं को भी डुबो देता है। इसलिये ऐसा का को सहवास त्याग देते हैं वे महान लाभ को प्राप्त करते हैं।

वह महा पापी विश्वासघाती कहलाता है जो शरणागत का मारा कर देता है। जो भव भ्रमण की तकलीफों से मुक्त होने की इच्छा रखने वाले मुक्ति का सच्चा मार्ग ढूंढते २ विश्वासपूर्वक सम्यक् धर्मका उपदेश सुनने आवें और उन्हें वे मिथ्या उपदेश दे मारतक आत्मा विरुद्ध मार्ग बता भवसागर में डुबावें तो वे शरणागत का शिरोच्छेद करने वाले महान् पापी से भी बढ़कर पापी हैं।

मिथ्या उपदेश देने वाले कुगुरू को सुगुरू समझ अपने सम्यक्त्व धर्म को धक्का पहुंचाने वाले विश्वासी भव भीरु जीव मिथ्यात्व के भँवर में गिर जाते हैं और विराधिक बनकर अपने किये हुए सब धर्मानुष्ठान का व्यर्थ बर्बाद कर संसार बढ़ा लेते हैं। इसलिये मुक्ति के इच्छुक भव्य जीवों को चाहिये कि वे मिथ्यात्वियों का मिथ्या उपदेश त्याग यथातथ्य रीति से सम्यक्त्व आराधें जिससे कि वे अपने पाये हुए नर जन्म को कृतार्थ कर सकें।

—जो मर्याद आत्मा अज्ञान दशा से जो उत्सूत्र प्ररूपणा में ही अपना गौरव समझते हों सूत्र, पद मात्रा, बिन्दु पढ़ाने बढ़ाने में जिनराज की आशातना न समझते हों, अपने निज गच्छ की परम्परा विरुद्ध प्रमाणों

रखते हो, उनका परित्याग करने मे यत्किंचित लोक लज्जा, हठाग्रह व बपौती का ख़याल न करे। अपने गुरु पक्ष व सघ के मोह से, बहुत वर्षों के मत पक्ष से अपने भेष के मोह से, दृष्टिरागी परिचय वाले भक्तों के प्रेम से या और किसी अन्य कारण से उत्सूत्र प्ररूपणा की हो, भेष बदला हो, सूत्रों के पद घटाये बढ़ाये हों और भी गैरवाही कोई कार्य किया हो जिसका प्रायश्चित लेकर जल्दी शुद्ध बन जावें यही सम्यक्त्वी का खास लक्षण है। नहीं तो अन्त समय में पश्चाताप करना पड़ेगा।

प्रिय महानुभावो! मेरा खास विषय यही है कि जीव को सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति होना कठिन से कठिन कार्य है। अतएव सम्यक्त्व का स्वरूप जो दिखाया जारहा है उसी के अनुसार उसकी आराधना करना प्रत्येक जिज्ञासु का कर्त्तव्य है। सम्यक्त्व वही है जो सम्यक्देव, सम्यक्-गुरु, सम्यक्धर्म का पाठ पढ़ावे। इसलिये यह जानना आवश्यक है कि सम्यक् देव, गुरु धर्म कौन से हैं ?

सम्यक्देवः—

अठारह दोषों से दूर, त्रिकालज्ञ, एक हजार आठ उत्तम लक्षणों के धारक, लोकालोक प्रकाशक, केवलज्ञानी, चौसठ इन्द्रों द्वारा पूज्यनीक व वन्दनीक, चौंतीस अतिशय व पैंतीस व्याख्यान वाणी से अलंकृत, द्वादश परिषद में त्रिदोष रहित द्वादशागी के प्रतिपादक, साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप जगम तीर्थ के स्थापक, ऐसे जगदोद्धारक देवाधिदेव सम्यक्देव हैं।

सम्यक् गुरुः—

अहिंसादि पंच महाव्रतों के पालने वाले, चार कषाय को उपशांत कर पचेन्द्रिय को दमन करने वाले, नव विधि से ब्रह्मचर्य और दश विधि

से यति धर्म पालन वाले, अनैमितक प्रासुक आहार पानी आदि ग्रहण करने वाले, विहार की मर्यादा रखने वाले श्वेत वस्त्र धारन करने वाले सम्यक्गुरु हैं।

सम्यक्धर्म —

समस्त चराचर आत्माओं को अपनी आत्मा के समान दिखलाने वाला, अहिंसा, सत्य व्रत, ब्रह्मचर्य, अकिंचन एवं समाधि प्रसूति द्वारा विध यति धर्म तथा गृहस्थाश्रम के द्वादश धर्म को आत्मीय धर्म समझाने वाला दान, शील, तप, भावना, रूप धर्म के आराधन कराने वाला सम्यक्धर्म है।

उपरोक्त सम्यक्देव, गुरु, धर्म का आराधिक योग तप जप, ध्यान आदि से महान् पुरुष का भागी होता है। क्योंकि श्रद्धा सहित धर्म क्रिया करने वाला अल्पकाल में ही कर्मों को क्षय कर देता है और कर्मों का नाश होने पर अनन्त सुखों की प्राप्ति होती है।

अब मिथ्यात्व किसे कहते हैं ? इसका विस्तार पूर्वक वर्णन करते हैं।

भगवान् के वचनों के विरुद्ध जो क्रिया करता है वह मिथ्यात्व क्रिया कहलाती है और उस क्रिया का कर्ता मिथ्यात्वी कहलाता है। ऐसे मिथ्यात्वी अब भी साधु का भेष धारण कर सकते हैं। गौतम स्वामी के समान उग्र क्रिया करके दिखा सकते हैं परन्तु उनका सुधार होना असम्भव है। क्योंकि उनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं, वे वाग्जाल से सत्य बात छिपाने के परिश्रम में जीवन व्यतीत करदें पर मिथ्या होते हुए भी अपने आपको सच्चा ही बताते रहें। कोई तटस्थ, विचारशील, न्याय द्वारा समझाने पर आप हठाग्रह एवम् लोक लज्जा से अन्याय मार्ग न त्यागें। इस प्रकार वे चिकने कर्म बांधते हैं और उनका फल उन्हें अवश्य भोगना ही पड़ता है। अतएव जैनी कहलाने वाले भव्य पुरुषों को ऐसे

सफेद मिथ्यात्वियो की सगति त्याग देनी चाहिये और सत्य बात को ग्रहण करना चाहिये जिससे आत्मा का हित हो।

दण्डीजी पृष्ठ ६ पर लिखते हैं कि "जिनाज्ञानुसार अनादिकाल से सर्व जैन मुनियों के हाथ में मुँहपत्ति रखकर बोलते समय मुँह की यत्ना करके बोलने की प्रवृति चली आरही है।"

विचारशील पाठको! ऐसा दण्डीजी का लिखना सर्वथा शास्त्र प्रतिकूल है। क्योंकि जिनाज्ञानुसार सम्वेगी हाथ में मुँहपत्ती रखते हों तो फिर विवाद ही कौनसा रहा? कोई भी शास्त्र जैन साधुओ के लिये हाथ में मुँहपत्ति रखने की आज्ञा नहीं देता। अगर जैनागमों मे तीर्थंकर भगवान् फरमाते तो क्या गणधर इसी पाठ को सूत्रो में नहीं ग्रन्थित करते? पर ऐसा पाठ किसी भी सूत्र मे नहीं है कि "मुँहपत्ति हत्थे धारेज्जा" बस ऐसा एकही प्रमाण काफी है कि जिससे श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन-साधु हाथ में मुँहपत्ति रखने लग जायँ। किन्तु प्रिय महोदयो! किसी भी आगम में हाथ में रखने वाला मूल पाठ गणधरों ने प्रतिपादन नहीं किया। तब दण्डीजी कैसे कह सक्ते हैं कि "जिनाज्ञानुसार अनादिकाल से मुँह-पत्ति हाथ में रक्खी जाती है।' यदि दण्डीजी "मुंहपत्ति हत्थे धारेज्जा" ऐसा या इससे मिलता हुआ मूल पाठ किसी भी आगम में बतादें तो मैं ही क्या तमाम स्थानकवासी मुँहपत्ति हाथ में रखने लगें और दण्डीजी का सिद्धान्त अनादिकाल का सच्चा समझा जाय।

महानुभावों! दण्डीजी "मुँहपत्ति हाथ में रक्खी जावे" ऐसा आगमों में मूलपाठ टटोल २ कर थक गए तबही तो ऐसा वाद विवाद पूरित कुतर्क लगा, थोथा पोथा बनाने की धुन में लगे। पर क्या उस थोथे पोथे से भी मुँहपत्ति हाथ में रखने का सिद्धान्त प्रमाणित होता है? कभी नहीं। जब मूल सूत्रों में ही नहीं तो आप मुँहपत्ति हाथ में रखने का खास प्रमाण कहा से लाकर रक्खे।

आगे चलकर दयाखीजी उसी पृष्ठ में लिखते हैं कि —"अनुमान विक्रम सम्वत् १७०९ में प्रथम लुंक मत के लवजी साधु ने अपनी कल्पना से एक नई युक्ति निकाली कि खुले मुँह बोलने से हिंसा होती है, बार २ उपयोग नहीं रहता। इसलिये मुँहपत्ति मुँह पर बांधलें तो उससे दया पलेगी। कभी खुले मुँह न बोलना पड़ेगा, ऐसा विचार कर हमेशा मुँह पत्ति मुँह पर बांधने की नई रीति चलाई।

पाठको ! दयाखीजी का यह कहना भी नितान्त मिथ्या है क्योंकि लवजी स्वामी ने मुँहपत्ति बांधने की नई रीति चलाई उसका उनके पास कोई प्रमाण नहीं। किसी ग्रन्थ या लेख में "लवजी स्वामी ने मुँहपत्ति बांधना नवीन प्रारम्भ किया" ऐसा प्रमाण नहीं है। यह तो दयाखीजी भूल गए कि प्रमाण बिना कथन करदेना अरण्यरोदन वत् है। दयाखीजी किसी स्थानकवासी ग्रन्थ का प्रमाण देते तो पाठकों को भ्रम में पड़ने का अवसर ही नहीं मिलता।

दयाखीजी ! सच पूछो तो आप ही दयाखी लोगों ने जिन आज्ञानुसार अनादिकाल से नियमित सफेद कपड़े पहिनने की प्रणाली त्याग पीले वस्त्र धारण करने की नई रीति निकाली। इस बात को आपके दयाखी लोग भी स्वीकार कर चुके हैं। जिसका प्रमाण हम जिस पुस्तक के प्रत्युत्तर में लगे हैं उसी पुस्तक के टाइटल पृष्ठ के आगे जाहिर खबर में लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है कि 'हमने पीछे पीले कपड़े किये हैं।" पाठक ! इसी प्रकार सोचलें कि जिस प्रकार सफेद के पीले कपड़े धारण करने की ये नई प्रणाली चलाली है तो मुँहपत्ति मुँह से खोल हाथ में रखने की नई प्रणाली चलावें इसमें कौनसा आश्चर्य है ?

आगे चलकर दयाखीजी पृष्ठ ६ और ७ पर ऐसा लिखते हैं कि वह्नि कहते हैं कि हमेशा मुँहपत्ति बांधना यह कहीं ? दूर देशों में

चले गए इसलिये लवजी का हमेशा मुँहपत्ति बाधना नवीन मालूम पडा ढूढियों का यह कहना प्रत्यक्ष झूठ है।"

दण्डीजी मेरी समझ से क्या लिख रहे हैं उन्हें भी उसकी सूझ नहीं रहती होगी। देखो! वर्त्तमान काल में भी ऐसे कई देश हैं जहा श्रावक लोग रहते हैं पर वहा स्थानकवासी जैनसाधु नहीं जासक्ते जैसे कानपुर कलकत्ता, कर्नाटक आदि देश, क्या कानपुर, कलकत्ते आदि में रहनेवाले लक्षाधिपति जैन श्रावक साधु को दान नहीं देसक्ते? दे सक्ते हैं पर मार्ग में शुद्ध आहारादि नहीं मिल सक्ता। अतएव ऐसे देशो में उनका जाना दुश्वार होजाता है तो फिर जब १२ वर्ष का एकृगा दुर्भिक्ष पडने से शुद्ध † आहार पानी की प्राप्ति के निमित्त वे साधु किसी आर्य प्रान्त में चले गए हों और बाद दुर्भिक्ष के फिर इन्हीं प्रान्तों मे आये हों जहां के निवासी उन्हें नये मानते हों और वे अज्ञानवश मुंहपत्ति बाधने वालों की चाहे जो चर्चा करते हो तो इसमें कौनसा आश्चर्य है!

आज भी ऐसे गांव हैं जहा मुँहपत्ति बाधकर जानेवाले साधु को देख लोग आश्चर्य करते हैं और आपस में कहते हैं कि यह नया आदमी कौन है? पर उनके ऐसा कहने से क्या यह सिद्ध होगया कि मुँहपत्ति बाधने वाले अभी ही प्रकटे या नई प्रणाली चली? अगर दण्डी लोग ऐसा ही मान बैठें तो इसमें कोई नवीनता नहीं। पर जैन साधु तो हमेशा मुँह पर मुँहपत्ति बाधते चले आरहे हैं।

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ में लिखते हैं कि "ढूढिये लोग

---

†जो साधु साथ में आदमी रखकर उनसे आहार पानी लेसक्ते हैं उन नामधारी साधुओं को तो कहीं भी जाने मे कठिनता नहीं होती। परन्तु जो उन दोषों को टालकर आहार पानी लेते हैं उन्हे ही कठिनाई पड़ती है।

आगे चलकर दयवीजी उसी पृष्ठ में लिखते हैं कि —"अनुमान विक्रम सम्वत् १७०९ में प्रथम ढूंढ़ के मत के लवजी साधु ने अपनी कल्पना से एक नई युक्ति निकाली कि खुले मुँह बोलने से हिंसा होती है, बार २ उपयोग नहीं रहता। इसलिये मुँहपत्ति मुँह पर बांधलें तो उससे दया पलेगी। कभी खुले मुँह न बोलना पड़ेगा, ऐसा विचार कर हमेशा मुँह-पत्ति मुँह पर बांधने की नई रीति चलाई।

पाठको! दयवीजी का यह कहना भी नितान्त मिथ्या है क्योंकि लवजी स्वामी ने मुँहपत्ति बांधने की नई रीति चलाई उसका उनके पास कोई प्रमाण नहीं। किसी ग्रन्थ या लेख में "लवजी स्वामी ने मुँहपत्ति बांधना नवीन प्रारम्भ किया" ऐसा प्रमाण नहीं है। यह तो दयवामी भूल गए कि प्रमाण बिना कथन करदेना अपरम्पराइन मत है। दयवीजी किसी स्थानकवासी ग्रन्थ का प्रमाण देते तो पाठकों को भ्रम में पड़ने का अवसर ही नहीं मिलता।

दयवीजी! सच पूछो तो आप ही दयवी लोगों ने जिन आज्ञानुसार अनादिकाल से निर्मित सफेद कपड़े पहिनने की प्रणाली त्याग पीले वस्त्र धारण करने की नई रीति निकाली। इस बात को आपके दयवी लोग भी स्वीकार कर चुके हैं। जिसका प्रमाण हम जिस पुस्तक के प्रत्युत्तर में लग हैं उसी पुस्तक के ३ पृष्ठ के आगे जाहिर खबर में लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है कि 'हमने पीछे पीले कपड़े किये हैं।" पाठक! भली प्रकार सोचलें कि जिस प्रकार सफेद के पीले कपड़े धारण करने की ये नई प्रणाली चलायी है तो मुँहपत्ति मुँह से टाल हाथ में रखने की नई प्रणाली चलालें इसमें कौनसा आश्चर्य है?

आगे चलकर दयवीजी पृष्ठ ६ और ७ पर ऐसा लिखते हैं कि ढूंढिये कहते हैं कि हमेशा मुँहपत्ति बांधने वाले यहाँ २ दूर देशों में

"जाहेणं सक्के देविन्दे देवराया सुहुमकायं अणिं जूहित्ताणं भासं भासइ ताहेणं सक्के देविन्दे देवराया सावज्जं भासं भासइ, जाहेणं सक्के देविन्दे देवराया सुहुमकायं णिजूहित्ताणं भासं भासइ ताहेणं सक्के देविन्दे देवराया अणवज्जं भासं भासइ" अर्थात्—"शक्रेन्द्र अपने मुंह पर वस्त्र बांधे विना यानी मुँह के वस्त्र लपेटे विना बोले तो वह सावद्य भाषा है ऐसा भगवान् ने फरमाया है। यदि वह इन्द्र मुंह पर कपडा बाधकर या लपेटकर बोले तो वह निर्वद्य भाषा अर्थात् इस प्रकार बोलने में हिंसा नहीं होती है।" इससे निर्विवाद सिद्ध है कि साधुओं को हमेशा मुँह पर मुँहपत्ति बांधना उचित है।

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ मे लिखते हैं कि "इन्द्र के अधिकार वाले पाठ स मुँह पर बांधने का अर्थ निकालोगे तो इन्द्र के भी बाधने का ठहर जावेगा।"

दण्डीजी! भगवान ने तो पहिले ही फरमा दिया कि "खुले मुँह बोले तो सावद्य भाषा है और वस्त्र लपेट कर या बांधकर बोले तो निर्वद्य भाषा है।" खास इन्द्र के प्रसग पर ही ऐसा फरमाया तो क्या इन्द्र भगवान के वाक्य का उलंघन कर देंगे?

जब २ इन्द्र भक्ति के लिये आवेंगे तब २ वस्त्र बांधकर या लपेट कर ही बोलेंगे। ऐसे ही अतीत, अनागत और वर्त्तमान के इन्द्र अपने २ समय में उपरोक्त विधि के साथ ही तीर्थंकरों से वार्त्तालाप करेंगे। इससे सिद्ध है कि साधुओं को मुँह पर मुँहपत्ति बाधने की प्रणाली नवीन नहीं पर शास्त्रानुकूल प्राचीन है। यदि दण्डीजी कहे कि "जिस प्रकार इन्द्र वस्त्र लपेट लेते हैं उसी प्रकार साधुओं को भी लपेट लेना चाहिये" तो

भगवान् के वचन विरुद्ध होकर सर्व साधुओं को भ्रष्टाचारी ठहराकर इस भारतखण्ड में शुद्ध साधुओं का सर्वथा अभाव बतलाते हैं।

महोदयो! इस प्रकार कपोल कल्पित निरी निर्मूल बातें लिखकर दयाळीजी क्यों महान् दोष के भागी हुए? हमारे तो किसी ग्रन्थ में "सब साधु भ्रष्टाचारी हैं" ऐसा लेख नहीं है। भला सब साधुओं को भ्रष्टाचारी कहने वाला भी तो उस सब शब्द में आजाता है। तब पाठक सोचें कि क्या कोई ऐसा कह सकता है? श्वे० स्थानकवासी जैनसाधु ऐसा कभीनहीं कहते कि "शुद्ध साधु नहीं रहेगा बल्कि ऐसा कहते हैं कि शुद्ध साधुओं की परम्परा सर्वदा बनी रहेगी" तब इस प्रकार श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन साधुओं पर मिथ्या आक्षेप करना दयाळीजी की प्रत्यक्ष बुद्धिमानी का नमूना है।

आगे दयाळीजी पृष्ठ ७ वें पर लिखते हैं कि "भगवती सूत्र के १६ वें शतक के दूसरे उद्देशे में श क्रेन्द्र के अधिकार में शक्रेन्द्र अपने मुँह आगे हाथ या वस्त्र रखकर बोले तो निरवद्य भाषा बोले ऐसा भगवान ने फरमाया है इस बात का भाग करके दूंढिये साधु अपने मुख पर हमेशा मुंहपत्ति बांधने का ठहराते हैं सो अमूत्र प्ररूपणा है।"

पाठक! आपने मुंह आपनी बड़ाई करना नहीं रही। दयाळीजी के मतिकूल कोई शब्द लिखा हुआ कि वह उत्सूत्र प्ररूपक हो गया? उनके लिये तो ऐसा कह देना साधारणसी बात है। दयाळी लोग तो इस विचार समुद्र में गोते खाते हैं कि "हम कहें सो सच्चा" पर जमाना पलटा। क्या दयाळी और क्या श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनसाधु अपने मुँह मियाँ मिट्ठु नहीं बन सके? लोग तो कोई भी उपेक्षा हो सच बात ग्रहण करेंगे।

इसलिये! दयाळी लोग भगवतीजी का मुंह पर मुंहपत्ति बांधने का प्रमाण निर्मूल समझ रहे हैं पर यह उनकी गहरी गलती है। जरा मूल सूत्र को देखें।

पडिसुणेइ पडिसुणित्ता सुरभिणा गंधोदएणं हत्थपाए पक्खालेइ पक्खा लेत्ता **सुद्धाए अट्ठपड़लाए पोत्तीए मुहं बंधई मुहं बंधित्ता** जमालिस्स खत्तियकुमारस्स परेणं जत्तेणं चउ रंगुलवज्जे निक्खमणपयोगे अग्ग केसे कप्पइ"

भगवती सूत्र शतक ७ उद्देश ३३

अर्थात् जिस समय जमालीजी ने दीक्षा लेने का विचार किया तो उनके पिता ने नाई को बुलाकर कहा कि चार अंगुल केश वर्ज कर और सब केशों को काट डालो। नाई ने यह आज्ञा सुनकर "**सुद्धाए अट्ठपड़लाए पोत्तीए मुंह बंधई मुह बंधिता**" शुद्ध आठ पर्त (तह) वाली मुख पोत्तिका से मुह बाधकर केश काटे।

अब कहिये पाठक! मुहपत्ति मुह पर बाधने की प्राचीन रीति थी तबही तो धार्मिक उत्सव के मौके पर नाई ने भी आठ तह वाली मुहपत्ति मुंह पर बाधी थी। राजकुमार ने पहिले भी तो कई वक्त क्षौर कर्म कराया होगा, पर उस जगह मूल सूत्र में कहीं भी यह पाठ नहीं आया कि जब २ वे क्षौर कर्म कराते नाई मुंह पर मुखपत्ति बांध लेता था। केवल साधु बनने को प्रस्तुत हुए तबही नाई ने धार्मिक क्रिया समझ मुंह पर मुख वस्त्रिका बाधी और यही पाठ स्पष्ट रूप से अधिक दृष्टिगत हो रहा है। यदि दण्डीजी पूछें कि नाई ने साधुओं की प्रणाली कुछ समय के लिये क्यों स्वीकार की तो इसका सीधा उत्तर यह है कि कोई भी किसी अन्य सम्प्रदाय का व्यक्ति हो, जब २ जिस कार्य के लिये वह स्थापित किया जाय, उसको उनकी रीति के अनुसार व्यवहार करना ही होगा। जैसे पुजारी चाहे जिस सम्प्रदाय का व्यक्ति हो पर जिसका मन्दिर होगा और वहा जिस रीति से कार्य चलता होगा उसी तरह से उस पुजारी का चलना होगा। ऐसे ही उस नाई ने भी जमालीजी की धार्मिक क्रिया देख मुह पर मुहपत्ति बाधी। सारांश यह है मुह पर मुहपत्ति बाधने का

यह उनका हठाग्रह है। क्योंकि इनर कुछ समय के लिये धार्मिक भक्ति भाव में प्रेरित होते हैं तो दया के साधन वास्ते वस्त्र बांध लेते या लपेट लेते हैं तब साधु की तो तमाम जीवनी ही धार्मिक है, अतएव उसमें दया के मुख्य साधन मुँहपत्ति को कभी खोल लेना और कभी बांध लेना कैसे ठीक कहा जासक्ता है ? उन्हें तो हमेशा मुँहपर बांधना ही लाभप्रद है। दरबीजी जो मुँह पर नहीं बांधने की तर्क लड़ाते हैं यह उनकी कमजोरी व अनभिज्ञता है।

आगे चलकर दरबीजी इसी पृष्ठ पर लिखते हैं कि—"भगवती सूत्र के ७ वें शतक के ३३ वें उद्देश में जमाली के दीक्षा अधिकार में एवम् मेघकुमार के दीक्षा के समय नाई ने वस्त्र से मुँह बांधकर राजकुमारों के केश काटे थे इस प्रमाण को आगे करके ढूंढिये साधुपने में हमेशा मुँहपत्ति बांधी रखने का ठहराते हैं यह भी प्रत्यक्ष असत्य प्ररूपणा है"

प्रिय महोदयो ! दरबीजी का इस प्रकार असत्य प्ररूपणा करना मिथ्यात्व का जोर है। क्योंकि भगवती सूत्र एवम् ज्ञाताजी में नाई ने बाल काटते वक्त मुँह पर मुँहपत्ति बांधी है यह सच है और इसी की पुष्टि में "अट्ठपडलाए" आठ पत अर्थात् तह वाली यह मुँहपत्ति का विशेषण कहा है। इसलिये जरा मूलपाठ—

"जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया तं कासवर्ग एवं वयासी तुमं देवाणुप्पिया ! जमालिस्स खत्तियकुमारस्स परेणं जतेणं चउरंगुलवज्जे निक्खमणपयोगे अग्गकेसे पडिकप्पेहि; तएणं से कासवे जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिउणा एवंवुत्तेसमाणे हट्ठे तुट्ठे करयल जाव एवं वयासी तहत्ताणाए विणएणं वयण

पडिसुणेइ पडिसुणित्ता सुरभिणा गंधोदएणं हत्थपाए पक्खालेइ पक्खा लेत्ता **सुद्धाए अट्ठपडलाए पोत्तीए मुहं बन्धई मुहं बंधित्ता** जमालिस्स खत्तियकुमारस्स ।रेणं जत्तेणं चउ रंगुलवज्जे निक्खमणपयोगे अग्ग केसे कप्पइ"

भगवती सूत्र शतक ७ उद्देश ३३

अर्थात् जिस समय जमालीजी ने दीक्षा लेने का विचार किया तो उनके पिता ने नाई को बुलाकर कहा कि चार अंगुल केश वर्ज कर और सब केशों को काट डालो। नाई ने यह आज्ञा सुनकर **"सुद्धाए अट्ठपड़लाए पोत्तीए मुंह बंधई मुह बंधित्ता"** शुद्ध आठ पर्त (तह) वाली मुख पोत्तिका से मुंह बांधकर केश काटे।

अब कहिये पाठक! मुहपत्ति मुह पर बांधने की प्राचीन रीति थी तबही तो धार्मिक उत्सव के मौक़े पर नाई ने भी आठ तह वाली मुहपत्ति मुह पर बांधी थी। राजकुमार ने पहिले भी तो कई वक्त क्षौर कर्म कराया होगा, पर उस जगह मूल सूत्र में कहीं भी यह पाठ नहीं आया कि जब २ वे क्षौर कर्म कराते नाई मुंह पर मुखपत्ति बांध लेता था। केवल साधु बनने को प्रस्तुत हुए तबही नाई ने धार्मिक क्रिया समझ मुंह पर मुख वस्त्रिका बांधी और यही पाठ स्पष्ट रूप से अधिक दृष्टिगत हो रहा है। यदि दण्डीजी पूछें कि नाई ने साधुओं की प्रणाली कुछ समय के लिये क्यों स्वीकार की तो इसका सीधा उत्तर यह है कि कोई भी किसी अन्य सम्प्रदाय का व्यक्ति हो, जब २ जिस कार्य के लिये वह स्थापित किया जाय, उसको उनकी रीति के अनुसार व्यवहार करना ही होगा। जैसे पुजारी चाहे जिस सम्प्रदाय का व्यक्ति हो पर जिसका मन्दिर होगा और वहां जिस रीति से कार्य चलता होगा उसी तरह से उस पुजारी को चलना होगा। ऐसे ही उस नाई ने भी जमालीजी की धार्मिक क्रिया देख मुह पर मुहपत्ति बांधी। सारांश यह है मुह पर मुहपत्ति बांधने का

रिवाज प्राचीन है और प्राचीन समय में भी साधु मुंह पर मुंहपत्ति बांधते थे इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है। अतएव वर्तमान काल के साधुओं के लिये भी हमेशा मुंह पर मुंहपत्ति बांधना सूत्रानुकूल है तथा बांधने के लिये जो भगवतीजी व शास्त्रों का प्रमाण देते हैं वह सब है, यहां सिर्फ मुंह पर मुंहपत्ति बांधने का प्रश्न है किसी खास व्यक्ति या जाति विशेष का प्रश्न नहीं। अगर दफ्तरीजी कहें कि नाई ने मुंहपत्ति बांधी, राजकुमारों ने क्यों नहीं बांधी ? तो यह कहना भी उनका अयुक्ति संगत है। क्योंकि राजकुमार जब २ साधु भेष धारण कर दीक्षित होंगे वे भी अवश्य मुंह पर मुंहपत्ति बांधेंगे। इसमें तर्क की आवश्यकता ही क्या है ?

आगे चलकर दफ्तरीजी पृष्ठ ९ वें में लिखते हैं कि "मृगारानी ने वस्त्र से पहिले अपना मुंह बांधा और दुर्गन्धी का बचाव करने के लिये गौतम स्वामी को भी कहा कि आप भी अपनी मुंहपत्ति से मुंह बांधलें। इस बात से साबित होता है कि गौतम स्वामी के मुंह पर मुंहपत्ति पहिले बांधी हुई नहीं थी किन्तु हाथ में थी इसलिये मृगारानी ने दुर्गन्धी का बचाव करने के लिये मुंह पर बांधने को कहा, यदि पहिले से बांधी हुई होती तो फिर दूसरी बांधने को कभी नहीं कहती"

दफ्तरीजी ठीक है, रानी ने गौतम स्वामी से ऐसा ही कहलाया, इसको हम भी मानते हैं पर दफ्तरी लोग अपने हृदय पर हाथ रखकर मन से पूछें तो पता लग जावेगा कि दुर्गन्धी के बचाव के लिये हो मृगारानी ने ऐसा कहा जिसे दफ्तरी जी अपने लेख में स्वीकार करते हैं तो कहिये दफ्तरीजी ! सुगन्ध और दुर्गन्ध का अनुभव मुंह से होता है या नाक से ? इस साधारण प्रश्न पर अल्प मति बालक भी यही कहेगा कि गन्ध की जांच नाक से होती है। तब क्या मृगारानी को एवम गौतम स्वामी को बोध नहीं था कि नाक खोलकर मुंह बांधना और बांधा, नहीं कभी नहीं। मुंह बांधने का अर्थ करना दफ्तरी लोगों की केवल अनभिज्ञता प्रकट करना

है और वे ही स्वय उत्सूत्र प्ररूपक हैं क्योंकि यहां पर मुंह बांधने का सम्बन्ध ही नहीं है।

यहां दण्डोजी तर्क लगाएंगे कि यदि यही वात थी तो मूल सूत्र में नाक वाधने के लिये क्यों नहीं कहा ? इसका उत्तर यह है कि प्राय: दुर्गन्ध के स्थान पर लोग मुह नाक के आगे कपडा लगा लेते हैं पर "मुंह वाधलो, मुंह के आगे पल्ला लगालो" ऐसा ही कहते हैं अर्थात् यही वाक्य प्रयोग में आते हैं। इसीलिये मृगारानी ने भी नाक बांधने की जगह मुंह बांधने को कहा। किन्तु मुंह पर मुखवस्त्रिका बांधने को नहीं कहा था। विना समझे सूत्र का अर्थ करना महान् कठिन है। भगवान् गौतम के मुख पर मुखवस्त्रिका तो प्रथम ही बँधी हुई थी। यदि ऐसा नहीं था तो हम दण्डियों से पूछते हैं कि "क्या गन्ध मुख ग्रहण करता है ? न्याय में लिखा है कि "घ्राण ग्राह्यो गुणो गन्ध" अर्थात् घ्राणेन्द्रिय (नाक) से गन्ध की पहिचान होती है। इसको तो दण्डीजी भी मानते होंगे कि रानी ने बोलने के लिये नहीं किन्तु दुर्गन्ध का बचाव करने के लिये ही मुह बांधने को कहा था और दुर्गन्ध का बचाव नाक बांधने से ही हो सक्ता है, ऐसी दशा मे मृगारानी ने नाक न कहकर प्रचलित मुहावरे का प्रयोग किया तो क्या इससे यह सिद्ध होगया कि मुंह पर मुखवस्त्रिका बँधाई ? कभी नहीं ! त्रिकाल में भी नहीं !! क्योंकि गौतमस्वामी के मुह पर मुंहपत्ति बँधी हुई थी। मृगारानी ने नाक के स्थान पर मुहाविरे के कारण मुंह का प्रयोग किया जैसा कि आजकल भी लोग दुर्गन्ध के स्थान पर मुंह ढाकने के कथन का प्रयोग करते हैं।

पाठको ! मुह पर मुंहपत्ती वधी हुई नहीं थी ऐमी दण्डियों की कुतर्क रूपी रेत की नींव पर दुर्ग खडा नहीं किया जा सक्ता। दण्डियों की यह आशा दुराशा मात्र है। और इसमें दण्डी कभी सफलीभूत नहीं हो सक्के। नाक बन्द करने के स्थान पर मुह बाधने के लिये कहने की आदत लोगों मे आधुनिक काल [illegible] ई है ऐमी वात [illegible] प्राचीन

रिवाज प्राचीन है और प्राचीन समय में भी साधु मुंह पर मुंहपत्ति बांधते थे इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है। अतएव वर्तमान काल के साधुओं के लिये भी हमेशा मुंह पर मुंहपत्ति बांधना सूत्रानुकूल है तथा बांधने के लिये जो भगवतीजी व ज्ञाताजी का प्रमाण देते हैं वह सच है, यहां सिर्फ मुंह पर मुंहपत्ति बांधने का प्रश्न है किसी खास व्यक्ति या जाति विशेष का प्रश्न नहीं। अगर दण्डीजी कहें कि माई ने मुंहपत्ति बांधी, राजकुमारों ने क्यों नहीं बांधी ? तो यह कहना भी उनका अयुक्ति संगत है। क्योंकि राजकुमार जब २ साधु भेष धारण कर दीक्षित होंगे वे भी अवश्य मुंह पर मुंहपत्ति बांधेंगे। इसमें तर्क की आवश्यकता ही क्या है ?

आगे चलकर दण्डीजी पृष्ठ ९ में म लिखते हैं कि "मृगारानी ने वस्त्र से पहिले अपना मुंह बांधा और दुर्गन्धी का बचाव करने के लिये गौतम स्वामी को भी कहा कि आप भी अपनी मुंहपत्ति से मुंह बांधलें। इस बात से साबित होता है कि गौतम स्वामी के मुंह पर मुंहपत्ति पहिले बांधी हुई नहीं थी किन्तु हाथ में थी इसलिये मृगारानी ने दुर्गन्धी का बचाव करने के लिये मुंह पर बांधने को कहा, यदि पहिले से बांधी हुई होती तो फिर दूसरी बांधने को कभी नहीं कहती"

दण्डीजी ठीक है, रानी ने गौतमस्वामी से ऐसा ही कहाथा, इसको हम भी मानते हैं पर दण्डी लोग अपने हृदय पर हाथ रखकर मन से पूछें तो पता लग जायगा कि दुर्गन्धी के बचाव के लिये ही मृगारानी ने ऐसा कहा जिसे दण्डी जी अपने लेख में स्वीकार करते हैं तो कहिये दण्डीजी ! सुगन्ध और दुर्गन्ध का अनुभव मुंह से होता है या नाक से ? इस साधारण प्रश्न पर अल्प मति वाला भी यही कहेगा कि गन्ध की जांच नाक से होती है। तब क्या मृगारानी को एवम् गौतम स्वामी को बोध नहीं था कि नाक छोड़कर मुंह बांधना और बांधा नहीं कभी नहीं। मुंह बांधने का अर्थ करना दण्डी लोगों की केवल अनभिज्ञता प्रकट करना

मुह बाधने के एकसे मूलपाठ हैं पर सम्बन्ध देखकर अर्थ करने से एक शब्द के भी कई अर्थ पलट जाते हैं। ऐसा दण्डीजी भी अवश्य मानते ही होगे।

फिर उस पर तत्व दृष्टि से विचार करे कि गौतम स्वामी ने रानी के कहने पर मुँह बाधा तो क्या इससे पूर्व गौतम स्वामी रानी से खुले मुँह बोले ? रानी ने यत्ना करने का भान कराया ? नहीं, सिद्ध है कि केवल दुर्गन्ध से बचने के लिये रानी ने गौतम स्वामी से नाक ढँक लेने को कहा और आप खुद ने भी नाक के आगे पल्ला लगाया, गौतमस्वामी उस समय मुँहपत्ति बाधे ही हुए थे।

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ पर लिखते हैं कि "यदि गौतम-स्वामी का मुह बधा हुआ मानोगे तो मृगा रानी का भी मुँह पहिले से बँधा हुआ ठहर जावेगा।

दण्डीजी का ऐसा लिखना बिलकुल बालक्रीड़ा सा है। क्योंकि गौतम स्वामी और रानी के जीवन मे बडा भारी अन्तर है। गौतम स्वामी साधु हैं रानी गृहस्थाइन। गौतम स्वामी का साधु भेष और रानी का गृहस्थाइन का भेष एक कैसे हो सक्ता है ? गौतम स्वामी ने ससार के झझटों को त्याग चद्दर, चोलपट्टा, रजोहरण, मुँहपत्ति धारण की है-इससे गौतम स्वामी मुँह पर मुँहपत्ति बाधे हुए थे, पर गौतम स्वामी-के मुँहपत्ति बँधी होने से रानी के भी मुँहपत्ति बँधी होगी यह कैसे हो सक्ता है ? क्योंकि रानी संसारी है वह संसार की क्रिया करते भला मुँहपत्ति क्यो बाध रक्खेगी। हा, जब २ वह धर्म क्रिया करती होगी तब २ मुँहपत्ति बाधती होगी परन्तु क्या ससारी से हर समय धम क्रिया होना शक्य है ? अगर तुम्हारे कहे अनुसार मान भी लें कि गौतयस्वामी की तरह रानी का भी मुंह बंधा होगा तो क्या यह भी मानना पड़ेगा कि गौतम स्वामी की तरह रानी के बगल में रजोहरण भी था ? शान्तम्, ग्रहादुन्। सूभी

शास्त्रों में भी इसके प्रमाण प्रस्तुत हैं देखिये ! ज्ञाता सूत्र के नवें अध्याय में कहा है —

"तएणं से मागन्दिया दारए तेणं असुभेणं गंधेणं अभिभूया समाणं सएहिं उत्तरज्जएहिं आसायं पेहेइ"

अर्थात उस मागन्दिक गाथापति के पुत्र ने उस असाधारण एवम् तीव्र दुर्गन्ध से व्याकुल होकर (आसायं) मुँह को ढक लिया। इस स्थान पर भी दयाबीजी शब्दार्थ पर ध्यान दें तो असंगति के दोषी हुए बिना नहीं रहेंगे, क्योंकि सामान्य से सामान्य व्यक्ति भी यह समझ सकता है कि दुर्गन्ध की रक्षा नाक द्वारा हो सकती है न कि मुख द्वारा।

यदि दयाबीजी कहेंगे कि राजकुमारों के पास जाते वक्त भाई के मुह पर मुहपत्ति बांधने का अर्थ लगाते हो और वैसाही मृगारानी के स्थान पर पाठ आने से नाक ढांकने का अर्थ करते हो यह न्याय संगत नहीं है।

दयाबीजी ! कुछ सोचें। कोष पढ़ें। व्याकरण पढ़ें और सम्बन्धार्थ को विचारें। एकही शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, जैसा जहां पूर्वापर सम्बन्ध लगा जाता है वैसाही उसका अर्थ करना न्याय संगत गिना जाता है जैसे कोई व्यक्ति भोजन करने बैठे और अपने नौकर से कहे कि "सैन्धव लाओ" नौकर सैन्धव शब्द का अर्थ घोड़ा समझ कर घोड़े को हाजिर रखदे तो क्या सेठ उससे प्रसन्न होंगे ? नहीं परन्तु भोजन करते के समय को देख "सैन्धव" का अर्थ नमक लगा नमक ला देने से सेठ अवश्य प्रसन्न होंगे। क्योंकि सैन्धव का अर्थ नमक भी होता है। जैसा सम्बन्ध हो वैसा अर्थ करना बुद्धिमानी है इसके विपरीत अपने स्वार्थ सिद्धि के लिये मनमाना अर्थ कर लेना उच्छृङ्खलता है।

प्रिय पाठकों ! वाक्य दोनों जगह एकसे हैं परन्तु अर्थ करते समय पूर्व सम्बन्ध पर ध्यान अवश्य रख लेना चाहिये। दोनों जगह

मुह वाधने के एकसे मूलपाठ हैं पर सम्बन्ध देखकर अर्थ करने मे एक शब्द के भी कई अर्थ पलट जाते हैं। ऐसा दण्डीजी भी अवश्य मानते ही होंगे।

फिर उस पर तत्व दृष्टि से विचार करें कि गौतम स्वामी ने रानी के कहने पर मुँह वाधा तो क्या इससे पूर्व गौतम स्वामी रानी से खुले मुँह वोले ? रानी ने यत्ना करने का भान कराया ? नहीं, सिद्ध है कि केवल दुर्गन्ध से बचने के लिये रानी ने गौतम स्वामी से नाक ढँक लेने को कहा और आप खुद ने भी नाक के आगे पल्ला लगाया, गौतमस्वामी उस समय मुँहपत्ति वाधे ही हुए थे।

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ पर लिखते हैं कि "यदि गौतम-स्वामी का मुह बधा हुआ मानोगे तो मृगा राणी का भी मुँह पहिले से बँधा हुआ ठहर जावेगा।

दण्डीजी का ऐसा लिखना बिलकुल बालक्रीडा सा है। क्योंकि गौतम स्वामी और रानी के जीवन मे बडा भारी अन्तर है। गौतम स्वामी साधु हैं रानी गृहस्थाइन। गौतम स्वामी का साधु भेष और रानी का गृहस्थाइन का भेष एक कैसे हो सक्ता है ? गौतम स्वामी ने ससार के झगड़ों को त्याग चद्दर, चोलपट्टा, रजोहरण, मुँहपत्ति धारण की है इससे गौतम स्वामी मुँह पर मुँहपत्ति बाधे हुए थे, पर गौतम स्वामी के मुँहपत्ति बँधी होने से रानी के भी मुँहपत्ति बँधी होगी यह कैसे हो सक्ता है ? क्योंकि रानी ससारी है वह ससार की क्रिया करते भला मुँहपत्ति क्यो बाध रक्खेगी। हा, जब २ वह धर्म क्रिया करती होगी तब २ मुँहपत्ति वाधती होगी परन्तु क्या ससारी से हर समय धर्म क्रिया होना शक्य है ? अगर तुम्हारे कहे अनुसार मान भी लें कि गौतमस्वामी की तरह रानी का भी मुह बंधा होगा तो क्या यह भी मानना पड़ेगा कि गौतम स्वामी की तरह रानी के बगल मे रजोहरण भी था ? शाबास, बहादुरो। सूझो

तो दूर की, देर स भी सूझी तो हरकत नहीं। इसके साथ यह भी मानना कि गौतम स्वामी की नाई ज्ञानी के हाथ म पात्र भी थे, चोलपट्टा भी था, और वह साध्वी भी थी। अगर मूर्ख से भी ये बातें पूछो जाय तो वह भी हँसे बिना नहीं रह सकता। अब आपके ध्यान में आगया होगा कि गौतम स्वामी के मुँह पर मुँहपत्ति बँधी हुई कहने स ज्ञानी के भी मुँहपत्ति बँधी होगी, ऐसा नहीं ठहर सकता।

आगे चलकर दयाजी पृष्ठ १२ वें में लिखते हैं— "ढूंढिया लोग कभी दुर्गन्धी वाले रास्ते होकर जावें तो उन्हों को कोई भी दूसरे लोग मुँहपत्ति स मुँह बांधने को नहीं कह सकते और जिन्हों के मुह खुले होंग उन्होंको दुर्गन्धी की जगह मुँह बांधने का कह सकते हैं।"

दयाजी! आपका यह लिखना भी नितान्त मिथ्या है। और आपका अनुभव भी असत्य है, क्योंकि श्वे० स्था० जैन साधुओं के मुँह पर मुँहपत्ति बँधी हुई देखकर भी एक नहीं अनेक लोग दुर्गन्धी वाले मार्ग पर दुर्गन्ध की रक्षा कर लेने के वास्ते कहते हैं कि "महाराज! दुर्गन्ध अधिक आरही है, इसलिये मुह पर कपड़ा लपेट रख लीजिये।" अब देखिये, मुँह पर मुँहपत्ति बँधी होने पर भी लोग "मुँह ढकलो" ऐसा ही कहते हैं पर उनका अभिप्राय 'नाक ढकलेने' से ही है। हां शायद दयाजी को दुर्गन्धादि स्थान पर "मुँह ढकलो" ऐसा कोई कहने वाला नहीं मिला होगा तभी ये बात याद आगई।

आगे चलकर दयाजी उसी पृष्ठ में लिखते हैं "दुगन्धी तो नाक से आती है परन्तु मुँह से नहीं" यह भी अनसमझ की बात है।

दयाजी! धन्य है, आपकी बुद्धि को! आपने तो "घ्राण ग्राह्यो गुणो गन्धः" इस न्याय को भी उड़ा दिया और सर्वज्ञों की प्ररूपी हुई बात का भी धक्का पहुँचा दिया। सूत्र में जगह २ वर्णन है कि ज्ञान का

विषय शब्द श्रवण करना, चक्षु का विषय देखना एवम् दुर्गन्ध सुगन्ध की पहिचान करना नाक का विषय है, इसी प्रकार जिव्हा का विषय स्वाद और शरीर का विषय शीतोष्ण की पहिचान है, एक इन्द्री का विषय दूसरी इन्द्री से कभी नहीं मिलता। भोजन के स्वाद का ज्ञान जिव्हा के सिवाय नाक, कान, आंख नहीं कर सक्ते। इस बात को जैन, अजैन, आबाल वृद्ध सभी लोग मानते हैं, पर अफ़सोस है कि ऐसा मानने वालों को दण्डोजी अनसमझ कह रहे हैं।

पाठक तनिक सोचे, अनसमझ दण्डीजी की है या अन्य की। दुर्गन्ध सुगन्ध का ज्ञान नाक द्वारा होता है इसे दण्डीजी विपरीत समझ रहे हैं। इससे मालूम होता है कि दण्डीजी ने न्याय नहीं देखा, या उनकी इन्द्रियों ने विषय का ज्ञान करना ही त्याग दिया। ईश्वर जाने, शायद दुर्गन्ध का पदार्थ खाने से उनको दुर्गन्ध का ज्ञान हुआ होगा। अस्तु, हमें इससे कुछ मतलब नहीं, हमें तो जनता को यह दिखाना है कि सुगन्ध दुर्गन्ध का ज्ञान नाक द्वारा ही होता है। दण्डीजी लिखते हैं कि 'दुर्गन्धी तो नाक से आती है, मुंह से नहीं यह भी अनसमझ की बात है' आपके इस लेख को हम ही नहीं किन्तु समस्त पाठक मिथ्या कहेंगे और पढ़कर उपहास करेंगे।

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ में लिखते हैं कि"—निरयावलो सूत्र मे सोमिल तापस ने अपने मुह पर काष्ठमुद्रा याने लकड़े की पटड़ी बाधी थी ऐसा अधिकार है उसको देखकर ढूढिये लोग जैन साधु को हमेशा मुँह पर मुँहपत्ति बाधी रखने का ठहराते हैं सो सर्वथा उत्सूत्र प्ररूपणा है।"

दण्डीजी इस बात को तो स्वीकार करते हैं कि सोमिल ब्राह्मण ने काष्ठ की मुँहपत्ति अर्थात पटकडी बांधी तो अब हम दण्डीजी से हो

पूछन है कि उसन काष्ठ की मुंहपत्ति बांधी था क्या जैनतर सन्यास धर्म म कहीं काष्ठ की मुंहपत्ति बांधने का उल्लेख है ? नहीं, तो फिर उस ब्राह्मण ने क्यों बांधी ? कोई कारण तो होना चाहिये, वास्तविक दृष्टि स देखा जाय तो यही कारण प्रतीत होता है कि सोमिल ब्राह्मण पहिले जैन धर्मी हो चुके थे, बाद में उसन साधुओं के असंसर्ग से सन्यास धर्म स्वीकार कर लिया। इससे सन्यास धर्म में मुंहपत्ति बांधने का नियम न होते हुए भी उसने काष्ठ की मुंहपत्ति अपने मुंह पर बांधी। हां, वे जैन-धर्म से अवश्य विपरीत थे तभी तो उसने गेरुए वस्त्र धारण किये थे और काष्ठ की मुंहपत्ति बांधी थी। इससे यह सिद्ध होता है कि पहिले जैनधर्मी होने से जैन धर्मानुसार वस्त्र की मुंहपत्ति बांधना त्याग उसने मिथ्यात्व के आवेश में काष्ठ की मुंहपत्ति बांधी और चारित्र भी जैनधर्म के विपरीत पाला।"

प्रिय महोदयो! एक का अनुकरण दूसरा तभी कर सकता है जब कि वह दूसरा को देखे या सुने। चाहे कुछ अंश में वह विपरीत भी हो। परन्तु उसके लिये यह अवश्य कथन प्रचलित होगा कि इसने दूसरों की नकल की है। यही न्याय सोमिल ब्राह्मण के लिये काफी है। पहिले उसने पार्श्वनाथ स्वामी के साधुओं के संसर्ग से वस्त्र की मुंहपत्ति बांधी अर्थात् मुंह पर मुंहपत्ति बांधने का अनुकरण किया पर पीछे से उसके अनुकरण में कुछ अंशों में विरुद्धता आगई तभी उस सोमिल ब्राह्मण ने काष्ठ की मुंहपत्ति बांधी। इसस स्पष्ट सिद्ध है कि पार्श्वनाथ स्वामी के शिष्य भी मुंह पर मुंहपत्ति हमेशा बांधते थे और वर्तमान काल में मुंह पर मुंहपत्ति हमेशा बांधना शास्त्र सम्मत है।

आगे चलकर कर्णागामी पृष्ठ ११ वें में यों लिखते हैं कि—

'सोमिल तापस के काष्ठमुद्रा स मुंह बांधने का दृष्टान्त बतलाकर ढंढिय लोग दयरात मुंहपत्ति बांधने का उद्धरात हैं सो प्रत्यक्ष ही श्री तीर्थंकर भगवान की आज्ञा की विराधना करके मिथ्यात्वी बनते हैं।

दण्डीजी ! यह लिखते हुए आप पर भग भवानी की कृपा तो नहीं हुई ? क्योंकि जो भी लिखने को बैठता है, वह अपना बचाव तो अवश्य ही रखता है। भला ऐसा कौन मूर्ख है जो जिस डालपर बैठता है उसी को काटता है ? मुँहपत्ति हमेशा मुँह पर बाधना या थोडी देर के लिये बांधना दोनो एकसे हैं। श्वे० स्था० जैन साधु हमेशा बाधते हैं और दण्डी लोग व्याख्यान देते समय मुँह पर मुँहपत्ति बांधते रहे हैं तब दोनों ही मुँहपत्ति बाधने वाले हुए। इससे दण्डीजी के कथनानुसार दण्डी लोग भी भगवद् आज्ञा के विराधक और मिथ्यात्वी सिद्ध हुए ?

पाठको ! श्वे० स्था० जैन साधु भगवदाज्ञा के अनुकूल ही हमेशा मुँहपत्ति मुँहपर बाधते हैं। और यह दण्डी लोग भ्रममे पडकर भगवदाज्ञाके अनुकूल हमेशा मुँहपत्ति न बांधकर थोडी देर के लिये बांधते हैं और हमेशा बाधने वालों को मिथ्यात्वी कहते हैं, यह दण्डी लोगो की दुरंगी चाल है।

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ट में अपने मुँह मियां मिट्ठू बन-कर लिखते हैं कि.—

"सोमिल की तरह हमेशा मुँहपत्ति बाधने वाले ढूंढियों की, इस मिथ्यात्वी क्रिया को किसी भी तरह छुडवाकर उन्होंको जिनाज्ञानुसार सम्यक्धर्म में स्थापन करे, आराधक बनावे तो बड़ा लाभ होगा।

दण्डीजी ! सोमिल तो सचित्त कन्द, मूल, फल खाता था और जैनधर्म के विरुद्ध गेरूए कपड़े पहन काष्ठ की मुँहपत्ति बाधता था। जिससे उसकी क्रिया मिथ्यात्व-प्रवर्द्धक हुई। इसको हम भी मानते हैं परन्तु श्वे० स्था० जैनसाधु न तो सचित कन्द, मूल, फल खाते और न रंगीन कपडे ही पहन काष्ठ की मुँहपत्ति बाधते हैं, तब श्वे० स्थानकवासी जैन साधु की क्रिया मिथ्यात्व की क्रिया कैसे हो सक्ती है ? हा, सोमिल

ब्राह्मण की तरह काष्ठ की मुँहपत्ति बांधते तो अवश्य ढूंढकी लोगों का कथन सत्य हो सकता था।

ढूंढकजी! रंगीन कपड़े पहनना यह अवश्य मिथ्यात्व बढ़ानेवाली क्रिया है। क्योंकि जगह २ भगवान ने साधुओं को रंगीन कपड़े पहिनने की मनाई की है। देखो, सूत्र आचारंग के प्रथम श्रुत स्कंध के अष्टमाध्याय के चतुर्थ उद्देश में यथा—

"जे भिक्खू तिहिं वत्थेहिं परिवुसिए पाय चउत्थेहिं तस्स णं नो एवं भवइ चउत्थं वत्थं जाइस्सामि, से अहेसणिज्जाइं, वत्थाइं जाइज्जा अहा परिग्गहियाइं वत्थाइं धारिज्जा नो रंगेज्जा नो धोइज्जा नो धोतरत्ताइं वत्थाइं धारिज्जा अपलि ओवमाणे गामंतरेसु ओमचेलिए एवं खु वत्थ धारिस्स सामग्गियं"

अर्थात्—जिस साधु के पास पात्र और तीन वस्त्र हैं उसको फिर भी यह इच्छा नहीं करना चाहिये कि चौथे वस्त्र की याचना करू। यदि तीन वस्त्र न हों तो निर्दोष वस्त्र गृहस्थ से याचले। जैसा समय पर मिले वैसा धारण करे। परन्तु मालापेत उन तीन वस्त्रों को न तो रंगे और न धोवे, तथा धोये हुए एवम् रंगे हुए नहीं पहने। और एक गांव से दूसरे गांव जाते हुए वस्त्र को गोपे नहीं अल्प वस्त्र रक्खे ऐसा मुनियों का आचार है।

फिर भी सुनिये! आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध का पंचमाध्याय का दूसरा उद्देशा। जिसमें साधुओं को रंगीन कपड़े नहीं पहनने का भगवान ने फरमाया है जरा पढ़िये मूल सूत्र को—

"से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अहेसणिज्जाइं वत्थाइं

जाइज्जा अहा परिग्गहियाइं वत्थाइं धारिज्जा नो धोएज्जा नो रएज्जा नो धोयरत्ताइं वत्थाइं धारिज्जा"

संस्कृतम्

अस्य टीका शीलांगाचार्य कृत

स भिक्षु "यथेषणीयानि" अपरिकर्माणि वस्त्राणि याचेत यथा परिगृहीतानि च धारयेत् न तत्र किञ्चित्कुर्यादिति दर्शयति तद्यथा—न तद्वस्त्रंगृहीतं सत् प्रक्षालयेत् नापि रञ्जयेत् तथा नापि वाकुशिक तथा धौत रक्तानि धारयेत्, तथा भूतानि न गृह्णीयादित्यर्थः।

अर्थात्—साधु साध्वी निर्दोष (लेने योग्य) वस्त्रो की याचना करे, वस्त्र जूने या नये जैसे मिलें वैसे ही काम मे लेवे। वस्त्रो को न धोवे और न रँगे और धोए हुए तथा रँगे हुए वस्त्रों को धारण भी नहीं करे। इसी प्रकार स्थानांग सूत्र की टीका में और प्रवचन सारोद्धार वृत्ति में एवम् कल्पसूत्र की कल्पद्रुम कलिका टीका में जैन साधुओं को पीले कपड़े नहीं पहनने का प्रवल प्रमाण जरा आखें खोलकर देखे।

"शुक्ल प्रमाणोपेत वस्त्रापेक्षया अचेलकत्वम्"

श्री स्थान सूत्र टीका ३ पत्र १६७

अर्थात्—प्रमाणोपेत श्वेत वस्त्रो की अपेक्षा से अचेलकपना अर्थात् वस्त्र रहितपना होता है।

"प्रथम पश्चिम साधूनां तु ऋजुजड़त्वेन वक्रजड़त्वेन च

महा धनादि प्रमाणमनुज्ञानात् श्वेत खण्डिता वीनावेष मानुज्ञानाद् चेलक इति"

श्री प्रवचन सारोद्धार वृत्ति ७८ वाँ द्वार पत्र १८०

अर्थात्—प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के साधु ऋजुजड़, और वक्रजड़ होने से उनके लिये बहुमूल्य वस्त्र रखने की आज्ञा नहीं है। और वे वस्त्र भी श्वेत (सफेद) खण्डित वस्त्रों के धारण करने से ही "अचेलक" कहलाते हैं।

"श्री आदिनाथ-महावीर साधूनामयमाचारः। अचेल कत्वम्—मानोपेतं धवलं वस्त्रं धारयन्ति"

श्री कल्पसूत्र-कल्पद्रुम कलिका टीका पृष्ठ २

अर्थात्—मानोपेत (प्रमाणयुक्त) सफेद वस्त्रों को धारण करना ही श्री आदिनाथ और श्री महावीर स्वामी के साधुओं का आचार है।

दण्डीजी! इतने ठोस प्रमाण होते हुए भी आप और आपके सहयोगी पीले कपड़े पहन रहे हो यह कितनी अज्ञानता है? श्वेत वस्त्र विषयक और भी अनेक प्रमाण हैं पर पुस्तक बढ़जाने के भय से यहां उद्धृत नहीं किये हैं। यदि दण्डी लोगों को इसपर भी सन्तोष न हो तो "पति पीत पटाग्रह मीमांसा" नाम की पुस्तक एक समय अवश्य आद्योपान्त पढ़लें जिससे आपके दिल के सब भ्रम दूर हो जायेंगे।

पाठको! दण्डी लोगों को पहिले इस शब्द से ही लज्जित होना चाहिये कि "श्वेताम्बर" अर्थात् सफेद कपड़े वाले कहलाकर पीले कपड़े पहिनना कितनी अविवेकता का द्योतक है? भला, भगवान् कौनसे सूत्र में पीले कपड़े पहिनने की आज्ञा द गए हैं? अगर भगवान की आज्ञा नहीं है तो फिर पीले कपड़े पहिन दण्डी लोग क्यों विराधक बन रहे हैं?

अत दण्डी लोगो को चाहिये कि वे पीले कपड़ों को त्याग कर सफेद कपड़े ग्रहण कर आराधक बने। तबही दण्डी लोगो का भला होगा।

इसी पृष्ठ में आगे चलकर दण्डीजी अपने ही माननीय "महा-निशीथ सूत्र" के ७ वें अध्याय के मुह पर मुँहपत्ति बांधने के विधायक-अकाट्य प्रमाण को भी निमूल करने को ऐसा लिखते हैं —

"हमेशा मुँहपत्ति बाधने का ठहराते हैं सो भी प्रत्यक्ष झूंठ है।"

दण्डीजी! ऐसा लिखकर आप भोले लोगो को क्यों भ्रम में डाल रहे हो? सत्य बात को भी आप प्रत्यक्ष झूंठ बतला रहे हैं। यह कितना अंधेर है? आपको न्यायका गला घोंटतेभी देर नहीं लगती? जैसे पांडुरोग का रोगी तमाम सफेद वस्तुओ को पीली ही कहता है वैसेही दण्डीजी ने भी अपने घर की वस्तु को निमूल समझ कर उसका प्रतिकूल ही अर्थ लगा लिया। पाठक जरा दण्डीजी के ही माननीय महानिशीथ सूत्र के ७ वे अध्याय का प्रबल प्रमाण देखे।

कन्नेट्टियाए वामुहणंतगेण वा विणा
इरियं पडिक्कमे मिच्छुकडं पुरिमड्ढंच ॥ १ ॥

उपरोक्त प्रमाण का दण्डीजी अनोखा ही अर्थ करने का ढोंग रचते हैं। देखो वे इसका क्या अर्थ करते हैं।

"साधु प्रमादवश मुंहपत्ति को **मुंह के आगे आड़ी डालकर कानों पर रखकर** इरयावही करे तो उसको मिच्छामि दुक्कडं का प्राय-श्चित आता है और **सर्वथा मुंह के आगे रखे बिना इरयावही** करे तो उसको पुरिमड्ढ का प्रायश्चित आता है।"

विद्वजनो! जरा दण्डीजी के किये हुए उपरोक्त अर्थ को तो

देखो ! कैसी पोल खोला है ? मूल में मुँह के "आगे आड़ी डालकर" इस अर्थ का द्योतक कोई शब्द ही नहीं है फिर "आगे आड़ी डालकर" किस मूल शब्द का अर्थ किया है ? यह अर्थ दण्डीजी के सर्वोत्तम पण्डित होने की साक्षी दे रहा है। हां, मूल में "मुहणंतगण" के स्थान पर "मुहस्स अग्गेसं" ऐसा शब्द होता तो दण्डीजी का किया हुआ अर्थ 'मुँह के आगे' सही समझा जाता। फिर 'डालकर' इसका भी मूल में कोई शब्द नहीं है तो फिर "डालकर कहाँ से लाये ?

दण्डीजी ! जरा सोचो, मनमाना अर्थ कौन मान सकता है ? कोई नहीं, अर्थ करना विद्वानों से सीखो और निम्नांक अर्थको सोच निम्नांक प्रमाण से मुँह पर मुँहपत्ति हमेशा बांधे रहो।

> "कण्णट्ठियाए वा मुहणंतगए वा विणा
> इरियं पडिक्कम्म मिच्छुक्कडं पुरिमड्ढं ॥
>
> महानिशीथ सूत्र अध्याय ७

कर्णस्थितया मुखानन्तकेन बिना ईर्या वृत्ति क्रमेत् 'ठगाउस्स' मिथ्या दुष्कृत च पुरिमार्धं 'प्रायश्चित' भवति।

अर्थात्—कान में डाली हुई मुँहपत्ति के बिना और सर्वथा मुँह पर भी मुँह पर बांधे बिना इरियावही क्रिया करने पर साधु को मिच्छामि दुक्कडं का और एक पहरसी का दण्ड आता है।

यदि दण्डीजी यह तर्क करें कि मूल में पहली मुँह पर इस तरह के शब्द क्यों ?

दण्डीजी ! साधु के गोचरी से आये बाद उपाश्रय में गमनागमन का इरियावही करने का नियम है। पर भोजन करने की आतुरता से इरियावही करना भूलकर यह भोजन करने को मुँहपत्ति स्थान से और

बाद में उसे इरयावही क्रिया करने की याद आवे और वह इरियावही करने लगे परन्तु मुँहपत्ति कान में घाले बिना अर्थात् कानों द्वारा बांधे विना हाथ मे रखकर इरयावही करे तो उसे मिच्छामि दुक्कडं का दण्ड आता है। और कहीं प्रमादवश वह साधु सोचले कि चलो अब खोली हुई मुँहपत्ति कौन बाधे, यों ही इरयावही करलें। वह सर्वथा मुहपत्ति अलग रखकर इरयावही करे तो उसे उस प्रमाद के कारण पुरिमार्ध— दोप्रहर भूखो मरने का दण्ड आता है। ये दो तरह के दण्ड दो बातों के लिये हैं। एक के लिये नहीं। बस दण्डीजी! अब आपकी बुद्धि कुछ इस पर विचार करेगी? अफसोस है कि ऐसी स्पष्ट आज्ञा को भी दण्डी लोग न मानकर भगवान के वचनों के विरुद्ध जाने का साहस कर रहे हैं। पाठको! उपरोक्त दण्ड विधान से तो स्पष्ट सिद्ध और न्याय संगत यही बात दीखती है कि साधु हमेशा मुंह पर मुंहपत्ति बाधे।

आगे चलकर दण्डीजी पृष्ट १२ मे लिखते हैं—

"ढूँढिये अर्थ करते हैं इससे तो यही सिद्ध हुआ कि जब साधु गौचरी गया था तब उसके मुँह पर मुँहपत्ति बाधी हुई नहीं थी। यदि पहिले से ही मुहपत्ति बाधी हुई होती तो उपाश्रय मे आये बाद इरयावही करने के लिये कानों मे मुँहपत्ति डालने का कभी नहीं कह सकते।

दण्डीजी! ठीक है, बात मानते हैं कि साधु गौचरी जाकर उपाश्रय में आया और भोजन करने बैठा। उस समय कन्नेट्ठियाए का पाठ है और यह पाठ आप भी अपने लेख में स्वीकार कर रहे हो, जिससे आप मानते हो कि प्रथम ही मुँहपत्ति बँधी होती तो उपाश्रय मे आये बाद मुँहपत्ति बाधने का नहीं कहते। इस पर कुछ सोचो। भोजन तो मुँहपत्ति अलग रखकर ही किया जाता है। भोजन के समय मुँहपत्ति बँधी हो तो भोजन करना नहीं हो सक्ता। जब साधु गौचरी गया और भोजन लेकर उपाश्रय में आया और मुँहपत्ति खोल बिना इरयावही किये

अथात् मार्ग में चलने की वजह स जिन जीवों की विराधना हुई हो उनस बिना माफी माग भोजन करने बैठ गया। फिर उसे इरयावही करन की याद आवे तो कहिये दयाजी ! वह मुँहपत्ति बाँधकर इरयावही करे या यू ही करले। अगर यू ही मुँहपत्ति मुँह आगे रखकर वह इरयावही करेगा और कानों में न बांधेगा तो उसे मिच्छामि दुक्कडं का दण्ड लगेगा। और बिलकुल मुँहपत्ति को वहीं छोड़ कर इरयावही कर लेगा तो श महर की तपस्या का दण्ड लगेगा।

अब कहिये दयाजी ! यह सबूत आपको मुँहपत्ति बांधने में दृढ़ होने की कहता है या नहीं ? मुँहपत्ति बांधने के इतने प्रबल सुदृढ साधक को आप बाधक समझ रहे हो यह त्रिकाल में भी नहीं हो सका।

पाठको ! कितनी कठोर और ठोस आज्ञा है कि मुख वस्त्रिका मुँह पर बाँधे बिना जैन साधु एक पद भी नहीं चल सकता और यदि चले तो कड़ी सजा। आश्चर्य है कि ऐसे स्पष्ट और ऋजु गम्भीर शब्दों को सुनकर भी जो बहिरे बन एक ओर चले जाते हैं और व्यर्थ ही वाद-विवाद बढ़ा धर्म का खून करते हैं क्या यह अच्छे विचारों का सबूत है ? कभी नहीं।

आगे चलकर दयाजी उसी पृष्ठ पर लिखते हैं—

"गौतम स्वामी गोचरी का पोलासपुर म गए थे तब एयवन्ता-कुमार न अंगुली पकड़ी। उस वक्त गौतम स्वामी के मुंह पर मुँहपत्ति बँधी हुई थी, ढूंढियों का ऐसा कहना प्रत्यक्ष झूंठ है।'

दयाजी ! जब एक हाथ की अंगुली पकड़ महलों में लगाए और दूसरे हाथ में झोली थी, रास्ते में खड़े रह कर किसी म धर्म सम्बन्धी बातचीत भी की होगी क्योंकि गौतम स्वामी जब शहर में गए तो यथा नुगामी उन्हें वंदना भी करते होंगे और कुछ श्रावकों न आहारादि लेन

चित्र परिचय के लिये
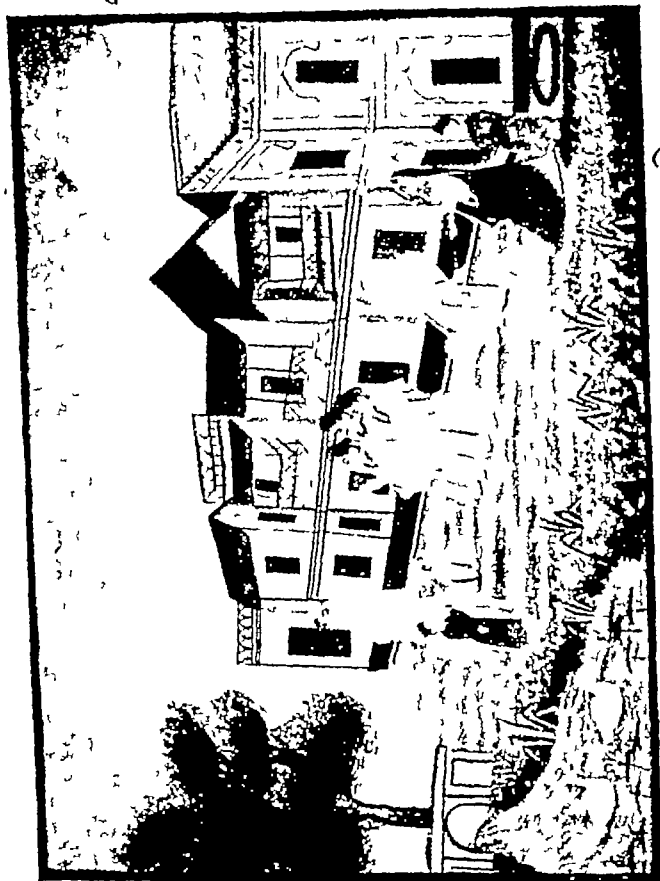
(१) गौतम स्वामी पौलासपुरी नगरी में गौचरी के लिये जा रहे हैं और एवंता कुमार ने गौतम स्वामी के हाथ की अंगुली पकड़ रखी है।

श्री जैनोदय प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम.

की प्रार्थना भी की होगी, उस समय गौतम स्वामी ने उनको कुछ जवाब भी दिया होगा। अब कहिये, यदि गौतम स्वामी के मुँह पर मुँहपत्ति नहीं बँधी हुई होती तो उत्तर खुले मुँह कैसे देते ? जब कि एक हाथ में पात्र था और दूसरा अमवन्ता ने ग्रहण कर रखा था। हां ! यह साधु का मार्ग है कि राह चलते उत्तर न दे, परन्तु खड़े होकर तो दे सक्ते हैं ? इससे यह सिद्ध होता है कि गौतम-स्वामी के मुह पर मुँहपत्ति बँधी हुई थी।

दण्डीजी ! श्वे० स्थानकवासी जैनसाधु कोई भी यह नहीं कहता है कि मार्ग में चलते हुए गौतम स्वामी बोले। व्यर्थ ही झूठ लिखकर तुम अपने सिर पाप का भार क्यों बढ़ाते हो ! हम यह नहीं चाहते कि झूठ लिख लिखकर तुम्हारे जैसा एक पोथा बनावें

दण्डीजी ! यह बात तो तुम भी स्वीकार करते हो कि अगर मार्ग मे चलते हुए कोई जरूरी बातें करना आवश्यक हो तो खड़े रह कर कर सक्ते हैं। तब कहिये दण्डीजी ! गौतम स्वामी खुले मुंह खास जरूरी बातें कैसे कर सक्ते हैं ? इससे स्वयं सिद्ध है कि गौतम स्वामी के मुंह पर अवश्य मुहपत्ति बँधी हुई थी।

यदि दण्डीजी ! तुम कहोगे कि वार्तालाप के साथ हमने यह भी कहा कि "चद्दरादि अन्य वस्त्र से अथवा जिस तरह कई गृहस्थी लोग मुंह के आगे दुपट्टे कन्धे पर से आड़ा डालकर बातें करते हैं, वैसे ही साधु के बायें कन्धे पर जो कम्बली रहती है उसको मुँह के आगे दहिने कन्धे पर डालकर मुँह की यत्ना करके गौतम स्वामी बातें कर सक्ते थे।"

दण्डीजी ! ठीक है, जब तो साधु को मुँहपत्ति रखने की आवश्यकता ही नहीं रहती। क्योकि जब २ बोलने का काम पड़ेगा, तब तब गृहस्थी ज्यों चद्दर, कम्बल आडी देकर बोल सकेंगे। यदि ऐसा ही था तो भगवान ने व्यर्थ ही मुँहपत्ति का उपकरण बढ़ाया। दण्डीजी ! मुँहपत्ति

का त्याग चादर मुँह के आगे देने की कुतर्क लगा भगवद् आज्ञा के विरोधक न बनें और उत्सूत्र प्ररूपणा न करें।

अस्तु, थोड़ी देर के लिये मान लिया जाय कि चादर से मुँह ढका तो उस समय एक हाथ अयवन्ता पकड़े थे, दूसरे में पात्रादि थे, फिर बिना हाथ की सहायता के कम्बली मुँह के आगे कैसे दी ? अगर यह कहोगे कि *अँगुली थोड़ी देर के लिये अयवन्ता से छुड़ा लिया होगा,* तो यह कहना भी तुम्हारा निमूँल है। क्योंकि महलों में जाते हुए थोड़ी देर के लिये अँगुली छुड़ाई ऐसा मूल सूत्र में कहीं नहीं है।

यदि एसा कहोगे कि झोली वाले हाथ से चादर कम्बलादि मुँह आगे दिये थे, क्योंकि झोली में भोजनादि नहीं आये थे तो ऐसा कहना भी निम्नोक्त पाठ से मिथ्या ठहरता है, देखिये मूल पाठः—

"ततेणं भगवं गोयमे पोलासपुरे नयरे उचनीय जाव अडमाणे इंदट्ठाणस्स अदूरसामतेणं वीतिवयति।"

अन्तकृत सूत्र वग ५ अध्याय, १५

अर्थात्—भगवद्गौतम स्वामी पौलासपुर नगर में आहार के लिये "उच्चनीय" धनाढ्यों एवम् गरीबों के घरों में गौचरी करते हुए इन्द्रस्थान (जो न ज्यादा दूर और न अति निकट) जहां अयवन्ता कुमार खेल रहे थे। अब कहिये, दण्डीजी ! जब वे अन्य घरों में गौचरी जाते हुए आरहे थे तो क्या उनके पात्रा में भोजन नहीं आया था ? जिससे उन्होंने झोली वाले हाथ से मुँह के आगे चादर का पल्ला दे दिया ? कभी नहीं, एसी मान्यता दण्डी लोगों की निमूँल है। गौतम स्वामी अन्य घरों में गौचरी करते हुए आरहे थे जिससे उनके पात्र में भोजन अवश्य आया होगा, तब भोजन के पात्र जिस हाथ में थे उससे मुँह आगे चादर का पल्ला कैसे दिया होगा ? इससे सिद्ध है कि गौतमस्वामी के मुँह पर मुँह

पत्ति बँधी हुई थी। जिससे पल्ला, चद्दर आदि मुँह के आगे लगाने की आवश्यकता न थी।

दण्डीजी एक बात पर और ध्यान दें। भगवान की आज्ञा है कि मुँहपत्ति आठ तह वाली हो। चार या छ तह की मुँहपत्ति से यत्ना बराबर नहीं हो सक्ती और ऐसा करना भगवान की आज्ञा के विरुद्ध है। यह तो तुम और हम सबही मानते हैं तब दण्डीजी! मुँह के आगे चद्दर डाल कर कोई कैसे बोल सक्ते हैं? क्योंकि बिना हाथ लगाये चद्दर के आठ पट नहीं हो सक्ते। और गौतम स्वामी के तो दोनो हाथ रुके हुए थे। इसलिये यह निर्विवाद सिद्ध है कि गौतम स्वामी के मुँह पर मुँहपत्ति बँधी थी, जिससे गौतम स्वामी दोनों हाथों के रुके रहने पर भी मार्ग मे खड़े रहकर उत्तर दे सक्ते थे।

दण्डीजी आगे पृष्ठ १३ मे लिखते हैं कि—"ढूंढिये कहते है कि मुँह पर बांधे सो मुँहपत्ति, और हाथ मे रक्खे सो हाथपत्ति। ऐसी २ कुयुक्तिए लगाकर भोले जीवो को भ्रम में डालते हैं। सो भी उत्सूत्र प्ररूपण ही है क्योकि देखो रज को दूर करने के काम में आने वाले को रजोहरण कहते हैं, उसको बगल मे रक्खे तो भी रजोहरण ही कहेंगे परन्तु बगल पुच्छ कभी नही कह सक्ते।"

दण्डीजी! श्वे० स्थानकवासी जैन साधु ऐसा कहते हैं कि मुँह पर बाधे सो मुँहपत्ति और हाथ में रक्खे सो हस्थपत्ति है, यह बिलकुल सही है। क्योंकि काम से नामकरण की प्रथा आज से नहीं, सृष्टि के आदि-काल से चली आरही है। जैसे राजा को राजा इसलिये कहते हैं कि वह प्रजा को रंजन करता है और भूपाल इसलिये कहते हैं कि वह पृथ्वी को पालता है। अँगरखी का काम अङ्ग की रक्षा करना और चोड़लपट्ट नाम इसलिये दिया गया कि वह चोले (शरीर) को ढँकता है। ऐसे ही मुँह पर वस्त्र बाधने से उस वस्त्र को मुहपत्ति कहते हैं।

को त्याग चद्दर मुँह के आगे देने की कुतर्क लगा भगवद् आज्ञा के विरोधक न बनें और उत्सूत्र प्ररूपणा न करें।

अस्तु, थोड़ी देर के लिये मान लिया जाय कि चद्दर से मुँह ढका तो उस समय एक हाथ अयवन्ता पकड़े थे, दूसरे मे पात्रादि थे, फिर बिना हाथ की सहायता के कम्बली मुँह के आगे कैसे दी ? अगर यह कहोगे कि अँगुली थोड़ी देर के लिये अयवन्ता से छुड़ा लिया होगा, तो यह कहना भी तुम्हारा निर्मूल है। क्योंकि महलों में जाते हुए थोड़ी देर के लिये अँगुली छुड़ाई ऐसा मूल सूत्र में कहीं नहीं है।

यदि ऐसा कहोगे कि झोली वाले हाथ से चद्दर कम्बलादि मुँह आगे दिये थे, क्योंकि झोली में भोजनादि नहीं आये थे तो ऐसा कहना भी निम्नोक्त पाठ से मिथ्या ठहरता है, देखिये मूल पाठः—

"ततणं भगव गोयमे पोलासपुरे नयरे उच्चनीय मांव अडमाणे इंदट्ठाणस्स अदूरसामतेणं वीतिवयति।"

अन्तकृत सूत्र का ५ अध्याय, १५

अर्थात्—भगवद्गौतम स्वामी पोलासपुर नगर में आहार के लिये "उच्चनीच" धनाढ्यों एवम् दरिद्रों के घरों में गोचरी करते हुए इन्द्रस्थान (जो न ज्यादा दूर और न अति निकट) जहां अयवन्ता कुमार खेल रहे थे। अब कहिये, दण्डीजी! जब वे अन्य घरों में गोचरी जाते हुए आरहे थे तो क्या उनके पात्रों में भोजन नहीं आया था ? जिससे उन्होंने झोली वाले हाथ से मुँह के आगे चद्दर का पल्ला दे दिया ? कभी नहीं, ऐसी मान्यता दण्डी लोगों की निर्मूल है। गौतम स्वामी अन्य घरों में गौचरी करते हुए आरहे थे जिससे उनके पात्र में भोजन अवश्य आया होगा, तब भाजन के पात्र जिस हाथ में थे उससे मुँह आगे चद्दर का पल्ला कैसे दिया होगा ? इससे सिद्ध है कि गौतमस्वामी के मुँह पर मुँह

लिया जाता है उसी के अनुसार उसका नामकरण भी होता है। यह तो नहीं हो सक्ता कि नाम और और काम कुछ और ही करें। यदि ऐसा नाम रक्खा भी जाता है तो वह ससार का घृणापात्र बनता है। जैसे अंगरखी, मुख्यत अग में पहिनी जाती है, चाहे वह स्नान आदि कार्य के समय अंग से निकाल कर रखदी जाय, तद्यपि उसको अंगरखी ही कहेगे। और जब अगरखी नाम देकर हमेशा सिर पर ही धारण करें तो उसे अंगरखी कौन कहेगा? ऐसेही हमेशा हाथ मे रहने वाली को मुँहपत्ति नहीं कह सक्ते, मुँहपत्ति जब ही कहलायगी जब मुँह पर बाधी जायगी।

इस पर दण्डी लोग कहते है कि रजोहरण को बगल पुंच्छ क्यों न कहा जाय? क्योंकि वह बगल में रहता है। ऐसा कहना दण्डियों का व्यर्थ प्रलाप है। क्योंकि पहले ही कहा जा चुका है कि कार्य की विशेषता एवम् मुख्यता से नामकरण होता है। रजोहरण रज दूर करता है इसी विशेषता से उसे गगधरों ने भी रजोहरण कहा। बगल में रहना रजोहरण का मुख्य काम नहीं, गौण काम है। इसलिये इसका नाम बगलपुच्छ नहीं हो सक्ता। इसी तरह मुँह पर बाधने की मुख्यता और विशेषता के कारण ही मुखवस्त्रिका नाम दिया गया है। पर जब आठों प्रहर मुख्यतः हाथ में रखी जाती है तो सृष्टि के नियम विरुद्ध गौण काम से मुँहपत्ति नाम कैसे दे सक्ते हैं। उसे तो हाथपत्ती ही कहना पड़ेगा।

यदि तुम कहोगे कि "नैगमादि नय की अपेक्षा से जब मुँहपत्ति के लिये वस्त्र याचा जाता है तो उसे भी मुँहपत्ति कहने का उल्लेख है।"

दण्डीजी, यह सही है पर सातवीं नयवाला तो जब ही उसे मुँहपत्ति कहेगा, जब वह मुँहपर बाधी जावेगी। वरना वह तो वस्त्र का टुकड़ा ही कहकर पुकारेगा, क्या यह नय आप नहीं मानते? जैन धर्मी

हां ! इस बात को हम भी स्वीकार करते हैं कि भोजन करने के समय या जल पीने के समय मुंहपत्ति को मुंह से खोलकर अलग रखनेपर भी उसको मुहपत्ति ही कहेंगे, परन्तु जो भोजन, जल, खाने, पीने के सिवाय अन्य समय में भी मुँह पर नहीं बांधते उस वस्त्र को मुहपत्ति कैसे कह सकते हैं ?

दयानीजी इस युक्ति को काटने के लिये दृष्टान्त देते हैं कि "रज को दूर करने वाले को रजोहरण कहते हैं पर बगल में रखने से बगल पुंच्छ नहीं कह सकते।'

दयानीजी ! यही कथन हमारा भी है। जब वह रज को दूर करता है तो उसके काम से उसका नाम रजोहरण हुआ, अगर वह रज दूर न करता तो रजोहरण नाम कैसे होता ? वह बगल में तो तभी रक्खा जाता है जब चलने फिरने का काम पड़ता है। शेष समय तो आवश्यकता पड़ते ही उससे रज निकालने का काम ही लिया जाता है। रात को सोते समय बगल में नहीं रक्खा जाता। दिन में स्वाध्याय आदि करते समय रजोहरण पृथ्वी पर पड़ा रहता है तब कहिये दयानीजी उसे बगल-पुंच्छ कैसे कह सकते हैं ? उसके मुख्य काम रज दूर करने के कारण ही उसका नाम रजोहरण पड़ा। इसी तरह मुहपत्ति का मुख्य काम मुँहपर बांधना है, जिससे जीव रक्षा हो। सिर्फ खान पान के समय को छोड़कर उसके नाम से स्पष्ट झलकता है कि वह मुह पर बांधी जानी चाहिये। यदि इसमें यह भाव होते कि मुँहपत्ति मुख्य हाथ में रहे तो गणधर व आप वाले इस हाथ पत्ति ही कहते क्योंकि मुंह के आगे तो वह सिर्फ बोलने के समय ही आती उसका मुख्य काम हाथ में रहना रहता। हाथ में रहने के कारण मुँहपत्ति नाम शोभा नहीं देता। जैसे अंग रक्षिका अंग में ही पहनते हैं इसी विशेषता के कारण उसका नाम अंग रक्षिका है।

संसार का यह अटल नियम है कि प्रायः जिस वस्तु से जो कार्य

लिया जाता है उसी के अनुसार उसका नामकरण भी होता है। यह तो नहीं हो सक्ता कि नाम और और काम कुछ और ही करे। यदि ऐसा नाम रक्खा भी जाता है तो वह ससार का घृणापात्र बनता है। जैसे अंगरखी, मुख्यत' अग में पहिनो जाती है, चाहे वह स्नान आदि कार्य के समय अग से निकाल कर रखदी जाय, तद्यपि उसको अगरखी ही कहेंगे। और जब अगरखी नाम देकर हमेशा सिर पर ही धारण करें तो उसे अंगरखी कौन कहेगा ? ऐसेही हमेशा हाथ मे रहने वाली को मुँहपत्ति नहीं कह सक्ते, मुँहपत्ति जब ही कहलायगी जब मुँह पर बाधी जायगी।

इस पर दण्डी लोग कहते है कि रजोहरण को वगल पुंच्छ क्यों न कहा जाय ? क्योंकि वह वगल मे रहता है। ऐसा कहना दण्डियों का व्यर्थ प्रलाप है। क्योंकि पहले ही कहा जा चुका है कि कार्य की विशेपता एवम् मुख्यता से नामकरण होता है। रजोहरण रज दूर करता है इसी विशेपता से उसे गणधरों ने भी रजोहरण कहा। वगल मे रहना रजोहरण का मुख्य काम नहीं, गौण काम है। इसलिये इसका नाम बगलपुच्छ नहीं हो सक्ता। इसी तरह मुँह पर वाधने की मुख्यता और विशेपता के कारण ही मुखवस्त्रिका नाम दिया गया है। पर जब आठों प्रहर मुख्यतः हाथ में रखी जाती है तो सृष्टि के नियम विरुद्ध गौण काम से मुँहपत्ति नाम कैसे दे सक्ते हैं। उसे तो हाथपत्ती ही कहना पड़ेगा।

यदि तुम कहोगे कि "नैगमादि नय की अपेक्षा से जब मुँहपत्ति के लिये वस्त्र याचा जाता है तो उसे भी मुँहपत्ति कहने का उल्लेख है।"

दण्डीजी, यह सही है पर सातवीं नयवाला तो जब ही उसे मुँहपत्ति कहेगा, जब वह मुँहपर बाधी जावेगी। वरना वह तो वस्त्र का टुकड़ा ही कहकर पुकारेगा, क्या यह नय आप नहीं मानते ? जैन धर्मी

हां ! इस बात को हम भी स्वीकार करते हैं कि भोजन करने के समय या जल पीने के समय मुंहपत्ति को मुंह से खोलकर अलग रखकर भी उसको मुहपत्ति ही कहेंगे, परन्तु जो भोजन, जल, खाने, पीने के सिवाय अन्य समय में भी मुँह पर नहीं बांधते उस वस्त्र को मुहपत्ति कैसे कह सकते हैं ?

पूज्यजी इस युक्ति का खंडन के लिये दृष्टान्त देते हैं कि 'रज का दूर करने वाले को रजोहरण कहते हैं पर बगल में रखने से बगल पुंछ नहीं कह सकते।

पूज्यजी ! यही कथन हमारा भी है। जब वह रज को दूर करता है तो उसके काम से उसका नाम रजोहरण हुआ, अगर वह रज दूर न करता तो रजोहरण नाम कैसे होता ? वह बगल में तो कभी रक्खा जाता है जब उससे दिरस का काम पड़ता है। शेष समय तो आवश्यकता पड़ते ही उससे रज निकालने का काम ही लिया जाता है। रात को सोते समय बगल में नहीं रक्खा जाता। दिन में स्वाध्याय आदि करते समय रजोहरण पृथ्वी पर पड़ा रहता है तब कहिये पूज्यजी उसे बगल-पुंछा कैसे कह सकते हैं ? उसका मुख्य काम रज दूर करने का कारण ही उसका नाम रजोहरण पड़ा। इसी तरह मुहपत्ति का मुख्य काम मुँहपर बांधना है, जिससे जीव रक्षा हो। सिर्फ खान पान के समय का छोड़कर उसके नाम से स्पष्ट झलकता है कि वह मुंह पर बांधी जानी चाहिये। यदि इसमें यह भाव होता कि मुँहपत्ति मुख्य हाथ में रहे तो गणधर व कोष वाले इसे हाथ पत्ति ही कहते क्योंकि मुह के आगे तो वह सिर्फ बोलने के समय ही आती उसका मुख्य काम हाथ में रहना रहता। हाथ में रहने के कारण मुँहपत्ति नाम शोभा नहीं देता। जैसे अंग रक्षिका, अंग में ही पहनते हैं इसी विशेषता के कारण उसका नाम अंग रक्षिका है।

संसार का यह अटल नियम है कि प्राय जिस वस्तु से जो कार्य

दण्डीजी ! तनिक स्वार्थ के लिये सूत्र की उत्सूत्र प्ररूपणा करते नहीं डरते हो ! जिससे कितने चिकने कर्मों का बंध होता होगा। सिर्फ लोगों को भ्रम में डालने के लिये ऊटपटांग लेख लिख हास्यास्पद के भागी बनते हो इसकी भी कुछ परवाह है ? दण्डीजी ! ध्यान में रजोहरण भी कुछ काम नही देता परन्तु उसका पास रहना इसी प्रकार मुँहपत्ति चाहे ध्यान के समय कुछ उपयोग में न आती हो परन्तु उसका मुंह पर बँधे रहना नितान्त आवश्यक है। भगवान के फरमाये मुताबिक रजोहरण और मुँहपत्ति साधु के चिन्ह होनाही जरूरी है इसके बिना पहचान होगी भी कैसे ?

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ मे लिखते हैं —

"कोई २ ढूढिये ऐसा भी कुतर्क करते हैं कि सूत्रों मे मुँहपत्ति चली है परन्तु बांधने का नही लिखा वैसे ही हाथ में रखना भी नहीं लिखा यह भी कहना ढूंढियों का प्रत्यक्ष झूठ है।"

दण्डीजी ! जो मुँहपर मुँहपत्ति बांध रहे हैं क्या वे ऐसा कह सक्ते हैं कि बांधना नहीं लिखा ? क्या कोई भोजन कर रहा हो वह कह सक्ता है कि मैं भोजन नहीं करता ? फिर मुंह पर मुहपत्ति बांधने वाले स्था० जैन साधु ऐसा कभी नही कहसक्ते कि "शास्त्र मे मुंहपत्ति चली है परन्तु बाधना नहीं लिखा" यह तो दण्डी लोगो की मायावी चाल है और भोले लोगों को बहकाने का साधन है।

आगे चलकर दण्डीजी ने पृष्ठ १४ में भगवती सूत्र और शकेन्द्र का अधिकार बताकर हाथ मे मुंहपत्ति रखने की सिद्धि के लिये फिर भी चेष्टा की है इसका उत्तर हम पहिले लिख चुके हैं। हम उसी विषय पर बार २ पिष्ट पेषण करना और पाठको का व्यर्थ समय लेना ठीक नही समझते।

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ में लिखते है —

"आचारंग सूत्र मे साधु को खासी, उबासी, छींक करते समय

ऐ साथ ही नय मानते हैं एक नय नहीं और जो एक नय मानता है वह मिथ्यात्वी समझा जाता है। अगर दयाधी लोग एक नय से ही काम चला सके हों तो बात ही दूसरी है नहीं तो सिर्फ नैगम नय पकड़ बैठना अज्ञान दशा है।

आगे दयाधीजी उसी पृष्ठ में लिखते हैं कि—

"जब साधु दिन में या रात्रि में मौन धम्मे काउस्सग ध्यान कर अथवा महीना दो महीना वर्ष छः महीना काउस्सग ध्यान में खड़ा रहे उस वक्त बोलने का सर्वथा त्याग होता है तब भी हमेशा मुँहपत्ति बांधी रखने का कूंडिये कहते हैं सो निष्फल क्रिया की प्ररूपणा करते हैं।"

दयाधीजी ! यह लिखना भी आपका सरासर भूल है, क्योंकि जिस प्रकार आप ध्यान के समय मुँहपत्ति को बेकार समझते हो वैसे ही रजोहरण, चोलपट्टा आदि को समझते होंगे क्योंकि वे वस्तुएं भी तो ध्यान के समय काम नहीं आतीं ? अगर ध्यान के समय इन वस्तुओं का पास में रहना आवश्यक है तो मुँहपत्ति का मुँहपर बँधी रहना भी आवश्यक है। क्या दयाधी लोगों में ध्यान के समय चोलपट्टा, रजोहरण आदि रखने का नियम नहीं है ? अगर है, तो मुँहपत्ति भी बांधने का नियम होना चाहिये और वे ऐसा नहीं करते इसलिये स्वयं निष्फल क्रिया के करने वाले हैं।

दयाधीजी ! लिखते समय अपने ही भाइयों से तो पूछ लेते कि वे ध्यान में काम नहीं आने वाली वस्तुओं को पास में रख रहने से क्रिया निष्फल हुई मानते हैं या नहीं ? अगर मुँहपत्ति बांधे रहने से ध्यान की क्रिया निष्फल होती हो तो रजोहरणादि ध्यान के समय काम में न आने वाली वस्तुओं से भी क्रिया निष्फल हुई मानना पड़ेगा। इस प्रकार आपने अपनी क्रिया पर भी पानी फेर दिया।

दण्डीजी ! तनिक स्वार्थ के लिये सूत्र की उत्सूत्र प्ररूपणा करते नहीं डरते हो ! जिससे कितने चिकने कर्मों का बंध होता होगा। सिर्फ लोगों को भ्रम में डालने के लिये ऊटपटांग लेख लिख हास्यास्पद के भागी बनते हो इसकी भी कुछ परवाह है ? दण्डीजी ! ध्यान में रजोहरण भी कुछ काम नहीं देता परन्तु उसका पास रहना इसी प्रकार मुँहपत्ति चाहे ध्यान के समय कुछ उपयोग में न आती हो परन्तु उसका मुंह पर बँधे रहना नितान्त आवश्यक है। भगवान के फरमाये मुताबिक रजोहरण और मुँहपत्ति साधु के चिन्ह होनाही जरूरी है इसके बिना पहचान होगी भी कैसे ?

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ मे लिखते हैं —

"कोई २ ढूंढिये ऐसा भी कुतर्क करते हैं कि सूत्रों मे मुँहपत्ति चली है परन्तु बांधने का नही लिखा वैसे ही हाथ में रखना भी नहीं लिखा यह भी कहना ढूंढियों का प्रत्यक्ष झूठ है।"

दण्डीजी ! जो मुँहपर मुँहपत्ति बांध रहे हैं क्या वे ऐसा कह सक्ते हैं कि बाधना नही लिखा ? क्या कोई भोजन कर रहा हो वह कह सक्ता है कि मैं भोजन नही करता ? फिर मुंह पर मुंहपत्ति बांधने वाले स्था० जैन साधु ऐसा कभी नही कहसक्ते कि "शास्त्र में मुंहपत्ति चली है परन्तु बांधना नहीं लिखा" यह तो दण्डी लोगो की मायावी चाल है और भोले लोगों को बहकाने का साधन है।

आगे चलकर दण्डीजी ने पृष्ठ १४ में भगवती सूत्र और शकेन्द्र का अधिकार बताकर हाथ मे मुंहपत्ति रखने की सिद्धि के लिये फिर भी चेष्टा की है इसका उत्तर हम पहिले लिख चुके हैं। हम उसी विषय पर बार २ पिष्ट पेषण करना और पाठकों का व्यर्थ समय लेना ठीक नही समझते।

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ में लिखते हैं —

"आचारंग सूत्र मे साधु को खासी, उबासी, छींक करते समय

सो सात ही नय मानते हैं एक नय नहीं और जो एक नय मानता है वह मिथ्यात्वी समझा जाता है। अगर ढूंढकी लोग एक नय से ही काम चला सके हों तो बात ही दूसरी है नहीं तो सिर्फ नैगम नय पकड़ बैठना अज्ञान दशा है।

आगे ढूंढकजी उसी पृष्ठ में लिखते हैं कि—

"जब साधु दिन में या रात्रि में मौन धर्म्ने काउस्सग ध्यान करे अथवा महीना दो महीना वय छ: महीना काउस्सग ध्यान में खड़ा रहे उस वक्त बोलने का सर्वथा त्याग होता है तब भी हमेशा मुँहपत्ति बांधी रखने का ढूंढिये कहते हैं सो निष्फल क्रिया की प्ररूपणा करते हैं।"

ढूंढकजी! यह लिखना भी आपका सरासर भूल है, क्योंकि जिस प्रकार आप ध्यान के समय मुँहपत्ति को बेकार समझते हो वैसे ही रजोहरण चोलपट्टा आदि को समझते होंगे क्योंकि वे वस्तुए भी तो ध्यान के समय काम नहीं आती? अगर ध्यान के समय इन वस्तुओं का पास में रहना आवश्यक है तो मुँहपत्ति का मुँहपर बँधी रहना भी अत्यावश्यक है। क्या ढूंढकी लोगों में ध्यान के समय चोलपट्टा, रजोहरण आदि रखने का नियम नहीं है? अगर है, तो मुँहपत्ति भी बांधने का नियम होना चाहिये और वे ऐसा नहीं करते इसलिये स्वयं निष्फल क्रिया के करने वाले हैं।

ढूंढकजी! लिखते समय अपने हो माइया से तो पूछ लेते कि वे ध्यान में काम नहीं आने वाली वस्तुओं को पास में रखे रहने से क्रिया निष्फल हुई मानते हैं या नहीं? अगर मुँहपत्ति बांधे रहने से ध्यान की क्रिया निष्फल होती हो तो रजोहरणादि ध्यान के समय काम में न आने वाली वस्तुओं से भी क्रिया निष्फल हुई मानना पड़ेगा। इस प्रकार आपने अपनी क्रिया पर भी पानी फेर दिया।

दण्डीजी ! तनिक स्वार्थ के लिये सूत्र की उत्सूत्र प्ररूपणा करते नहीं डरते हो ! जिससे कितने चिकने कर्मों का वंध होता होगा। सिर्फ लोगों को भ्रम में डालने के लिये ऊटपटांग लेख लिख हास्यास्पद के भागी वनते हो इसकी भी कुछ परवाह है ? दण्डीजी ! ध्यान में रजोहरण भी कुछ काम नही देता परन्तु उसका पास रहना इसी प्रकार मुँहपत्ति चाहे ध्यान के समय कुछ उपयोग में न आती हो परन्तु उसका मुंह पर बँधे रहना नितान्त आवश्यक है। भगवान के फरमाये मुताविक रजोहरण और मुँहपत्ति साधु के चिन्ह होनाही जरूरी है इसके विना पहचान होगी भी कैसे ?

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ मे लिखते हैं —

"कोई २ ढूढिये ऐसा भी कुतर्क करते हैं कि सूत्रों मे मुँहपत्ति चली है परन्तु वांधने का नहीं लिखा वैसे ही हाथ में रखना भी नहीं लिखा यह भी कहना ढूढियों का प्रत्यक्ष झूठ है।"

दण्डीजी ! जो मुँहपर मुँहपत्ति बांध रहे हैं क्या वे ऐसा कह सक्ते हैं कि वांधना नहीं लिखा ? क्या कोई भोजन कर रहा हो वह कह सक्ता है कि मैं भोजन नही करता ? फिर मुंह पर मुंहपत्ति वांधने वाले स्था० जैन साधु ऐसा कभी नही कहसक्ते कि "शास्त्र मे मुंहपत्ति चली है परन्तु वाधना नही लिखा" यह तो दण्डी लोगों की मायावी चाल है और भोले लोगो को वहकाने का साधन है।

आगे चलकर दण्डीजी ने पृष्ठ १४ में भगवती सूत्र और शकेन्द्र का अधिकार वताकर हाथ में मुंहपत्ति रखने की सिद्धि के लिये फिर भी चेष्टा की है इसका उत्तर हम पहिले लिख चुके हैं। हम उसी विपय पर वार २ पिष्ट पेषण करना और पाठको का व्यर्थ समय लेना ठीक नही समझते।

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ में लिखते हैं —

"आचारंग सूत्र मे साधु को खासी, उवासी, छींक करते समय

ने सात ही नय मानते हैं एक नय नहीं और जो एक नय मानता है वह मिथ्यात्वी समझा जाता है। अगर ढूंढी लोग एक नय से ही काम चला सके हों तो बात ही दूसरी है नहीं तो सिर्फ नैगम नय पकड़ बैठना अज्ञान दशा है।

आगे ढूंढीजी उसी पृष्ठ में लिखते हैं कि—

"जब साधु दिन में या रात्रि में मौन पन्ने काउस्सग ध्यान कर अथवा महीना दो महीना चार छ: महीना काउस्सग ध्यान में खड़ा रहे उस वक्त बोलने का सर्वथा त्याग होता है तब भी हमेशा मुँहपत्ति बांधी रखने का ढूंढिये कहते हैं सो निष्फल क्रिया की प्ररूपणा करते हैं।"

ढूंढीजी! यह लिखना भी आपका सरासर भूल है, क्योंकि जिस प्रकार आप ध्यान के समय मुँहपत्ति को बेकार समझते हो वैसे ही रजोहरण चोलपट्टा आदि को समझते होंगे क्योंकि वे वस्तुएं भी तो ध्यान के समय काम नहीं आतीं? अगर ध्यान के समय इन वस्तुओं का पास में रहना आवश्यक है तो मुँहपत्ति का मुँहपर बँधी रहना भी आवश्यक है। क्या ढूंढी लोगों में ध्यान के समय चोलपट्टा रजोहरण आदि रखने का नियम नहीं है? अगर है, तो मुँहपत्ति भी बांधने का नियम होना चाहिये और वे ऐसा नहीं करते इसलिये स्वयं निष्फल क्रिया के करने वाले हैं।

ढूंढीजी! लिखते समय आपने हो माइया से या पूछ लेते कि वे ध्यान में काम नहीं आने वाली वस्तुओं को पास में रख रहने से क्रिया निष्फल हुई मानते हैं या नहीं? अगर मुँहपत्ति बांधे रहने से ध्यान की क्रिया निष्फल होती हो तो रजोहरणादि ध्यान के समय काम में न आने वाली वस्तुओं से भी क्रिया निष्फल हुई मानना पड़ेगा। इस प्रकार आपने क्रिया पर भी पानी फेर दिया।

तो क्या जिस प्रकार मुँह खुला मानते हो वैसा गुदा द्वार भी खुला मानोगे ? तो फिर दण्डी जी पीत वस्त्र धारियों को हमेशा नग्न ही रहना चाहिये । क्यो कि तुम्हारी मान्यतानुसार खुले मुँह होने से आड़ा हाथ लगाने को कहा तो "वायणिसग्गेण" के समय चोलपट्टा (अधोपट) भी न पहने होने के कारण आड़ा हाथ लगाने को कहा होगा ।

दण्डीजी ! गुरु गम्यता से प्रथम सूत्र पढ़कर बाद अर्थ करने बैठे । मन-गढ़न्त विचारों को विद्वानों के समक्ष प्रकट करना दण्डी लोगों की बड़ी अज्ञानता है । दण्डीजी ! उपरोक्त सूत्र से साफ प्रकट है कि जिस प्रकार चोलपट्टा होने पर भी गुदा द्वार से वायु निकलने पर आड़ा हाथ दिया जाता है वैसे ही मुँहपत्ति बँधी रहने पर भी यत्ना के लिये आड़ा हाथ मुँह के आगे लगाना सूत्रकार ने फरमाया है ।

सिर्फ प्रश्न यह रहा कि आडा हाथ क्यो लगाया जाता है ? उत्तर स्पष्ट है कि जब उबासी, छींक, खासी आदि चलती है तब मुख कोप इतना बड़ा हो जाता है कि मुँहपत्ति से बराबर यत्ना नहीं हो सक्ती, इसीलिये सूत्रकार ने छींक, खांसी, उबासी आदि करते समय पूर्ण यत्ना करने वास्ते मुँहपत्ति के बँधे रहने पर भी मुँह पर आडा हाथ देने का फरमाया । इसी प्रकार गुदा द्वार पर चोलपट्टा होते भी जब वायु निकलती है तब इतने जोर से निकलती है कि केवल चोलपट्टा उस वायु से वायुकाय के जीवों की रक्षा नहीं कर सक्ता । भगवान सूत्रकार इसीलिये आड़ा हाथ लगाने को फरमा गए हैं ।

[illegible] जी कहेंगे कि नाक किस द्वारा ढाके ? दण्डीजी ! यह [illegible] हाथों से क्या मुँह और नाक नहीं ढँक सक्ता है ? [illegible] के समय दोनो हाथों से अच्छी तरह मुँह और [illegible] कर सक्ते हैं ।

क्या है ? उन्हे यह भी भान नही रहता कि यह लेख हमारे ही लिये पैनी कटार का काम कर रहा है। भला ! हमेशा मुंहपत्ति बाधने से कहीं अधूरी क्रिया हो सक्ती है ? नही, अधूरी क्रिया तो यह है कि "मुंहपत्ति न बाधकर खुले मुंह बोलते रहना।" और ऐसा दण्डी लोग अक्सर किया करते हैं। हमें स्वय अनुभव है कि दण्डी लोग मुह पर मुंहपत्ति न बाधकर खुले मुह बातें करने लग जाते है, और जो उनसे परिचित हैं वे भी जानते ही होंगे कि पीत वस्त्रधारी दण्डी खुले मुंह बोलते प्रभु आज्ञा का विचार नहीं रखते। देखो, सं० १८७९ के साल मे इन्दोर शहर के पीलिये खाल की सड़क पर दण्डी मणिसागरजी के गुरुभाई [मगलसागर जी से पूछा गया था कि तुम्हारी मुँहपत्ति कहां है ? तो चट उन्होंने कमर से निकाल कर दिखादी। हमें बड़ी हँसी आई और हमने कहा कि क्या बाधना छोड़ने के साथ २ हाथ मे रखना त्याग कमर मे लटका रखने का कोई नया सिद्धान्त निकाला है ? उसी समय ज्ञानसागरजी से पूछा कि आपकी मुँहपत्ति कहां है तो आपने फरमाया कि जहा हम ठहरे हैं वहीं वह पड़ी है। ऐसे एक नहीं अनेको ज्वलन्त उदाहरण दण्डी लोगों के खुले मुँह बोलने के प्रस्तुत हैं, फिर कहिये अधूरी क्रिया वाले दण्डी रहे या श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन साधु ? इससे स्पष्ट है कि जो मुँहपत्ति कमर मे, उपाश्रय मे एवम् हाथ मे रखते है उन्हीं की अधूरी क्रिया है और वे इसके दोषी हैं।

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ मे तथा पन्द्रहवे पृष्ठ मे लिखते है.—

"छींकादि करते समय या दुर्गन्धी की जगह नाक मुह दोनो की यत्ना हो सक्ती है। और मुँह पर से सचित रज वगैरह की प्रमार्जना भी हो सकी है, अगर बाधी हुई होवे तो यह सब कार्य नहीं बन सक्ते।

दण्डीजी ! मुँहपत्ति न बाधकर उससे अन्य कार्य लेने की उद्घोषणा' कौन से सूत्र के न्याय से की ? जब तो यह भी मानना पडेगा कि दण्डी

लोग जो वस्त्रा आकर्ष्य पर्यन्त रखते हैं उससे शरीर के अवलम्बन के साथ २ मार मूट का काम भी ले लेते होंगे। दयडीजी! मुँहपत्ति तो मुंह पर ही बांधी जाती है। अगर नाक आदि ढकने का कार्य करना हो तो चद्दर आदि से कर सकते हैं। अगर मुँह पर सचित्त रज आदि हो तो उसको (गुच्छगं) छोटी सी प्रमार्जिनी रहती है उससे निकाल सकते हैं। अगर मुँहपत्ति से रज दूर करने का कार्य ले लोगे तो छोटी प्रमार्जिनी रखने की साधु को क्या आवश्यकता थी? भगवान स्वयं फरमाते हैं कि छोटी प्रमार्जिनी अलग नहीं रखी जाय। अतएव सिद्ध है कि मुँहपत्ति मुंह पर ही बांधी जानी चाहिये और जो ऐसा नहीं करते हैं वे अधूरी क्रिया के कर्त्ता हैं।

आगे चलकर दयडीजी उसी पृष्ठ में प्रवचन सारोद्धार ओघ नियुक्ति, यति दिनचर्या, योग शास्त्र आदि प्राचीन ग्रन्थों में और साधु विधि प्रकाश में मुँह पर मुँहपत्ति बांधने का स्पष्ट आशय होते हुए भी कदाग्रह के लिये मूल में न रहते हुए भी नवीन संस्कृत टीका बनाकर प्रमाण में रखते हैं तो बुद्धिमान उस मन-गढ़न्त नवीन संस्कृत टीका को प्रमाणित कैसे मान सकते हैं? जब मूल में हाथ में रखने का पाठ ही नहीं है तो संस्कृत टीका में हाथ में रखने का अर्थ कैसे आजायगा? क्या पिता के अभाव में पुत्र की उत्पत्ति हो सकती है? नहीं ऐसे ही मूल के बिना संस्कृत बना देना भवसागर में गोते लगाने सा है। बुद्धिमान भव भ्रमण से डर ऐसा कदापि नहीं कर सकते। दयडीजी को भव भ्रमण का कुछ भय नहीं होगा तभी ऐसी मन गढ़न्त संस्कृत टीका बनाकर प्रमाणाभाव में रखदी। देखो आप लिखते हैं—

मायमार्यैर्मुखे मुख वस्त्रिका दीयते तथा मुख वस्त्रिका कर्तान्यस्ता मुखोग्र धृता"

इत्यादि। "इस प्रकार मुँहपत्ति हाथ में रखना तथा बोलते समय आगे रखकर बोलना।"

दण्डीजी ! इस प्रकार लिखकर तो बड़ी अज्ञानता की है। क्योंकि जब दण्डीजी के कथनानुसार प्राचीन ग्रन्थों में लिखा होता तो मुँहपत्ति मुँह पर बांधने वाले साधु उन ग्रन्थों का प्रमाण कभी नहीं रखते। भला, ऐसा कौन है कि जो अपना विरोधी प्रमाणित होते हुए उसीको प्रमाणरूप समझकर सिद्धि चाहता हो।। जल मे से मक्खन नहीं निकल सक्ता। मक्खन निकलेगा तो दूध मे ही। इसी प्रकार उन ग्रन्थों मे मुंहपत्ति मुंह पर बाधने का प्रमाण है तभी तो वे प्रमाण देते हैं ? यदि वे प्रमाण सिद्ध नहीं होते तो हम उन ग्रन्थों व प्रमाणों के नाम तक नहीं लेते।

दण्डीजी ! क्या यह प्रमाण प्रमाण नहीं है ? क्या इससे मुंहपत्ति मुँह पर बाधना सिद्ध नहीं होता ? जरा आखें खोलकर देखो तो 'देवसूरि' प्रणीत समाचारी ग्रन्थ मे क्या लिखा है ?

"मुख वस्त्रिका प्रतिलेख्य मुखे बध्वा"

प्रिय पाठको ! मुँह पर मुँहपत्ति बाधने के प्रमाण में अब कौनसी त्रुटि रह गई ? देवसूरिजी ने समाचारी मे स्पष्ट लिख दिया है कि— (मुख वस्त्रिका) मुख वस्त्रिका को (प्रतिलेख्य) देखकर (मुखे) मुँह पर (बध्वा) बाधकर।

दण्डीजी ! सच बात कभी छिप नहीं सक्ती। चाहे सच्ची बात उसके विरोध में क्यों न आती हो परन्तु सच बात का उल्लेख हो ही जाता है। इसी प्रकार दण्डी लोग मुँहपत्ति बाधने के कट्टर विरोधी होने पर भी उनके मुँह से भी सच बात निकल जाती है। दण्डी जी उस सच बात को छिपाने के लिये नवीन संस्कृत टीका बनाकर उन प्रमाणों पर लीपा पोती करना चाहते हैं तो क्या सच बात छिप सक्ती है ? कभी नहीं, केवल झूठा प्रपच रचकर भोले लोगो को भ्रम में डालने का जो आपने प्रयत्न किया है वह शास्त्र प्रतिकूल है। भोले लोग इन दण्डियों

लोग भी यथा आवश्यकता पर्यन्त रखते हैं उससे शरीर के अवलम्बन के साथ २ भार कूट का काम भी ले लेते होंगे। दयाडीजी! मुँहपत्ति तो मुह पर ही बाँधी जाती है। अगर नाक आदि ढकने का कार्य करना हो तो चद्दर आदि से कर सकते हैं। अगर मुँह पर सचित रज आदि हो तो उसको (गुच्छग) छोटी सी प्रमार्जिनी रहता है उससे निकाल सकते हैं। अगर मुँहपत्ति से रज दूर करने का कार्य ले लोग तो छोटी प्रमार्जिनी रखने की साधु को क्या आवश्यकता थी? भगवान स्वयं फरमाते है कि छोटी प्रमार्जिनी अलग नहीं रक्खी जाय। अतएव सिद्ध है कि मुँहपत्ति मुह पर ही बांधी जानी चाहिये और जो ऐसा नहीं करते हैं वे अधूरी क्रिया के कर्ता हैं।

आगे चलकर दयाडीजी उसी पृष्ठ में प्रवचन सारोद्धार, ओघ निर्युक्ति, यति दिनचर्या, योग शास्त्र आदि प्राचीन ग्रन्थों में और साधु विधि प्रकाश में मुँह पर मुँहपत्ति बांधने का स्पष्ट आशय होते हुए भी खण्डन के लिये मूल में न रहते हुए भी नवीन संस्कृत टीका बनाकर प्रमाण में रखते हैं तो बुद्धिमान उस मन-गढ़न्त नवीन संस्कृत टीका को प्रमाणित कैसे मान सकते हैं? जब मूल में हाथ में रखने का पाठ ही नहीं है तो संस्कृत टीका में हाथ में रखने का अर्थ कैसे आजायगा? क्या पिता के अभाव में पुत्र की उत्पत्ति हो सकती है? नहीं, ऐसे ही मूल के बिना संस्कृत बना देना भवसागर में गोते लगाने सा है। बुद्धिमान भव भ्रमण से डर ऐसा कदापि नहीं कर सकते। दयाडीजी को भव भ्रमण का कुछ भय नहीं होगा तभी ऐसी मन गढ़न्त संस्कृत टीका बनाकर प्रमाणाभाव में रखदी। देखो आप लिखते हैं—

"भाषमाणैर्मुखे मुख वस्त्रिका दीयते तथा मुख वस्त्रिका कर्णाभ्यां मुखोपि धृता"

इत्यादि। "इस प्रकार मुँहपत्ति हाथ में रखना तथा बोलते समय मुँह आगे रखकर बोलना।"

कपोल कल्पना से थूक में असख्य मनुष्य उत्पन्न होना बतलाते है यह उनकी गहरी गलती हैं ।

विचारशील पाठको ! जब दण्डीजी थूक में समय समय पर असख्य मनुष्यो की उत्पत्ति वताते हैं तो फिर व्याख्यान देते समय ये मुँह पर मुँहपत्ति क्यों वाधते हैं ? और पूजा करते समय भी कई घण्टे कपड़ा लपेटे रहते हैं और कुछ पुजेरे वोलते भी जाते हैं। तब दण्डीजी की मान्यता के अनुसार दण्डी लोग और पुजेरे सबही हिंसक ठहर जा-यॅगे। यदि पीत वस्त्रधारी यह कहेंगे कि जो हम व्याख्यान के समय एवम् पूजा के समय मुह पर वाधते हैं तो नाक पर भी वाध लेते है इस-लिये होटों से दूर रहने के कारण उस वस्त्र के थूक नहीं लगता। यह भी उन दण्डियो का कहना मिथ्या है। क्योकि व्याख्यान एवम पूजा के समय मुँह सहित नाक पर वस्त्र वाधने से भी थूक के जर्रे उडे विना नहीं रह सक्ते। सिवाय यह भी आम वात सिद्ध है कि कभी २ थूक के बिन्दु एक एक हाथ दूर पर भी उड जाते हैं। तो फिर मुँह सहित नाक पर वस्त्र वाध लेने से क्या उस वस्त्र पर थूक के कण न ी लगेंगे ? थूक लगेगा तो दण्डियों के कथनानुसार तो व्याख्यान व पूजा के समय थूक मे समय २ पर असख्य समूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होगे और मरेंगे। इसलिये दण्डी लोग थूक मे जीवों की उत्पत्ति वताने के कारण असंख्य समूर्च्छिम मनुष्यो के घातक ठहर जायँगे।

विचारशील सज्जनो ! दण्डी लोग कैसे हठाग्रही हैं कि वे स्वय मुँहपर मुँहपत्ति वाधते हैं और हमेशा वाधने वाले पर दोषारोपण करते हैं। अगर थूक मे जीवोत्पत्ति होती तो तुम व तुम्हारे अनुयायी पूजा व व्याख्यान के समय मुँह पर मुहपत्ति या वस्त्र क्यो वाधते ? इधर उधर ढूढते कुछ न मिला तो यह ही एक गप्प लिख मारी। लेख लिखते समय अपने घर की तलाश तो करलेनी थी ! परन्तु दण्डी मणिसागरजी लिखते

की 'मुख वस्त्रिका कराभ्यां मुखाग्रे धृत्वा'' नवीन संस्कृत टीका में न फँसकर मूल पाठ देखें।

आगे चलकर दयडीजी इसी पृष्ठ में लिखते हैं—

"हमेशा मुँहपत्ती बाँधी रखने से बोलते समय मुँहपत्ति के थूक लगता है, मुँहपत्ती गीली होती है, उसमें समय २ असंख्य पंचेन्द्रिय समूर्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं और मरते हैं। यह पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा का दोष हमेशा मुँहपत्ति बाँधने वाले ढूँढियों को लगता है।"

दयडीजी ! इस प्रकार लिखकर तो तुमने बड़ी ही मूर्खता प्रकट की है क्योंकि थूक में असंख्य समूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं ऐसा विधायक प्रमाण किसी भी सूत्र में नहीं आया है। हाँ, पन्नवणाजी सूत्र में समूर्च्छिम उत्पन्न होने के १४ स्थान बतलाए हैं। अतः उस पाठ को देखिये—

"उच्चारेसु वा पासवणेसु वा खेलेसु वा सिंघाणएसु वा वंतेसु वा पित्तेसु वा पूएसु वा सोणिएसु वा सुक्केसु वा सुक्कपुग्गल परिसाडेसु वा विगए जीव कलेवरेसु वा थीपुरिस संजोएसु वा, *णगर निद्धमणेसु वा सव्वेसु चेव असुइट्ठाणेसु वा एत्थणं* सम्मुच्छिम मणुस्सा संमुच्छंति अंगुलस्स असंखेज्जइभागमेत्ताए ओगाहणाए असण्णी मिच्छ दिट्ठी अन्नाणी सव्वाहिं पज्जत्तीहिं अपज्जत्तगा अंतोमुहुत्ताउया चेव कालं करेंति।"

अर्थात्—विष्ठा पेशाब श्लेष्म, नाक का मैल, वमन, पित्त, पीप, खून, वीर्य, वीर्य सूखने पर फिर गीला होना, मृत जीव, मुर्दा, मैथुन नगर और उपरोक्त एक दूसरे में संमिश्रण होने पर इनमें असंख्य जीवोत्पत्ति होती ... थूक का पन्द्रहवाँ स्थान नहीं बतलाया है। तो भी पाठ-चन्द्र गणी

"जाव सव्वेसु असुइ ठाणेसु" कह देते, परन्तु ऐसा नहीं कहा। इससे सिद्ध है कि पन्द्रहवां स्थान थूक का जीवों की उत्पत्ति का नहीं है।

अगर थूक में जीवों की उत्पत्ति होती तो सूत्रकार खेलेसु वा पीत्तेसुवा वंतेसुवा के साथ २ थूक का भी नाम ले लेते। इस पर दण्डीजी कहते हैं कि "सव्वेसु असुइठाणेसु" में थूक सम्मिलित है। परन्तु ऐसा मानना दण्डियों की अज्ञानता है। क्योंकि जब थूक "सव्वेसु असुइ ठाणेसु" में शामिल हो सक्ता है तो सूत्रकार को "खेलेसुवा, वंतेसुवा" आदि पृथक कहने की क्या आवश्यक्ता थी? सब अशुचि स्थान में तो श्लेश्म, वमन, पित्त आदि सभी शामिल हो सक्ते हैं क्योंकि ये सब अशुचि के घर एवम् अपवित्र है।

प्रिय महानुभावो! जब सूत्रकार ने सूत्र में श्लेष्म, वमन, पित्त को पृथक २ समझ उल्लेख किया है तो वे थूक में जीवोत्पत्ति समझ उसे भी उनके साथ नहीं कह देते? परन्तु थूक में जीवोत्पत्ति नहीं होती है। इसी लिये सूत्रकार ने श्लेष्मादि के साथ थूक का नाम नहीं लिया है। श्लेष्म के समान थूक में जीवोत्पत्ति मानना दण्डी लोगों की गहरी अज्ञानता है।

यदि दण्डीजी यह कहेंगे कि सब असुचि स्थान में किसे गिनोगे?

दण्डीजी आपका यह प्रश्न ठीक है, इसका उत्तर भी लीजिये। सब अशुचि स्थान में वे ही स्थान आते हैं जो जीवोत्पत्ति के शास्त्रकारों ने फरमाये हैं। उनमें एक दूसरे के मिश्रण से भी जीवोत्पत्ति होती है, जैसे खून और पित्त। ये पृथक रहेंगे तो भी जीवोत्पत्ति के स्थान हैं और खून और पित्त मिश्रित हो जायँगे तो भी जीवोत्पत्ति में अन्तर न पड़ेगा।

इस प्रकार "सव्वेसु असुइ ठाणेसु" १४ स्थान के लिये ही समझिये किन्तु "सव्वेसु असुइ ठाणेसु" का यह अर्थ नहीं होता कि इन १४ स्थानो

समय भंग की तरंग में लहरें लेने लगे होंगे कि जिससे व अपना बचाव भी न कर सके। अस्तु, पाठक सत्य बात और झूठ बात का निष्कर्ष निकाल लें।

यदि दयाजी कहें कि पूजा के समय पुजेरे नहीं बोलते हैं तो यह कहना भी उनका मृषा है। अगर मानलें कि पुजेरे पूजा के समय नहीं बोलते हैं तो क्या खांस, श्वास और छींक के समय थूक के कण मुँह पर बँधे हुए वस्त्र को नहीं लगेंगे ? गृहस्थ भी छींकते समय मुँह के आगे आड़ा हाथ दे देते हैं या मुँह फेर लेते हैं कि जिससे थूक के छींटे औरों पर न गिरें। इस प्रकार पूजा के समय थूक के छींटे मुँह पर बँधे हुए वस्त्र पर अवश्य लगेंगे और दयजियों की मान्यतानुसार थूक में असंख्य समूर्छिम मनुष्य उत्पन्न होंगे और मरेंगे।

थूक में असंख्य जीवों की उत्पत्ति मानना ही शास्त्र प्रमाण के प्रतिकूल है परन्तु फिर भी उनकी यह मान्यता उन्हीं को बाधा देती है। अतएव थूक अमी में जीवोत्पत्ति मानना भूल है।

आगे चलकर उसी पृष्ठ में दयाजी लिखते हैं—

"जीवों की उत्पत्ति के १४ स्थान बतलाये हैं उसमें थूक का १५ वां स्थान नहीं बतलाया, इसलिये थूक में जीवों की उत्पत्ति नहीं होती यह भी ढूंढियों का कहना सर्वथा सूत्र विरुद्ध है। क्योंकि उक्त १४ स्थानों में मुख के मैल में तथा सर्व अशुचि पदार्थों में जीवों की उत्पत्ति होना बतलाया है सो थूक मुख का मैल है और अशुचि पदार्थ भी है।"

दयाजी! समूर्छिम जीवों की उत्पत्ति के १४ स्थान ही सूत्र में शास्त्रकारों ने लिखे हैं। न्यूनाधिक नहीं यदि १४ से अधिक होते तो सूत्रकार १४ के साथ और भी ज्यादा कहते। या एक दो स्थान बतलाकर

"जाव सव्वेसु असुइ ठाणेसु" कह देते, परन्तु ऐसा नहीं कहा। इससे सिद्ध है कि पन्द्रहवां स्थान थूक का जीवों की उत्पत्ति का नहीं है।

अगर थूक में जीवों की उत्पत्ति होती तो सूत्रकार खेलेसु वा पीत्तेसुवा वंतेसुवा के साथ २ थूक का भी नाम ले लेवे। इस पर दण्डीजी कहते हैं कि "सव्वेसु असुइठाणेसु" में थूक सम्मिलित है। परन्तु ऐसा मानना दण्डियों की अज्ञानता है। क्योंकि जब थूक "सव्वेसु असुइ ठाणेसु" में शामिल हो सक्ता है तो सूत्रकार को "खेलेसुवा, वंतेसुवा" आदि पृथक कहने की क्या आवश्यक्ता थी? सब अशुचि स्थान में तो श्लेश्म, वमन, पित्त आदि सभी शामिल हो सक्ते हैं क्योंकि ये सब अशुचि के घर एवम् अपवित्र हैं।

प्रिय महानुभावो! जब सूत्रकार ने सूत्र में श्लेष्म, वमन, पित्त को पृथक २ समझ उल्लेख किया है तो वे थूक में जीवोत्पत्ति समझ उसे भी उनके साथ नहीं कह देते? परन्तु थूक में जीवोत्पत्ति नही होती हैं। इसी लिये सूत्रकार ने श्लेष्मादि के साथ थूक का नाम नहीं लिया है। श्लेष्म के समान थूक में जीवोत्पत्ति माननी दण्डी लोगों की गहरी अज्ञानता है।

यदि दण्डीजी यह कहेंगे कि सब असुचि स्थान में किसे गिनोगे?

दण्डीजी आपका यह प्रश्न ठीक है, इसका उत्तर भी लीजिये। सब अशुचि स्थान में वे ही स्थान आते हैं जो जीवोत्पत्ति के शास्त्रकारों ने फरमाये हैं। उनमें एक दूसरे के मिश्रण से भी जीवोत्पत्ति होती है; जैसे खून और पित्त। ये पृथक रहेंगे तो भी जीवोत्पत्ति के स्थान हैं और खून और पित्त मिश्रित हो जायँगे तो भी जीवोत्पत्ति में अन्तर न पडेगा।

इस प्रकार "सव्वेसु असुइ ठाणेसु" १४ स्थान के लिये ही समझिये किन्तु "सव्वेसु असुइ ठाणेसु" का यह अर्थ नहीं होता कि इन १४ स्थानो

के अतिरिक्त और भी अन्य स्थानों में सम्मूर्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं। तथा पन्नवणाजी के ३ रे पद में इस प्रकार उल्लेख है कि—

"एएसिणं भंत । सइंदियाणं एगिंदियाणं बइंदियाणं तेइंदियाणं, चउरिंदियाणं पंचिंदियाणं अणिंदियाणं कयरे २ हिंतो अप्पा वा बहुआवा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा सव्वत्थोवा पंचिंदिया, चउरिंदिया, विसेसाहिया, तेइंदिया विसेसाहिया, बेइंदिया विसेसाहिया, अणिंदिया अणंत गुणा, एगिंदिया अणंत गुणा, सइंदिया विसेसाहिया।"

अर्थात्—गौतम स्वामी ने भगवान से प्रश्न किया कि हे भगवान ! इन्द्रिय वाले, एकन्द्रीवाले, बेइन्द्रीवाल तेंद्रीवाले, चौरिन्द्री वाल, पंचन्द्रिय वाले और बिना इन्द्रिय वाले इनमें परस्पर कौन न्यूनाधिक है ? इस पर भगवान ने उत्तर दिया कि हे गौतम ! सबसे थोड़े पंचेन्द्री वाले, इससे कुछ विशेष चौरिन्द्री वाले, इससे विशेष तेंद्रीवाले और इससे विशेष दो इन्द्रीवाले बिना इन्द्रिय वाले अर्थात् बारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान के और सिद्ध भगवान दो इन्द्री वाले से अनन्त गुणे हैं। इनसे अनन्त गुणे एकन्द्री वाले और इनसे सइन्द्रिय वाले अनन्त गुणे हैं।

अब यहां यह देखना है कि एकन्द्रिय से सइन्द्रिया वाले अनन्त-गुणे बतलाए हैं तो क्या पंचेन्द्री और अणिन्द्री से स इन्द्री वाले भिन्न हैं ? यदि भिन्न हैं तो वे कौन कौन से ? इस पर से यही कहना पड़ता है कि सइन्द्री वाले जीव इन्द्री में हैं पृथक नहीं। बारहवें तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान और सिद्ध भगवान से एकन्द्रिय के जीव अनन्तगुणे बतलाए इससे भी सइन्द्रियवाले अर्थात् एकेन्द्री, बेइन्द्री आदि पांच ही इन्द्रिय वाले मिलावें जिनको कि सइन्द्री भी कहते हैं तो वे

हैं। पर सइन्द्री कोई पृथक जीव जाति नहीं है। इसी तरह समूर्च्छिम के १४ वें स्थान में "सव्वेसु असुइ ठाणेसु" कहा है वह पृथक नहीं है। इन तेरहश्रों में एक दूसरे के समिश्रण होने पर उसमें जो जीवोत्पत्ति होती है वही "सव्वेसु असुइ ठाणेसु" का अर्थ है पर १४ स्थानों से अधिक समूर्च्छिम पैदा होने के स्थान कहना अपनी अज्ञानता का दिग्दर्शन कराना है।

फिर भी देखिये! जब दण्डी लोग थूक मे जीव मानेंगे तब उन्हीं के मन्तव्य के अनुसार दण्डी लोग भोजन करते समय असंख्य समूर्च्छिम मनुष्य के भी भक्षक ठहरेंगे। क्योंकि भोजन का केवल-ग्रास मुख मे रखते समय या पतली शाक को पीते समम मुँह मे अँगुली अवश्य देते ही हैं उस समय अँगुलियों पर थूक लगना अवश्य सम्भवनीय है, जब थूक लगेगा तो दण्डियों की मान्यता के अनुसार समय २ मे असख्य समुर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होंगे और मरेंगे। इसी तरह से थूक लगी हुई वे ही अँगुलियें शाक या हलवे के ग्रास के लगावेंगे उसमें भी समय २ पर समूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होंगे और मरेंगे। जिसकी हत्या उन्हीं दण्डियों पर है जो थूक में जीवोत्पत्ति मानते हैं।

विचारशीलो! दण्डियों की यह कितनी भूल है कि वे श्लेष्म के समान थूक को समझकर उसमें जीवोत्पत्ति मान बैठे हैं। यह तो वही कहावत हुई कि कोई किसी से पूछे कि तुम्हारे घर में कितनी स्त्रियां हैं? और वह उत्तर दे कि पाच, माता, बहिन, बेटी; भुआ और मेरी स्त्री, तो क्या पांच स्त्रियां कहने से उन सबके साथ उसका एकसा व्यवहार करना माना जायगा? जो ऐसा मान लेंगे वे मानने वाले स्वयं महान पापी एव मूर्ख कहे जायँगे। इसी तरह श्लेष्म के समान थूक में भी जीवोत्पत्ति मान लेना मूर्खता नहीं तो क्या है?

दण्डीजी! तुमने थूक (अमी) को मुख का मैल कहा सो यह तो तुम्हारे मुँह मे भरा ही रहता है। यदि यह सुख जाय तो तुम दण्डी लोग

जिन्हें भी नहीं रह सक्ते हो। इस थूक (अमी) के बिना तो अमि
को स्मशान का मार्ग ही ढूंढना पड़ेगा, दृगिइया ! कहने के पहिले
सोचाकरो और बाद लिखने का साहस कियाकरो। नहीं तो लोग तुम्हा
उपहास करेंगे व मूर्खता प्रकट होगी।

दयानंदी ! तुमने थूक (अमी) को अशुचि पदार्थ लिखा,
क्या तुम्हारा मुँह दिन रात अशुचि पदार्थ से भरा ही रहता है ? औ
इस अपवित्र पदार्थ भरे मुँह से जप, स्वाध्याय, ईश्वरकीर्तन आदि करते
हो ? यह तुम्हारी कितनी धृष्टता है ? क्योंकि उस परम पवित्र परमात्मा
का नाम स्मरण थूक अशुचि भरे हुए मुँह से करते हो यह विचारणीय बात है।
विचारिये ! दृगिइयों की कितनी अज्ञानता है कि जो बात कभी
हो ही नहीं सकती उसे सिद्ध करने के लिये मन-गढ़न्त कई झूठे विचार
व तर्क पैदा कर लेते हैं। पर क्या ऐसी थोथी बातें सिद्ध हो सकती हैं ?
कभी नहीं, थूक में जब जीवोत्पत्ति ही नहीं होती तो फिर उत्पत्ति सिद्ध
कैसे हो सकती है ?

आगे चलकर दयानंदी पृष्ठ १६ में लिखते हैं—

'तपस्वी लब्धि वाले मुनि का थूक लगाने से कुष्ठादि रोग चले
जाते हैं, यह बात जैन समाज में प्रसिद्ध है और उववाई आदि मूल
आगमों में खेलोसही पयाणं इस पाठ की व्याख्या में प्रकटपने कही है'

दयानंदी ! तुम्हारे ऐसा लिखने से क्या जीवोत्पत्ति सिद्ध होगई !
उववाई आदि मूल का प्रमाण थूक में जीवोत्पत्ति मानने के विषय का है,
थूक लगाने से कुष्ठादि रोग चले जाते हैं इससे थूक में जीवोत्पत्ति होती
है क्या यह सिद्ध होता है ? दोनों में कितना अन्तर है पाठक स्वयं सोचें
सूत्र में थूक ही नहीं परन्तु लब्धि धारी मुनियों के श्लेष्म मल, मूत्र
आदि सबही पदार्थ औषधि से बढ़कर हितप्रद हैं, जरा उसी सूत्र के
मूल पाठ को देखिये—

"खेलोसही पत्ताणं"

अर्थात्—खखारी औषधि के समान है। लब्धीधारी मुनि को स्पर्श
की हुई हवा तक रोगी के रोग दूर करने में काम आसकती है तो दयानंदी

की मान्यता इसमें भी समूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति कहेगी ? दण्डीजी ! सूत्र के प्रबल विरोधी मत बनिये और थूक, श्लेश्म एक न समझिये।

यदि दण्डी लोग यह कहेंगे कि "खेलोसही पत्ताणं" का अर्थ थूक उववाईजी सूत्र मे फरमाया है यह भी समझ गलत है। क्योंकि कोषों एवम् सूत्रों मे "खेलोसही पत्ताणं" का अर्थ जगह २ श्लेष्म ही किया है। चाहे जिस प्रगाढ़ पंडित से पूछा जाय वह श्लेष्म को थूक कभी नहीं कहेगा। तो तुम श्लेष्म को थूक कैसे मानते हो ? अगर तुम कहोगे कि लब्धीधारी मुनि का थूक सब रोगों को हरता है तो थूक किस शब्द का अर्थ है ? दण्डीजी ! थूक ही क्या, नाक का सेडा, नाक का जल, श्लेष्म, मुख की लार, मुख का जल, थुक, झाम, कफ आदि "सव्व-सोही पत्ताणं" सब लब्धि धारी मुनियों का औषधि रूप में काम देता है, केवल थूक ही को ले बैठना दण्डियों की गहरी अज्ञानता है।

फिर भी देखिये ! जैसे पेशाब और वीर्य एक रस्ते से निकलने पर भी इनमें जीवोत्पत्ति होती है तो सूत्रकार ने - "पासवणेसुवा सुक्केसुवा" दोनो का उल्लेख कर दिया है। यदि 'पासवणेसुवा' पेशाब का ही उल्लेख करते तो उससे ही क्या वीर्य अर्थ नहीं निकाल सक्ते थे ? फिर सूत्रकार ने "सुक्केसुवा" वीर्य का क्यों अलग उल्लेख किया ? इसी प्रकार अगर थूक में भी जीवोत्पत्ति होती तो सूत्रकार श्लेष्म के साथ २ थूक का भी उल्लेख कर देते जैसा कि वीर्य और पेशाब का पृथक २ किया है। अत-

---

१इसीही प्रकार संस्कृत-हिन्दी कोष वाले उल्लेख करते हैं पढ़िये पृष्ठ २०६ का० २ में "कफ (पु) शरीर के तीन दोषों मे से एक, श्लेष्म बलगम अन्य दो दोष वात और पित्त होते हैं।" पुन इसही प्रकार "सचित्र अर्द्ध मागधी कोष" भा० २ पृष्ठ ५७६ का० पर "खेल पुं० [श्लेष्म] नाक और मुँह से चिकना कफ निकलता है वह कफ।" तथा ऐसेही "जैनतत्वादर्श" दण्डी आत्माराम लिखित गुर्जर भाषा का, पृष्ठ ३९४ नं. पर नव कारण स्वप्न आने के बतलाए जिसमें के प्रथम के छ कारणों से स्वप्न आवे तो निरर्थक और पिछले तीन कारणों से स्वप्न आवे तो सत्य होता है। प्रथम के छ कारणों में चौथा एक यह भी कारण दिखलाया है कि "ई वात, पित्त अने कफना विकारथी, स्वप्न आवे तो ते निरर्थक छे" उक्त लेख मे कफ, पित्त और वात को विकार मे बतलाया किन्तु थूक को विकार मे

एव स्वयं सिद्ध है कि थूक में असंख्य समूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न नहीं होते। मोक्षार्थी भव्यात्मा मुँह पर मुँहपत्ति बांध कर ही धर्म क्रिया करें और दण्डी लोग भी मुँहपत्ति हाथ में रखना छोड़ श्वे० स्थानकवासी जैन साधुओं से मुँह पर मुँहपत्ति बांधना सीखें।

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ में अपने ही माननीय "सम्यक्त्व मूल बारह व्रत की टीप" नामक पुस्तक में लिखे मुंह पर मुँहपत्ति बांधने के प्रमाण को झूठा समझते हैं यह दण्डीजी की कितनी मायाचारी है। अपने घर के प्रमाण भी न मानें उन्हें हठग्राही कहें या धर्मी ? यदि कोई अपनी उत्पत्ति बाप से न माने तो वह झूठा समझा जाय या सचा। इन दण्डियों के माननीय उद्योतसागरजी कृत "सम्यक्त्व मूल बारह व्रत की टीप" सं० १९२६ में केशवजी रामजी से प्रकाशित और १९५४ में भीमसिंह माणेक द्वारा मुद्रित के पृष्ठ १२१ पर मुँहपत्ति मुँह पर बांधने का उल्लेख है। अतः आँखें खोलकर देखें।

"त्रिमोघस्त दृष्टि दोष न सामाइक सह ने पक्षी दृष्टि ने नासिका ऊपर राखे अने मर्मतां शुद्ध, भुतोपयोग राखे मौन पणे ध्यान करें तथा जे सामायिक व्रत ने शास्त्र अभ्यास करतो होय तो मयणा युक्त थई मुहपत्ति मुखे बांधीने पुस्तक ऊपर दृष्टि राखी ने भणे तथा साँभले।"

पाठको ! दण्डी लोगों का माननीय ग्रन्थ स्पष्ट रीति से मुँह पर मुँहपत्ति बांधने को घोषणा कर रहा है जिस को निर्मूल ठहराकर अपनी अविवेकता दिखाते हैं। आपने इस बात को छिपाने के लिये दूसरी छपी हुई 'सम्यक्त्व मूल बारह व्रत की टीप' का उदाहरण दिया सो क्या कोई मनुष्य द्वेष वश उससे यह अवतरण निकाल नहीं छपा सकता ?

नहीं बतलाया !!! माधव निदानादि वैद्यक ग्रन्थों में भी वात जन्य, पित्त जन्य, और कफ जन्य अर्थात् वात, पित्त और कफ उक्त तीनों को व्याधियों के उत्पत्ति के मुख्य कारण माने हैं किन्तु थूक को नहीं, इससे स्पष्टतया सिद्ध है कि थूक और कफ दोनों पर्याय वाचक नहीं एक नहीं।

आगे चलकर दण्डीजी झूठा प्रपंच रचते हुए भोले लोगों को भ्रम में डालने के लिये पृष्ठ १७ पर लिखते हैं कि —

"मुखे मुँहपत्ति देई इस लेख को बदलाकर मुँहपत्ति मुखे बाधी ने ऐसा झूठा छपवा दिया प्रूफ सुधारने वाला ढूढक श्रावक नौकर था उसने पुस्तक छपवाते समय ऐसा अदल बदल करने का अनर्थ कर दिया।"

दण्डीजी! अब तो तुम्हें कोई भी हठाग्रही कहे और माने बिना नहीं रहेगा। क्योंकि तुम्हारे ही ग्रन्थों का जब हम प्रमाण देते हैं तो तुम ढूढक श्रावक ने बदल दिया कहकर अपनी बुद्धिमत्ता दिखाते हो। कल और भी हम तुम्हारे ही ग्रन्थों के प्रमाण देंगे तो तुम यह कह बैठोगे कि तुमने इसे बदल दिया, प्रूफ़ पलट दिया।

महोदयो! दण्डियों का कैसा झूठा प्रपँच है कि प्रूफ सुधारने वाले ग्रन्थ के वाक्य को भी बदल दें? प्रकाशक का तो कर्त्तव्य था कि अपना काम पूरे ध्यान से करे? अस्तु, झूठी बात तो यही सिद्ध होती है कि उस समय कोई स्थानकवासी श्रावक प्रूफ सुधारने के कार्य पर नौकर ही न था, सिर्फ अपनी बात रखने का कोई मार्ग न मिला तो झूठी मायावी चाल ही चली।

क्या इतने वर्ष पहिले संवेगियोकी आखों में चकाचौंध छागई थी? या प्रकाशक नेत्र-विहीन था? सो उसने भूल संशोधन भी नहीं लिखा? जब प्रमाण रूप में आया तो वाक्यजाल फैलाकर मिथ्या ठहराया, परन्तु क्या पाठकगण आप भी इसे मिथ्या समझ सक्ते हो? क्योंकि यह लेख इतने वर्षों से मुद्रित सही और लेखी है। मौखिक नहीं यदि मौखिक होता तो इन्हें बदलते क्या देर लगती?

इसी प्रकार दण्डी लोगों के माननीय ग्रन्थ में "मूत्र" पीना भी

लिखा है। अब यह पुस्तकाम्प्र बात जाहिर हुई तो द्वितीयावृत्ति में यह विषय निकाल कर पुस्तक मुद्रित हुई। क्या ऐसा करने से प्रमाण प्रमाण नहीं रह जा सके ? और दण्डी लोग उन प्रमाणों को नहीं मान सके ? अवश्य मानने ही पड़ेंगे । इसी प्रकार "सम्यक्त्व बारह व्रत की टीप" नाम की पुस्तक में लिखे अनुसार मुँह पर मुँहपत्ति बांधने का प्रमाण इन्हें मानना ही पड़ेगा ।

दण्डाजी ! साहस तो खूब किया । स्थानकवासी श्रावकों पर मूक बदलने का दोष तो खूब लगाया । खैर हुआ सो हुआ परन्तु ग्रन्थ बदलते मूक बदलते ? स्थानकवासी दण्डियों में घुसकर दण्डियों को ही न बदल दें । जब ग्रन्थों के प्रमाण तक बदल दिये जाते हैं तो दण्डियों की बुद्धि बदलने में क्या देर लगेगी ? सावधान ! अपने ग्रन्थों पर खूब चौकस ध्यान रखें और आगे से इस बात पर पूरा ध्यान रखें कि किसी ग्रन्थ में स्थानकवासियों का कोई प्रमाण न आजाय ।

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ में लिखते हैं "प्रश्न व्याकरण महानिशीथ ओघनिर्युक्ति" आदि प्राचीन शास्त्रों में "मुहपत्तिगम्" शब्द देखकर मुँहपत्ति का 'दोरा' ऐसा मनमाना अर्थ करके महानिशीथ, ओघनिर्युक्ति की चूर्णी आदि शास्त्रों के नाम से दोरा डालकर मुँहपत्ति बांधने का समझ बैठे हैं सो मिथ्यात्व भ्रम में पड़कर भूलते हैं ।

दण्डीजी ! यह लिखना तो सर्वथा मिथ्या है । क्योंकि श्वे० स्था० जैन साधु "मुहणं तगेणं" का अर्थ मुँहपत्ति का दोरा ऐसा कभी नहीं करते । और न कहीं ऐसा प्रकाशित हुआ है । फिर मनः कल्पना से ऐसा अर्थ कर क्यों व्यर्थ मरते बढ़ाते हो ? कुछ तो परभव का भय रखना । जब मूल में ही जो बात नहीं उसका श्वेताम्बर स्थानकवासियों का झूठा नाम रखकर उन पर अर्थ कर देना यह कितनी शरम की बात है ? यदि किसी श्वेताम्बर स्थानकवासियों के माननीय ग्रन्थ में "मुहणं तगणं"

का मुँहपत्ति का दौरा ऐसा अर्थ लिखा हो तो उसका प्रमाण देना था। विना प्रमाण के लिख देना दण्डियो की कपटता का द्योतक है।

दण्डीजी! "मुहणं तगेणं" का अर्थ तो सीधा और स्पष्ट मुख-वस्त्रिका ही होता है। इसका उलटा अर्थ धागा (दौरा) कौन विचारहीन करता है? दण्डीजी तुमने ही "मुहणं तगेण" का उल्टा अर्थ लगाया और "मुहणं तगेणं" का अर्थ "जब बोलने का काम पड़े तब मुँह आगे मुँहपत्ति रखकर बोलना" किया।

विद्वजनो! 'मुहणं तगेणं' का अर्थ तो मुँहपत्ति ही है परन्तु मुख-वस्त्रिका शब्द में से "बोलने का काम पड़े तब मुह आगे मुँहपत्ति रखकर बोलना" इतना अर्थ इन अपढ़ दण्डियों को किसने सिखाया? यदि दण्ढीजी कहेंगे कि अर्थ तो मुखवस्त्रिका ही है पर भावार्थ यह है तो श्वे० स्थानकवासी जैन साधु इसका भावार्थ यही करते हैं कि "मुखवस्त्रिका मुख पर बाधना चाहिये।" यह भी कोई न्याय है कि दण्डी लोग अघटित भावार्थ लगावे उसे ससार माने और कोई घटित भावार्थ लगावे तो उसे नहीं माने। यह एक हठाग्रह नहीं तो और क्या है? आत्मार्थी भव भीरू तो मुँहपत्ति हाथ में रखने का हठ त्याग मुँहपर ही बाधेंगे क्योंकि इसका यौगिक नाम ही मुख वस्त्रिका है।

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ में "भुवन भानु केवली" के रास में हमेशा मुँहपत्ति बाधने का जो स्पष्ट प्रमाण है उसका खण्डन करते हैं? सो क्या खडन हो सक्ता है? कभी नहीं क्योंकि हेमचन्द्राचार्य के रचना-नुसार उदयरत्नजी ने "भुवन भानु केवली" के रास की रचना की है। यह रास दण्डी लोगों के माननीय ग्रन्थों में है। उसकी ६६ वीं ढाल में मुँहपत्ति बाधने का इस प्रकार उल्लेख है कि—"एक सार्थवाही के रोहिणा नाम की लड़की थी, वह हित शिक्षा देने वाले पर भी बड़ी नाराज रहती

थी । कभी धर्म स्थानक में जाती थी तो वहां पर भी धार्मिक क्रिया नहीं करती थी । तब साध्वीजी ने उस लड़की को कहा कि बाई जब धार्मिक स्थान में आना होवे वहां पर सांसारिक उलट पुलट बातें न करके धार्मिक क्रिया करना चाहिये, इतना साध्वीजी के कहने ही पर समझ कर रोहिणी जी उस साध्वीजी को कहने लगी ।

ढाल छियासठवीं [६६]

राग—मोसीयडो आणे कोम मिचार ।

मुख मरडी तब ते कहेरे साधवीजी सुणो वात ।
साधुजने पण सर्वथा रे विकथा न करजो आत ॥ १ ॥
गुरुणीजी मिल मिल करो न मांड ॥ टेक ॥
न गम मने पालवड ॥ गु न तमाये अनर्थ इयड
तो जीभ थाय शत खण्ड ॥ गु ॥ २ ॥
मुहपत्ति मुख बाधी नेरे, तुम बेसा छो जेम ॥ गु ॥
तीम मुख कुचो देहनरे बीजे बेसाये केम ॥ गु ॥ ३ ॥

अर्थात्—हे गुरुमाजी ! आप संसार को छोड़कर मुँहपत्ति मुख पर बांधकर धर्म क्रिया करने को बैठ गए हो वैसे हमसे मुँहपर मुँहपत्ति बांध कर धर्म क्रिया नहीं बन सकती ।

प्रिय महाशयो ! इस राग में मुँहपर मुँहपत्ति बांधने का स्पष्ट उल्लेख होते हुए भी मूर्ती लोगों की कैसी अनसमझ है कि इसको गेमूर्ल समझते हैं ? यह उनकी समझ का नमूना है । अब दरियापुरी के ही स्तीम पन्थों का प्रमाण देन क्या तब इनकी आंखें खुलीं और मुख्य

स्वार्थ के लिये "मुंह पत्तिए मुख बाधिनेरे" इसका उलटा अर्थ करने लगे। पाठक उनके अर्थ को अवलोकन करे, वे दण्डी लोग पृष्ठ १८ वे मे लिखते हैं कि —

"मुँहपत्तिए मुख बाधीनेरे" यहा मुँहपत्ति बांधने का अर्थ नही है किन्तु मौन रखने का अर्थ होता है। देखो मूल चरित्र मे ऐसा पाठ है 'बद्ध मुख मत्र तिष्ठत न कांचत्पश्याम"

दण्डीजी का यह लिखना नितान्त विरुद्ध है। क्योंकि रासकर्त्ता को मुँहपत्ति बाधने का अर्थ अभीष्ट नही होता और मौन रखने का भाव ही रास मे ग्रथित करना होता तो "मुँहपत्तिए मुख बाधिनेरे" इस जगह 'मुँहपत्तिए' ऐसा शब्द कभी उल्लेख नही करते केवल यों कह देते कि "गुरुणीजी मुख बाधिनेरे" जब तो दण्डियों का मौन अर्थ करना सिद्ध होजाता। जैसा कि लोग भी प्रयोग करते हैं कि आप मौन करके बैठ गए हो वैसे हमसे मुख बाधकर अर्थात् मुख ढूचा देकर नहीं बैठा जाता। परन्तु रासकर्त्ता को यह अर्थ अभीष्ट नही था, तबही "मुँहपत्तिए" शब्द का "मुखबाधीनेरे" के साथ प्रयोग किया। इसलिये इसका अर्थ यही युक्ति संगत घटित होता है कि "मुँहपत्ति मुख पर बाधकर" इसके सिवाय और अर्थ करना दंडियो के आचार्यों से भी विरुद्ध है।

यदि दडीजो यह कहने लगें कि मूल चरित्र में 'बद्ध मुख मत्र तिष्टत न कंचित्पश्यामः' इसमें मुखपत्ति शब्द नहीं है। दण्डीजी इसको बनाने वाले भी तुम्हारे ही माननीय थे और रास बनाने वाले भी तुम्हारे ही पूज्य थे। अब तुम्हारी इच्छा हो उसे झूठा कहिये। क्योंकि मूल चरित्र में मुँहपत्ति नहीं तो रास वाले कहा से लाए ? यदि दोनो को सही मानोगे तो तुमने मुँहपत्ति शब्द उसमें से निकाल दिया यह साबित होगा, इसलिये इस विषय में तुम्हारी मायावी चाल नहीं चल सक्ती। जो

उदयरत्नजी ने रास बनाया है वह मूल चरित्र पर से ही बनाया है। अब मूल में 'मुँहपत्ति' होगा तबही रास में उन्होंने लिखा है। यदि मूल में नहीं होता तो वे रास में नहीं रखते। इससे सिद्ध होता है कि मूल में भी मुँहपत्ति शब्द अवश्य होगा केवल भाले लोगों को भ्रम में डालने के वास्ते तुम दरिद्रियों ने भले ही मुँहपत्ति शब्द निकाल दिया हो किन्तु रासवाले ने मुँहपत्ति शब्द के साथ बांधने का प्रयोग किया इससे यही अर्थ होता है कि "मुँहपत्ति मुख पर बांधकर' अतएव दरखी लोगों को भी इस अर्थ को मान मुँहपत्ति हाथ में रखने की झूठी प्रणाली त्याग देना चाहिये।

आगे चलकर उसी पृष्ठ में दरखीजी कहते हैं कि—"रास बनाने वाले का पूरा पाठ छोड़कर थोड़े से अधूरे वाक्य को लिखकर अर्थ का अनर्थ कर डाला।"

दरखीजी! पूरे पाठ से क्या तुम्हारा मतलब सारे ग्रन्थ के लिखने का है? प्रमाण में तो वही पाठ रक्खा जाता है जिसकी आवश्यकता दीखे। प्रमाणाभाव में सारा ग्रन्थ थोड़े ही लिख देते हैं। जैसे गीता भागवत आदि का प्रमाण देना हो तो क्या सारी गीता लिखना चाहिये? नहीं! सिर्फ अध्याय संख्या दे देने से बुद्धिमान समझ सके हैं या बस ग्रन्थ को देखकर निश्चय कर लेते हैं। अतएव हमने भी ६६ वी ढाल का प्रमाण दिया तो क्या बुरा किया? यदि आपके नेत्र हैं तो आप देख सक्ते हो, सम्पूर्ण रास लिखने की हमें तो कोई आवश्यकता नहीं दीखती।

आगे चलकर उसी पृष्ठ में हरिबल मच्छी के रास में जो मुहपत्ति मुंह पर बांधने का प्रमाण है, उसको भी दरखीजी ने झूठ ठहराया है, यह दरिद्रियों की अविवेकता है। क्योंकि हरिबल मच्छी के रास के दूसरे उल्लास की ७ वीं ढाल में इस प्रकार उल्लेख है कि—

"सुख्खमधोभी जीवड़ा, मांडे निज सन् कर्म।
भाग्रुमन मुख मांपती, बांधो है जिन धर्म।"

प्रिय वाचको ! ढाल में प्रात काल का वर्णन है। उसमें उपरोक्त कविता दी है कि सूर्य उदय होते ही 'शुल्लभ बोधी जीवड़ा' सम्यक्त्वधारी धार्मिक सज्जन 'मांडे निज खट कर्म' निराकार देवोपासना, गुरु भक्ति, दान, संयम, तप, स्वाध्याय इन छ कर्तव्यों के पालन में अग्रेसर होवे। और 'साधुजन मुख मोपती' मुनिराज ने सर्वथा संसार त्याग मुँहपत्ति मुँह पर बांधी है यह एक जैनधर्म का सिद्धान्त है। क्योंकि जैन धर्म में एकतो श्रावक, श्राविका होते हैं जो नियमित त्यागों को पालने में तत्पर रहते हैं और साधु साध्वी होते हैं वे सर्वथा ही संसार का परित्याग कर संयम पालने के लिये मुँह पर मुँहपत्ति बांध विचरते है वे प्रात काल जिन्न धर्म का स्वरूप लोगों को बता रहे हैं कि ये २ जैनधर्म के नियम हैं। इस रास में भी मुँहपत्ति बांधने का प्रमाण उलटा छपगया ऐसा दण्डीजी कहते हैं सो यह कहना उनका कहा तक ठीक है पाठक स्वय सोचले।

प्रिय महोदयो ! सम्यक्त्व बारह व्रत की टीप में और इस पुस्तक में भूल से छपगया ऐसा कहने के सिवाय अब दण्डी लोगों के पास कुछ चारा ही नहीं रहा। क्योंकि जब उनके ही माननीय ग्रन्थों के प्रमाण निकलने लगे तो और कहे ही क्या ? पर यह सब इनकी अज्ञान दशा का कारण है कि वे अपने प्रमाणित ग्रन्थों के प्रमाण भी नहीं मानते। जैसे कोई मूर्ख अपने पैदा करने वाले बाप को न माने और बाप को जिसके योग से वह पैदा हुआ है लाकर सामने भी खडा करदें तो भी वह कहता है कि 'मैं नहीं मानता कि यही मेरा पिता है।' इसी प्रकार दण्डी अपने ही ग्रन्थों के प्रमाण भी मानने मे आनाकानी करते हैं। अब कहिये इन अभिनिवेषिक मिथ्यात्व में फँसे हुए अज्ञानी दडियों को कैसे समझाया जाय।

आगे चलकर दण्डीजी पृष्ठ १९ में लिखते हैं कि—अमारी घोपणा के प्रसग पर मिथ्यात्व का हेतु हमेशा मुहपत्ति बाधने का कभी नहीं लिखा जासका।

ढूंढीजी! ठीक है। हम भी मानते हैं कि जीव दया के प्रसंग में हिंसा का उल्लेख कभी नहीं होसकता। वैसेही जीव दया के निमित्त मुँह पत्ति बांधने के स्थल पर खुले मुँह रहने का विवरण कभी नहीं लिखा जा सकता। अब विचार करिये कि ढूंढीजी जब मुँहपत्ति बांधना मिथ्यात्व ठहराते हैं तो फिर वे मुँह पर क्यों बाँधते हैं ? यदि कहेंगे कि हम तो थोड़ी देर के लिये बांधते हैं तो हम भी यही पूछते हैं कि आप थोड़ी देर भी बांधते तो हो न !

अब पाठक इससे तत्व निकालें कि जिस प्रकार थोड़ी देर बांधने मे मिथ्यात्व नहीं प्रत्युत धर्म है; उसी प्रकार हमेशा मुहपत्ति बांधे रहने में मिथ्यात्व का कारण कैसे पैदा हो सकता है ? हरगिज नहीं; उससे अवश्य विशेष धर्म ही होगा।

फिर भी देखिये! जैसे किसीने एक दिन एक गौ के प्राण बचाये तो दया हुई और एक हमेशा नित प्रति गौ के प्राण बचाता है तो क्या हमेशा बचाने वाले को हिंसा लगेगी ? कभी नहीं !! ऐसेही जीव दया के निमित्त थोड़ी देर मुँह पर मुँहपत्ति बांधने से विशेष जीव दया का लाभ नहीं मिलेगा ? अवश्य थोड़ी देर बांधने से जो लाभ प्राप्त होगा उससे कई गुन्य लाभ हमेशा मुँहपत्ति मुह पर बांधने वाले को होगा। अतएव ढूंढो लोगों के लिये मुँहपत्ति हाथ में रखना छोड़ मुँह पर बांधना विशेष लाभप्रद है।

आगे चलकर दयाढ़ीजी उसी पृष्ठ में लिखते हैं कि—

"रायपसेणी में अतिशयादि में लिखा है पर बांधी शब्द की जगह 'बांधो है किसी ढूंढक ने (क) निकाल कर 'ढै' की जगह 'है' कर दिया है।

दण्डीजी ! वाल चेष्टावत क्या खेल कर रहे हो ? बुद्धिमान तुम्हारी बुद्धि पर तरस खायँगे और उपहास भी करेंगे। क्योंकि पहिले तो लिख दिया कि भूल से ऐसा लिखा है और अब लिखते हो 'हे' की जगह 'है' कर दिया है। तो क्या सब ग्रन्थों के प्रूफ स्थानकवासी ने बदल दिये ? सब जगह स्थानकवासी का बोल बाला ही था ? क्या तुम्हारे अनुयायियो ने स्थानकवासी घुसा कर ऐसे प्रमाण अपने ग्रन्थों में लिखवा लिये जो तुम्हें अब तक शल्य से दुख देरहे हैं ? दण्डीजी तुमने पहिले तो उसी वाक्य को अतिशयोक्ति में लिखा कहा बाद वक्रोक्ति कहा। अतएव निरा-क्षर भट्टाचार्य दण्डीजी ! पहिले यह तो समझलो कि अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति किसे कहते हैं ? फिर लिखने का साहस करो। नहीं तो विद्वानों और समाज में तुम्हारे लेख घृणा की दृष्टि से देखे जायँगे। दण्डीजी ! तुम्हारा हठ तो तुम्हारे ही माननीय ग्रन्थ और तुम्हारे ही अनुयायी समय आने पर तुमसे छुडावेंगे तब तुम छोड़ोगे इससे तो बेहतर यह है कि हरिबल मच्छी के रास में जो हमेशा मुहपर मुँहपत्ति बांधने का अकाट्य प्रमाण है उसे ही देखकर अभी से हठ छोड़ सीधी राह पकडलो।

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ में हित शिक्षा के प्रमाण को भी झूठा ठहराते हैं, यह एक दण्डीजी की चालबाजी है। क्योंकि दण्डियों के माननीय श्रावकों की श्रेणी में से अग्रगण्य श्रीमान ऋषभदासजी ने 'हित शिक्षा नो रास' निर्माण किया है उसमें मुँहपत्ति मुँहपर बाधने का ज्वाजल्यमान प्रमाण है उसे पाठक देखें।

"मौन करी मुख बांधिये;
आठ पड़ मुख कोशोरे"

अर्थात्—मौन धारण कर मुख कोश आठ पड़ वाली मुँहपत्ति से (मुख बांधिए) मुख पर बाँधना चाहिये।

प्रिय महोदयो ! अब मुँह पर बाँधने के विषय में क्या शेष रहा ! स्पष्ट लिखा है कि आठ पड़ वाली मुँहपत्ति मुँह पर बाँधना चाहिये। फिर भी यहीं तक लिखकर व चुप न रहे हैं वे आगे उसी ग्रन्थ की द्वितीयावृत्ति में लिखते हैं कि—

> मुखे बांधी ते मुहपत्ति, हटे पाटो धारी।
> अति हेठी दाढ़ी थई, ओतर गले निवारी ॥ ३ ॥
> एक कानने धज सम कही खभे पछेडी ठाम।
> केड़ी खोशी कोथली, नावे पुण्य ने काम ॥ ४ ॥

अर्थात्—"मुखे बांधी ते मुँहपत्ति" मुख वस्त्रिका तो वही है जो मुँह पर बांधी जाय। यदि वह मुखवस्त्रिका मुख के नीचे रहती है तो पाटे के समान होजाती है और ज्यादह नीचे लटकती हो तो दाढ़ी के समान दीखने लगती है और गले में हो तो 'ओत' सी दीखती है। एक कान में लटकाते हैं तो वह ध्वजा के सदृश होजाती है, कन्धे पर रक्खी जाय तो वह पछेवड़ी सी दिखाई देती है और यदि कमर में खोसी जाय तो वह कोथली कहलाती है। इसी तरह अन्य स्थानों में रखने से अर्थात् मुँह पर न बाँधने से उसका पुण्य-लाभ प्राप्त नहीं होगा।

पाठको ! ऋषभदासजी ने इस जटिल प्रश्न को कितना स्पष्ट कर दिया है। हमारा सार कथन भी इस प्रमाण पर [दृढ़ि] होजाती है। मालूम होता है कि ऋषभदासजी कोई सज्जन और विचारशील व्यक्ति थे नहीं तो व अपनी सम्प्रदाय के विरोध में ऐसा कभी नहीं लिखते। 'मुखे बांधी ते मुँहपत्ति' यह वाक्य ढ़ढ़ो लोगों के हाथ में रखने की प्रणाली को छुड़ाने के लिये कैसा अच्छा शस्त्र है। भला ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो अपनी सम्प्रदाय को उखाड़ने का मसाला तैयार करेगा। किन्तु कितने ही सज्जन सत्य के प्रिय आज भी प्राण देने को उपस्थित हैं। इसलिये ऋषभदासजी न

न्याय के आगे सम्प्रदाय की कुछ परवाह न की और बेधड़क "सच्ची बात" लिखी। उनके लेख से स्पष्ट सिद्ध है कि "मुखे बांधी ते मुँहपत्ति" मुँह पर हमेशा बाँधी जाती है तभी उसे मुँहपत्ति कहते हैं।

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ में लिखते हैं—

"ढूढिये जल पीने के लिये या कफ आदि थूकने के लिये नाटक के परदे की तरह मुँहपत्ति को किसी समय नीचे के होठ पर हटा लेते हैं कभी दाढ़ी पर खींच लेते हैं।

दण्डीजी! जब दवाई जल आदि पीने का काम पड़ता है तब मुँहपत्ति को मुँह से अलग कर ही पीना पडता है। और जो आप नाटक का उदाहरण देरहे हैं वह हम पर नहीं बल्कि आप पर ही घटित होता है क्योंकि मुँह के आगे बार २ मुँहपत्ति लगाना यही एक नाटक के फार्स सा है। व्याख्यान के समय आप त्रिकोणी करके मुँह पर बाधते हो तो वह अवश्य लटकती रहती है, सो हित शिक्षा के अनुसार वह दाढ़ी या झूल के समान दीखती है। कभी दण्डी लोग मुँहपत्ति को कन्धे पर रख लेते हैं तो कभी कमर में लटका लेते हैं यह हम अपने अनुभव से कहते हैं उस समय तो दण्डी लोगों की मुँहपत्ति हित शिक्षा के अनुसार चद्दर सी व कृषकों की चिलम तमाखू की कोथली सी दृष्टिगत होती है। इसलिये हित शिक्षा के कर्ता ने दण्डियों को सावधान किया है कि "मुँह पर बाधने से मुँहपत्ति कहलाती है" झूल, दाढी, कोथली आदि उपमाएँ तुम्हारी मुँहपत्ति को शोभा नहीं देतीं। अतः मुँहपत्ति को हाथ में रखना त्याग मुहपर बाधना अपना कर्त्तव्य समझो।

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ में लिखते हैं —

हित शिक्षा के रास के लेखक ने ढूढियो को मुँहपत्ति की ऐसी विडम्बना न करने के लिये उपहास्य के वाक्य लिखे हैं।

दयावीजी ! हृदय पर हाथ रखकर कहें कि "मुखे बांधे त मुहपत्ति" क्या यह वाक्य उपहास का है ? नहीं, यदि लेखक को उपहास ही करना था तो अपनी रचना में वे यों लिखते कि "हाथे राखे ते मुहपत्ति मुखे पाटापारी । अति हेठी डाढी थई जोवर गखे निधारी"- किन्तु लेखक ने अपनी रचना मे तो ऐसा नहीं लिखा । इससे भली प्रकार सिद्ध है कि लेखक उपहास नहीं करना चाहते थे, केवल मुंहपत्ति किसे कहते हैं ? यही बात अपनी रचना में प्रकट करना चाहते थे तभी उसमें "मुखे बांधे त मुँहपत्ति लिखा । इससे दयावी लोगों को चाहिये कि वे भ्रम में न पड़कर हाथ में मुँहपत्ति रखना छोड़दें "भूले ताहि निसार के आगे की सुधि लेय" के अनुसार अब भी मुँहपत्ति मुँह पर बांधना प्रारंभ करदें तो जन्म सुधर जावेगा और सम्यक्त्व रत्न हाथ लग जायगा ।

आगे चलकर दयावीजी पृष्ठ २० में लिखते हैं कि—"ढूंढिये कहते हैं कि शिव पुराण में "हस्तेपात्रं दधानश्च, तुण्डे वस्त्रस्य धारका" इस वाक्य में स्पष्टतया मुँहपत्ति बांधना लिखा है ऐसा कहते हैं सो भी झूठ है"

दयावीजी ! यह लेख तुम्हारा नितान्त मिथ्या है । क्योंकि शिव-पुराण के ज्ञानसंहिता के इक्कीसवें अध्याय के २५ वें श्लोक में मुँह पर मुँहपत्ति धारण करने वाले ही को जैन मुनि कहा है । जरा देखें —

> हस्ते पात्रं दधानाश्च तुण्डे वस्त्रस्य धारका ।
> मलिनान्येव वासांसि, धारयन्तोऽल्प भाषिणः ॥
>
> शिवपुराण अ० २१ श्लोक २५

अर्थात्—हाथ में पात्र धारण करने वाले, मुँह पर वस्त्र को धारण करने वाले, मलिन वस्त्र धारण करने वाले और अल्प बोलने वाले वे ही जैन साधु हैं । इस श्लोक में मुँह पर मुँहपत्ति स्पष्टतया बांधने का स्पष्ट उल्लेख होते हुए भी दयावियों की समझ में नहीं आता यह उनकी पूर्ण अज्ञानता है । अगर सामान्य

विद्वान से भी इस श्लोक का का अर्थ पूछा जाय तो वे भी यही अर्थ करेंगे। यदि शिव पुराण के रचयिता को जैनमुनि मुह पर मुँहपत्ति न बांध हाथ में रखते हैं यह मालूम होता तो वे श्लोक में "तुण्डे" शब्द का प्रयोग कभी नहीं करते। और उसके बदले "हस्ते" अर्थात् "हस्ते वस्त्रस्यधारका" ऐसा वाक्य रचते किन्तु इस श्लोक में ऐसा नहीं होने से हमेशा मुँहपर मुहपत्ति बांधने की प्रणाली अति प्राचीन काल से चली आरही है यह सिद्ध होता है। और यह भी सिद्ध होता है कि जैन मुनि वही कहलाता है जो मुँहपर मुँहपत्ति बाधता है।

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ में लिखते हैं कि —

"हाथ में पात्र कहने से आठों ही प्रहर रात्रि दिन हमेशा हाथ में पात्र नहीं लिया जाता किंतु जब आहार आदि कार्य होवे तब उस प्रयोजन के लिये लिया जाता है। वैसे ही मुँह पर मुँहपत्ति कहने से जब बोलने का कार्य होवे तब मुँह पर मुँहपत्ति रखने मे आती है परंतु हमेशा बाधने का नहीं ठहर सक्ता।"

दण्डीजी! यह लिख कर तो तुमने बिलकुल बाल चेष्टा की है। क्योंकि जब पात्र हाथ में रखने को कहा पर हमेशा नहीं रक्खे जाते इसी प्रकार इस श्लोक में लज्जा के लिये मलीन वस्त्र भी धारण करना कहा सो क्या अपनी मान्यता मुजिब वस्त्र भी हमेशा पहनना सिद्ध नहीं होगा? वस्त्र भी तभी धारण करना होंगे जब आहारादि लाने का काम हो।

दण्डीजी! मुँहपत्ति की सिद्धि न मानने से नग्न रहना सिद्ध होगा काम पडने पर जिस प्रकार मुँहपत्ति लगाने की सिद्धि का प्रयत्न कर रहे हो उसी प्रकार लज्जा के लिये भी काम पड़ने पर वस्त्र धारण करने की नई प्रणाली चलाना पड़ेगी इसलिये दण्डीजी! कुछ बुद्धि लड़ाओ। जिस प्रकार लज्जा के लिये हमेशा वस्त्र पहनना आवश्यक है वैसे ही जैन मुनि होने के कारण हमेशा मुँह पर मुँहपत्ति बाधना आव-

श्यक है। अतएव हाथ में मुँहपत्ति रखना छोड़ हमेशा मुँहपत्ति मुँह पर बांधो या सोते, बैठते, सूत्र पढ़ते लम्बा वस्त्र भी परित्यागो।

आगे चल कर उसी पृष्ठ के हेडिंग में वर्णीजी लिखते हैं कि—

"नाभा में ढूंढिये हार गये" वर्णीजी का यह लिखना सरासर झूठ है। क्योंकि स्वयं नाभा नरेश ने जिस रोज चर्चा खतम हुई उसी रोज गुरु मुखी भाषा में फैसला दिया था और फैसला छपवा कर फार्म बांटे गए थे जिसमें यह लिखा था कि —

"हमारी राय में जो भेष और चिन्ह जैनियों के शिवपुराण में लिखे हैं वह सब वो ही है जो इस वक्त ढूंढिए साधु रखते हैं पस ढूंढियों और पूजेरों के बारे में हमारी राय मुदरजे बाला व इत्तफाक (बाक) शिव पुराण का है मिन् जानिब मेम्बरान् मुदरजे बाला श्री १०८ श्रीयुत महाराज नाभा पति जी की आज्ञानुसार दुर्गा प्रेस नाभा वजह तमाम माह प्रेमसिंह वगासुध ज्येष्ठ सुदी ९ फ्लोष्ट संवत १०९१"

वर्णीजी! अब नाभापति महाराज और कमेटी के मेम्बर उपरोक्त फैसले में लिख चुके हैं कि जो ढूंढिया भेष अथवा चादर चोल पट्टा पहिनते हैं और जो चिन्ह मुँहपत्ति मुँह पर बांधते हैं वह शिवपुराण के लेखानुसार सही मालूम होता है और जैनियों का यही चिन्ह मुँहपत्ति मुँह पर बांधना भी शिव पुराण में लिखा है। अब कहिए प्रिय महोदयो! इस प्रकार फैसला नाभापति की ओर से मिलने पर किनकी विजय हुई? क्या ढूंढियों की? कभी नहीं नाभा में श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनसम्प्रदाय की ही विजय हुई है। वर्णीजी ने जो हेडिंग में लिखा है वह नितान्त मिथ्या है।

आगे चल कर उसी पृष्ठ में वर्णीजी ने फैसले का नाम लेकर अपनी विज्ञप्ति की पुष्टि करते हुए कुछ पंक्तियों के वाक्य उद्धृत किए हैं वह सर्वथा अमाननीय है। क्योंकि वर्णीजी के लिखे हुए वे वाक्य

पण्डितो की ओर से चर्चा होने के बाद करीब एक साल के पीछे के लिखे हुए हैं अर्थात् श्वे० स्थानकवासियो को फैसला मिला संवत् १९६१ ज्येष्ट सुदी ५ फरोष्ट को और दण्डीजी को कुछ पण्डितो के वाक्य मिले हैं वे १८ पौह संवत् १९६२ में। इससे पाठक स्वयं सोच सकते हैं कि चर्चा खतम होने के निकट ही जो फैसला मिलता है वह सही समझा जाता है या बाद कितने ही अर्से के अर्थात् चर्चा होनेके बाद एक वर्ष के पीछे जो वाक्य उन पण्डितों की ओर से प्राप्त। तो इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि किसी प्रकार से पर्यास कर उन पण्डितों से लिखवा लिया इसमे क्या ? हर एक व्यक्ति अपनी विजयता का लेख लिखवा सकता है किन्तु सही तो वही समझा जाता है कि चर्चा होने के बाद मे सभापति और मेम्बरो की राय से प्रथम ही जो फैसला प्रकाशित हो उसी को प्रमाणित समझा जाता है। बाद दूसरे फैसलो मे कई वजह उसमे समावेश हो जाते है यह पाठक भली प्रकार जानते ही हैं। इसलिए जो नाभापति महाराज ने उसी रोज फैसला गुरुमुखी भाषा मे छपवा कर दिया था उससे स्वयं सिद्ध होता है कि नाभा में श्वे० स्था० सम्प्रदाय की विजय हुई और मुँहपत्ति मुँह पर हमेशा बांधना सिद्ध हुआ। इसका विशेष खुलासा फिर आगे देखिए।

आगे चल कर दण्डीजी पृष्ट २१मे लिखते हैं कि—

" संवेगियों को दण्डी २ कहा करते हैं "

दण्डीजी ! हम संवेगियो को अवश्य दण्डी कहते हैं क्योंकि वे दण्ड धारण करते हैं। देखो अनुयोग द्वार सूत्र में भगवान महावीर स्वामी ने "दण्डेण दण्डी" कहा है और दण्डी आकर्ण पर्यंत दण्डा रखते भी हैं इसलिये दण्डीजी को दण्डी कहना अनुचित नही है।

यदि दण्डीजी कहेंगे कि "अस्तु, दण्ड रखने से हमे दण्डी कहते हो तो हम दण्डा तो हमेशा नहीं रखते। इसी प्रकार मुख पर बोलते

समय मुख वस्त्रिका रखने स क्या मुंह पर वस्त्र धारण करने वाले नहीं कहलायेंगे।"

दण्डीजी ! जब हाथ में दण्डा रखते हो तभी दण्डी कहलाते हो। इसी प्रकार मुंह पर मुंहपत्ति बांधोगे तो मुख पर वस्त्र धारण क से वाले कहे जाओगे। अब रहा यह प्रश्न कि दण्डा हमेशा हाथ में नहीं रहता। इसका समाधान सीधा और सरल यह है कि मुह पर वस्त्र बाँधने वाले भी हर समय मुंहपत्ति कहां बांधे रहते हैं, वे आहार करते, पानी पीते, दवा लेते; थूकते, मुंहपत्ति बोलते व सुखाते समय मुंहपत्ति मुंह से दूर रखते ही हैं फिर भी मुंह पर वस्त्र बांधने वाले मुख पर वस्त्र धारण करने वाले कहे जाते हैं। हाथ में वस्त्र रखने वाले मुंह पर मुंहपत्ति बांधने वाले नहीं कहे जा सकते। यदि ऐसा मानेंगे तो बहुत से हाथ में रुमाल रखते हैं और वे दुर्गन्धादि स बचने के लिये सुगंधादि पदार्थ सूंघा करते हैं वे भी तुम्हारे कथनानुसार मुंह पर मुहपत्ति रखने वाले ठहर जायेंगे। इससे बड़ी भारी दोषापत्ति पैदा होगी। अतएव मुंह आगे वस्त्र लगाने वाले मुंह पर वस्त्र धारण करने वाले नहीं कहे जा सकते।

और इसी अभिप्राय स श्रीमाल पुराण क ७२ व अध्याय के ३१वें श्लोक में मुंह पर वस्त्र धारण करने वाले कहा है —

यथा —

मुखे दधानो मुपन्ति विभ्राणो दण्डकं करे।
शिरसा मुण्डनं कृत्वा कुर्वीथ कुक्षेऽकां दधत्॥

श्रीमाल पुराण अ० ७२ श्लोक ३१

अर्थात्—मुंह पर वस्त्र धारण करने वाले अर्थात् बांधने वाले हाथ में दण्ड धारण करने वाले सिर के बालों का लोच करने वाले बगल में रजोहरण रखने वाले जैन मुनि कहलाते हैं। यदि तुम कहोगे

कि मुँहपत्ति बांधने वाले दण्ड तो नहीं रखते हैं ? फिर यह श्लोक प्रमाण भूत में कैसे माना जा सक्ता है ? ठीक है। भगवान का हुक्म सब को दण्डा रखने का नहीं है। सिर्फ वृद्ध, तपस्वी, बीमार ही दण्डा रख सक्ते हैं ऐसा व्यवहार सूत्र के आठवें उद्देशे मे फरमाया है। उस मुताबिक मुंह पर वस्त्र बांधने वाले वृद्ध, तपस्वी, बीमार दण्ड रखते ही हैं। इसलिये मुंह पर वस्त्र धारण करने वाले श्वे० स्थानकवासी साधु हैं और उन्हीं के प्रमाण मे यह श्लोक है।

आगे चल कर दण्डीजी उसी पृष्ठ मे लिखते हैं —

"अवतार चरित्र मे भी मुंहपत्ति शब्द का पर्याय मुखपट्टी नाम मात्र लिखा है उसको देख कर हमेशा बांधने का ठहराना बड़ी भूल है।"

दण्डी जी ! यह लिखकर तो तुमने एक मायाचारी का सा काम किया है क्योंकि मुखपत्ती के साथ बाधने का जो शब्द था उसको उड़ा कर जनता के सामने सच्चा होने का दावा पेश कर दिया। पर सत्य खोजी सज्जन पुरुष अब तुम्हारी ढोल की पोल मे घुसने वाले नहीं हैं। वे सत्य ही ढूँढ़ने वाले हैं।

दण्डियों जरा आंखें खोल कर देखो तो सही "अवतार चरित्र" मे स्पष्ट क्या लिखा है ?

छन्द पद्धरि

नित कथा यज्ञ घातक निदान, धरि नयन मूंदि अरिहंत ध्यान।
सब श्रावक पोषादि वश साधि मुखपट्टि रुद्ध आरंभ उपाधि॥

अर्थात्—प्रतिदिन यज्ञ खण्डक कथा करने वाले और नेत्रों को बन्द कर अरिहन्त का ध्यान धरने वाले, पौषधादि व्रत श्रावकों को कराने वाले और मुखपट्टि (मुखवित्रका) "रुद्ध" बांधने वाले 'आरंभ' पचन

पावन भूमि आदि आरम्भ से विरक्त 'उपाधि' अस्य उपाधि वाले जैन मुनि हैं।

पाठक गण! देखिये, इस में बाँधने का उल्लेख होते हुए भी वरछी जी ने अपने लेख के शब्दों में उक्त शब्द लिया ही नहीं सिर्फ मुख-पट्टी नाम मात्र ही देकर भोले लोगों को भ्रम में डालने का प्रयत्न किया है। यह इनकी कपटाई नहीं तो और क्या है? विचार शीलो! अवतार चरित्र से मुँहपत्ति मुँह पर बांधना साफ जाहिर हो रहा है तो भी ये नहीं मानते। यह बाल हठ है। अतएव इन वक्रियों की मायाजाल में न फँस मध्यात्मा मुँह पर मुँहपत्ति बांध कर ही विचरें।

आगे चल कर वरछी जी उसी पृष्ठ पर लिखते हैं—

"ढूँढिया कहते हैं नाक की श्वास (हवा) से जीव नहीं मरते इस लिये नाक खुला रखते हैं यह भी झूठ है।"

वरछी जी! अब तो झूंठ की हद हो गई। हम नाक से जीव नहीं मरते इसलिये नाक खुला रखते हैं, बांधते नहीं हैं ऐसा कदापि नहीं मानते। श्वे० स्थानकवासी जैन साधु सूत्र के अनुसार मुँह पर ही वस्त्र बांधते हैं। यदि मुँहपत्ति से मुँह बांधने के साथ नाक बांधने का भी सूत्र में उल्लेख होता तो वरछी जी का कहना ठीक था। किन्तु वे सत्य क्या करें। देखो भगवती सूत्र के १६ वें शतक के २ रे उद्देश में भगवान ने निरवद्य भाषा वही कही है जो खुले मुँह नहीं कही गई हो। इस जगह मुँह ढकने की भांति नाक ढकने का भगवान ने उपदेश दिया होता तो भी इस का कहना अवश्य सत्य समझा जाता। किन्तु मुँह के साथ नाक ढकने का कथन नहीं है, इसलिये वरछीजी का कहना मिथ्या है।

फिर भी देखो। तुम्हारे ही माननीय हेमाचार्य विरचित योग शास्त्र के ५४५ पृष्ठ पर मुख का उष्ण वायु से होने वाली हिंसा को रोकने के लिये मुँहपत्ति कही पर नाक से होने वाली हिंसा को रोकने

चित्र परिचय के लिये

(२) तेतली प्रधान की स्त्री के सामने कान में अंगुलियें डाल कर सुव्रताजी की आर्या खड़ी हुई हैं और उनके किये प्रश्न का उत्तर दे रही है।

श्री जैनोदय प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम

के लिये मुँहपत्ति कही पर नाक से होने वाली हिंसा को रोकने के लिये नहीं देखो मूल पाठ.—

"मुख वस्त्र मिति संपातिम जीव रक्षणा दुष्ण मुख वात विराध्यमान बाह्य वायु काय जीव रक्षणान्मुखे धूल प्रवेश रक्षणाच्चोपयोगीति" योग शास्त्र पृष्ठ २४५। इसी मूल का अर्थ भाषा में छपा हुआ पृष्ठ २६०-२६१ मे छपा है—"मुहपत्ति पण उडी ने मुख माँ पडता जीवो, तथा **मुखना उष्ण श्वास थी बाहारना वायुकाय जीवोंनी विराधना टालवा माटे छे** तेम मुख माँ पडती धूलने पण अटकाववा माटे छे"

दण्डीजी ! यदि मुँहपत्ति नाक की हवा से होने वाली हिंसा को बचाने के लिये होती तो अवश्य इस योग शास्त्र मे इसी जगह उल्लेख मिलता कि "मुँहपत्ति मुख की उष्ण श्वास थी और नाक की हवा थी **बाहार ना वायु काय जीवोंनी विराधना टालवा माटे छे** परन्तु नाक की हवा का कथन नहीं है इसलिये मुँहपत्ति मुँह पर ही बाधी जाती है नाक पर नहीं।

आगे चल कर दण्डीजी उसी पृष्ठ मे लिखते हैं.—

"नाक के श्वासोश्वास के झपाटे से छोटे २ जीवो की हिंसा का कहना ही क्या परन्तु डास, मच्छर, मक्खी आदि भी नाक में घुस जाते है और मर भी जाते है।"

दण्डीजी ! ठीक है तभी तो भगवान ने छींकते समय आडा हाथ लगाने को कहा है। क्योंकि छींकते समय नाक की हवा बहुत तेज होती

है जिसके झपाटे में क्या त्रस जीव नाक में घुस आ सकते हैं पर तुम्हारे कहे अनुसार यदि नाक में त्रस जीव घुस जाते हैं इसलिये नाक पर मुँहपत्ति बांधी जाय तो कान में भी तो त्रस जीव घुस आ सकते हैं। फिर मुँहपत्ति कान पर भी बांधना होगी।

वयोजी ! खूब ही बढ़िया तर्क निकाली। कल तो आप कान पर भी बांधने को लिख देंगे पर क्या विद्वान् तुम्हारी इन अपठित युक्तियों पर नहीं हँसेंगे ? क्या वे तुम्हें पबूल की गप्प गाथा कहने वाले नहीं मानेंगे ? अस्तु । आपकी यह तर्क मिथ्या है और शास्त्रकारों ने कान, नाक पर नहीं लेकिन मुँह पर ही मुँहपत्ति बांधना फरमाया है।

फिर भी सोचो तो सही कि मुँहपत्ति मुख्य वायु काय के जीवों की विराधना न हो इसीलिये बांधना फरमाई है जो भी अपनी ओर से क्रिया करने पर हवा पैदा होती है। उससे होने वाली हिंसा के बचाव के लिये भगवान ने मुँहपत्ति बांधना फरमाया न कि स्वाभाविक हवा के बचाव के लिये और ऐसा कह भी नहीं सकते, क्योंकि उसका बचाव हो ही नहीं सकता। भगवान ने फरमाया कि मक्खी के पैर एवं पंख तक हिलने से हिंसा होती है पर शरीर के रोमोष्ठ, आंख के भ्रू, सिर के बाल जो प्राकृतिक वायु उत्पन्न होने से हिलते हैं, इनके हिलने की किंचित हिंसा इरियावही की क्रिया तेरहवे गुणस्थान तक लगती है। इसका सर्वथा बचाव चौदहवें गुण स्थान वाले कर सकते हैं। इसलिये मुँहपत्ति नाक पर न बांध कर मुँह पर बांधना ही युक्ति संगत है और शास्त्रकारों से भी यही प्रमाणित होता है कि मुँहपत्ति मुँह पर ही बांधी जाती है।

आगे चल कर वयोजी उसी पृष्ठ में या लिखते हैं कि —

मुँह का श्वास बाहर निकलते ही फैल कर जल्दी ठंडी हो जाती है और नाक की श्वास १०-१५ अंगुल तक जोर से धमनी की तरह गरम - चली जाती है।

दण्डीजी ! आपका यह कथन भी नितान्त मिथ्या है क्योंकि मुँह की हवा की समानता नाक की हवा कभी नहीं कर सकती और इसका अनुभव पाठकों को भी होगा ही कि नाक की हवा दूर जाती है या मुँह की ? सामान्य अक्लमन्द भी नाक की हवा मुँह की हवा की समानता नहीं कर सकती यही उत्तर देगा फिर दण्डीजी किस कल्पना से नाक की हवा तेज कह बैठे ?

यह दण्डीजी का सफेद झूंठ है। श्वे० स्था० जैन साधु तो सभी दया करने के लिये ही मुँहपत्ति मुह पर बांधते है। आप अपने दिल से पूछ देखो कि मुँहपत्ति मुँह पर बांधने से मुँह की वायु से होने वाली हिंसा रुकती है या हाथ में मुँहपत्ति रखने से ? इसका निष्पक्ष श्रावक और आपका सच्चा दिल व आपके ही अनुयायी यही उत्तर देंगे कि हाथ में मुँहपत्ति रखने वाले से ठीक इस हिंसा का बचाव नहीं हो सकता क्योंकि खुले मुँह बहुत वक्त बोला जाना सम्भवनीय है। और बहुत वक्त खुले मुँह दण्डी लोग बोलते भी है।

हम अनुभव से कहते है कि कहीं दण्डी लोग उनके अनुयायियों से खुले मुँह बातें करते हों और वहां श्वे० स्थानकवासी जैन साधु चला जाय तो वे दण्डी श्वे० स्थानकवासी जैन साधु को देख कर शीघ्र ही मुँह के आगे मुँहपत्ति दे लेंगे अगर पास में मुँहपत्ति न होगी तो चद्दर, कम्बल आदि का पल्ला ही लगा लेंगे। पर उनके सामने खुले मुँह न बोलने का ढोंग रचेंगे। अस्तु, इतना विचार है तो कभी रास्ते पर भी आ जाना सम्भव है। पाठक ! उनकी क्रिया देख अवश्य ही सत्यान्वेषण करेगे।

आगे चल कर दण्डीजी पृष्ठ ७२ के हेडिंग में लिखते हैं कि —

"मुँहपत्ति डोरा डाल कर बांधना नहीं लिखा।"

पाठक ! दयाभाग्य का अज्ञानता इसी से सिद्ध हो जाती है कि जब मुँहपत्ति बाँधना लिखा है तो डोरा स्वयं सिद्ध हुआ फिर इसकी तक क्यों ? जो मूल सूत्र द्वाव है उनके भाव व रहस्य वह गंमार हैं उन के भाव शब्दों में लम्बा चौड़ा आशय भरा हुआ है यही क्यों 'सूत्र' शब्द की व्याख्या ही देखिये "सूचयन्ति सूत्रयंति अल्पाक्षरैर्बहून्यर्थाणि इति सूत्रम्" अर्थात् थोड़े अक्षरों में बहुत अर्थ हो उस सूत्र कहते हैं।

दयाद्वीजी ! जरा आशय को भी समझा करो। केवल शब्दार्थ पर ही उत्तर पड़ोगे तो एक पद भी चलना कठिन होगा। देखो सूत्र को। "भायणाई वत्थाय पडिलेहइत्ता" इस वाक्य में (भायणाइ) भाजन अर्थात् पात्र और (वत्थाई) वस्त्र को (पडिलेहइत्ता) प्रति लेखणा करना। किन्तु आँख से प्रतिलेखणा करना ऐसा न होने पर भी अर्थ करने वाले 'आंख' शब्द समझ ही लेते हैं। इसी तरह "भायणाई उगिण्हइत्ता" इस वाक्य में भी 'हाथ' शब्द न होने पर भी हाथ में पात्र ग्रहण किये ऐसा अर्थ करना ही होगा। इसी प्रकार मुँहपत्ति में डोरा अर्थ के साथ है ही और व्याकरण भी यही कहता है कि— "यन विना यदनुपपन्नं तत्तेनापि शिप्यत" अर्थात् जिसके बिना जो अर्थ सिद्ध नहीं होता है उसका आक्षेप हो जाता है। फिर मुँहपत्ति बाँधने में डोरा कहाँ से लाए ऐसी दयाद्वी लोगों की शर्मनाक अज्ञानता प्रकट करती है।

दयाद्वी लोगो ! सूत्रों के अर्थ में प्राय: लक्षणा होती है। जैसे भारतवर्ष धार्मिक है। इसमें अभिधान के अनुसार भारतवर्ष एक देश का नाम है और देश धार्मिक नहीं हो सकता। परन्तु इस जगह लक्षणा से भारतवासी लोग धार्मिक हैं ऐसा अर्थ लिया जायगा। ठीक इसी प्रकार 'मुख वस्त्रिका के बाँधने के साथ डोरा भी अर्थ में लिया जायगा' क्या

लक्षणा से इस प्रकार का अर्थ माननीय है ? और उसका प्रयोग कहाँ तक हो सकता है ? ऐसे प्रश्न तार्किकों के फिर भी हो सकते हैं ऐसी दशा में इसका उत्तर दे देना भी अनुचित नहीं होगा। इसलिये युक्तियों व उदाहरणों के साथ इस पर विचार करेंगे।

प्रिय पाठक ! इसे सारे विद्वान् मानते हैं कि लक्षणा साहित्य का एक मुख्य अंग है लक्षणा काव्य के भाव को पूर्ण बनाती है। उस काव्य का संसार में आदर नहीं होता जिसमें शब्दों की बाहुल्यता व अर्थ की अल्पता हो। उत्तम काव्य वे हैं जो थोड़े शब्दों में ज्यादह भाव व्यक्त कर सकें। और उसका तात्पर्यार्थ लिया जा सके। जो ऐसे काव्य होंगे उनमें और २ अंगों के साथ लक्षणा अवश्य होगी। ऐसी स्थिति में लक्षणा से अर्थ करना ठीक, व सही व सत्य है। जिसको थोड़ा सा भी साहित्य का ज्ञान है वह ऐसा मानने में आगा पीछा नहीं कर सकता।

अब यह देखना है कि इसका प्रयोग कहां तक होता है ? इसका प्रयोग प्रत्येक मनुष्य की जिव्हा द्वारा नित्य प्रति होता रहता है और उसमे तार्किकों की कोई गुजर नहीं।

देखिये ! कोई किसी से कहे कि पानी लाओ, अगर तार्किक इसमे तर्क करें कि लोटे मे पानी भर कर लाना नहीं कहा, तो क्या पात्र बिना पानी भर कर आ सकता है ? नहीं, परन्तु लोटे के कहने की उतनी आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार 'रोटी खाओ' इसमे यही अर्थ सिद्ध निकलता है कि हाथ से लेकर मुँह मे रोटी खाओ दांतो मे चबाओ। परन्तु जो नेत्र विहीन हैं जिनके हृदय पट पर विद्या की रूप रेखाएं खींची नहीं हैं वे चाहे इसे न माने बाकी के इस थोड़े से वाक्य में बहुत ज्यादह समझ सकते हैं। रथी अगर अपने सारथी को रथ लाने की आज्ञा दे तो क्या यह कहने की आवश्यकता प्रतीत होगी कि घोड़े जोत कर लाओ। नहीं, वह स्वय समझ कर घोड़े जोत कर ही लावेगा।

ऐस मालूम होता है कि जितना कहते ही लोग आशय समझ जाते हैं। वैसे ही शब्दों में मुख वस्त्रिका बांधने का समावेश है और इस का अर्थ भी लक्षणा से ये ही होता है कि मुख वस्त्रिका डोरे से बांधी जाती है। सूत्रकार के आशय से स्पष्ट सिद्ध है कि मुँहपत्ति के साथ डोरा शब्द भी गुप्त रीति से लगा हुआ है।

अफसोस है कि इतने प्रमाण होते भी वृगजी लोग अपना हठ नहीं त्यागते और डोरा शब्द कहां चला ऐसा कह बैठते हैं। उन हठवादियों से पूछते हैं कि साध्वी के साड़े में डोरा बांधना सूत्रकार ने किसी सूत्र में नहीं कहा फिर भी सब साध्वियें डोरे से साड़ा बांधती हैं तो वे ऐसा कौनसे सूत्र के आधार से करती हैं? यदि पीत वस्त्रधारी साध्वी साड़े को डोरे से नहीं बांधती होती तो वृगजी लोगों का कहना कुछ अंश में ठीक भी कहा जाता। पर जब वे ही बांधती हैं तो तुम्हारे प्रश्न के साथ ? यह भी प्रश्न होता है कि वे साड़े में डोरा किस सूत्र के न्याय से लगाती हैं? बस इसी उदाहरण का खण्डन के लिये आगे वृगजीजी लिखते हैं कि —

'गुह्य और लज्जनीय स्थान बांधने का दृष्टांत बतला कर जगत में प्रकट और शोभनीय मुँह बांधने का डोरा साबित करना बड़ी भारी निर्विवेकता है।'

वृगजीजी! यहां अविवेकता तो तुम्हारी ही मालूम होती है क्योंकि मुँहपत्ति बांधने के लिये डोरा तो स्वयं सिद्ध हो चुका केवल डोरे की पुनः सिद्धि के लिये साड़े का उदाहरण दे तुम्हें सावधान किया पर तुम गुह्य स्थान और मुँह का अन्तर बता इसे निर्मूल समझते हो तो तुम्हारी यह तर्क चल नहीं सकती। क्योंकि जिसके मुँह है उसके गुह्य स्थान भी है। एक शरीर में दोनों का रहना नितांत आवश्यक है। गुह्य स्थान शब्द लिख कर तो तुम स्वयं उपहास के पात्र हो गए। मगर हम नहीं मानते

पाठक इस बात का जरा निष्कर्ष निकालें। फिर साधुओं को तो, श्वेत वस्त्रों को धारण करने के सिवाय अन्य किसी भी प्रकार के रंगीन वस्त्रों को कभी भी धारण न करना चाहिये। क्यों कि भगवान की ओर से भी इस काम के लिये उन्हें सख्त मनाई की गई है। इस विषय के प्रमाणों का उल्लेख, यथोचित रूप से, यथा स्थान, मैं पहले ही कर आया हूँ। परन्तु बेचारे दण्डी लोग तो भगवान की इस आज्ञा का सिर से पैर तक उल्लंघन करने ही में अपने दण्डीपन की मान मर्यादा समझ बैठे हैं और यही कारण है कि वे अपने पीले रंग वाले कपड़ों की मोह-ममता में दिन-रात अधिकाधिक रूप से फसे रहते हैं। इतना ही नहीं, दण्डी के नाते, वे अपने आपको जगत् में विद्वद्-शिरोमणि भी मानते हैं। हम उनकी विद्वता के सम्बन्ध में अपनी ओर से एक शब्द भी न कहकर इसके निर्णय का भार अपने विचारवान् पाठकों ही के ऊपर छोड़ देते हैं। पर इसके साथ ही प्रकृति-जगत् के दो एक उदाहरण भी हम यहां रक्खे देते हैं, जिससे अपने आपको विद्वान मानने वाले इन दण्डियों की योग्यता का अनुमान; पाठक सहज ही में कुछ लगा सकेंगे कि दर-अस्ल में प्रकृति की पाठशाला में ये किस लियाक़त के लोग हैं।

देखिये, (१) मनुष्यों के बच्चों के बालों का रंग अकसर उनके बालक-पन में काला होता है। परन्तु जैसे जैसे उनकी आयु बढ़ती जाती है, जैसे जैसे वे अनुभवी बनते जाते हैं, उनकी प्रकृति स्वयं ही उनके बालों के काले रङ्ग को छोड़कर सफेदी को अपने सिर और फिर क्रमशः अपने सारे शरीर पर धारण करती जाती है। अर्थात् जहां प्रकृति की चाल रङ्गीन वाले की ओर से बिना रङ्ग वालों की ओर होती है, वहां हमारे इन दण्ड धारियों की दौड़ बेरङ्ग की ओर से रङ्गीन बनने की ओर होती जाती है। (२) साधारण दीपक का प्रकाश पाठक प्राय. धुँधला और पीला देखेंगे, परन्तु उसी प्रकाश को वे पहले से अधिकतर हवा के, यथोचित रूप में, मिलने पर अधिक उन्नत चमकीला और श्वेत रंग में बदला देखेंगे। दीपक की उन्नतावस्था में यहां भी वही रफ्तार प्रकृति की पाठक

बालक के गेंद क्यों बड़ी छोटा न लगाइये कि भींत पर फेंकी हुई गेंद वापस बालक पर ही आ पड़े।

फिर भी देखिये। दिन में प्रायः पूंजने की आवश्यकता न होने पर भी रजोहरण साथ ही रक्खा जाता है इसमें कोई दोषापत्ति नहीं आती यह बात दण्डीजी भी स्वीकार करते हैं। ऐसे ही बोलने की आवश्यकता हो या न हो मुहपत्ति हमेशा मुंह पर ही बांधना आवश्यक है। यही वीर आज्ञा है और इसमें कोई दोषापत्ति नहीं है। जो दोषापत्ति कहते हैं व स्वमत सिद्धि के लिये गहरी अज्ञानता के वश ऐसा कहते हैं।

आगे चल कर दण्डीजी पृष्ठ २३ पर लिखते हैं कि ——

"छींक करते समय नाक की यतना करने का उपयोग न रहे तो मुंह की तरह इंद्रियों को नाक भी हमेशा बांधा रखना चाहिये।"

दण्डीजी! ऐसा लिख कर पुनः पिष्ट पेषण कर रहे हो पाठक सोचेंगे कि दंडीजी की बुद्धि को कहीं अजीर्ण तो न हो गया है?

पाठक! देखें कि उपयोग न रहने के कारण हम हमेशा मुंहपत्ति बांधते हैं जब हम ऐसा नहीं कहते तो इसी विषय को पुनः दुहराने की क्या आवश्यकता है? और नाक बांधने का उत्तर हम पहिले ही लिख चुके हैं। रही अब यह बात कि छींकते समय क्या किया जाय? तो इसके लिये भगवान आचारांग सूत्र में आडा हाथ देने की आज्ञा फरमा ही चुके हैं। अब कौनसी बात सिद्ध करना रही कि जिसके कारण दंडीजी अपना हठाग्रह नहीं त्याग सकते।

दंडीजी ने इसी पृष्ठ में यह लिखा है कि जैन साधुओं का मर्यादी की उपमा दी है पर यह उपमा दंडी लोगों पर घटती है या औरों पर,

इसी तरह मरीचि ने भी रंग वाले कपड़ों को पहन कर भगवान् की आज्ञा के प्रतिकूल ही काम किया है। अतः रंगीन कपड़ों को धारण करने वाले मरीचि की उपमा, रंगीले कपड़ों को पहनने वाले दण्डियों पर भले ही घटित होती है, परन्तु श्वे० स्था० जैन साधुओं के साथ मरीचि का मिलान करना, बिलकुल बेकार और कहने वाले की विवेक हीनता ही को दर्शाने वाला दीख पड़ता है क्योंकि, भगवान् की आज्ञाके अनुसार, ये लोग तो श्वेत वस्त्र ही को धारण करते हैं। यह वेश बदलने का सवाल तो दण्डियों ही के लिये लागू पड सकता है, जो सफेद कपड़ों को पहनना छोड़कर, पीलों को पहनने के पीछे दौड पड़े हैं। जब वेश बदलना इनका सिद्ध हो चुका, तो इससे यह भी सिद्ध हो गया, कि इसी भांति बेचारी मुंहपत्ती को भी ये मुंह से घसीट कर, इधर उधर बांधने तथा हाथ में कमर में या उपाश्रय में, रख देना ये सीख गये हैं। परन्तु दण्डियों को ऐसा करना किसी भी प्रकार उचित न तो था ही; और न है ही। श्री वीर भगवान् ने जैसा भी साधुओं के लिये फर्माया है, उसी के अनुसार शुद्ध संयम का पालन कर, मानव-जीवन को सफल बनाना इनका कर्तव्य था। "एक तो चोरी और फिर सरजोरी" के नाते, क्यों तब ये लोग माया ममता भरे लेख लिख कर भोली भाली जनता को बहकाने और पाप के गहरे और अंधेरे खड्डे में गिराने का प्रयत्न करने लगे, ज्ञाव नहीं होता ?

आगे चल कर, दण्डी जी फिर उसी पृष्ठ में यों लिखते हैं:—

"ढूंढिये एक जगह लिखते हैं, कि भगवान् ने भगवती आदि आगमों में मुंहपत्ति बांधना कहा है।"

महाशयों! श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन साधु तो भगवती आदि आगमों के प्रमाणों ही के आधार पर मुंहपत्ति को सदा सर्वदा मुख पर बांधे रहते हैं। दण्डियों का यह कथन राई-रत्ति सत्य है पर उनका यह कथन कि "एक जगह लिखते हैं" निरा गफलत से भरा और ग़लत है। हमारा कहना तो यह है, कि अनेकों ग्रन्थों में इस का कथन अनेकों स्थलो पर आया है, हमने भी कई ग्रन्थों में यथा स्थान इसका कई बार प्रतिपादन किया है, करते हैं और कहते भी हैं।

देखेंगे, जैसा कि अभी ऊपर हम कह आए हैं। (३) दुनियां की किसी भी रंगीन वस्तु को लीजिये और तब उस पर धूप, वर्षा, ओसकण आदि का कुछ दिन तक पूरा पूरा असर होने दीजिये। तब फिर देखिये आपको वहां पहले के रंग रूप का कोई आभास भी न मिल सकेगा। इस बार आप उसे एकदम चमक-दमक हीन इसके रंग वाली और होकर के धूप सफेदी को ग्रहण करने वाली देख पायेंगे। (४) कोयले जो काला स्याह होता है जल जाने पर राख में बदल जाता है और यह राख सफेद रंग की होती है। (५) मनुष्यों की श्याम और रतनारे आंखों पलकों की उसाढ़ कर वर्षों से मृत्यु के बाद सफेद दीख पड़ती है। और (६) अक्सर देहाती बच्चे, रंगीन और मोटे कागजों पर काली स्याही से पढ़े बड़े या, जैसे वे चाहें उस आकार प्रकार के सुन्दर अक्षर लिखकर उन्हें कोयले से पोत देते हैं। इस काला लगे कागज को अब वे किसी समथल और चिकने पत्थर पर औंधा पटक कर उसकी पीठ को पानी की ऐसी मार से मारते हैं, जिससे कागज पर जोर तो लगे, पर कागज फटे नहीं। यों कुछ मिनिटों तक बच्चे उसे धोते रहते हैं। अन्त में, उसे वैसे ही गीले रूप में पत्थर से उठाकर सुखा लेते हैं। कागज के सूख जाने पर, काले अक्षर अब उन्हें सफेद रूप में मिलते हैं।

इसी प्रकार और भी अनेक उदाहरण दिये जासकते हैं। हमारे इन सभी उदाहरणों से पाठकों ने भली भांति समझ लिया होगा, कि स्वयं इस जगत् की प्रकृति भी काले पीले, नीले हरे सभी प्रकार के रंगों के भेदाभेद को जड़ मूलसे मिटाकर, एकमात्र सफेदी, और केवल सफेदी को धारण करना चाहती है। परन्तु हमारे इन दण्डधारी व्यक्तियों की गति, प्रकृति की चाल से भी बिलकुल न्यारी ही दीख पड़ती है। ये बेचारे सात्विक और सर्वव्यापक सफेदी के एकाकार भाव को, साम्प्रदायिक संकुचित भावों के भेदाभेद के बीच रंग में रंग देना चाहते हैं। ये इसी में अपना कल्याण मानते हैं। पाठको! इनके भाव कुछ भी हों, पर जगत् के भावे तो इनकी यह भेदाभेद की, रंगाई आत्म-बोध और आत्म-कल्याण के मार्ग से इन्हें कोसों दूर ले जा पटकती है।

इसी तरह मरीचि ने भी रंग वाले कपड़ों को पहन कर भगवान् की आज्ञा के प्रतिकूल ही काम किया है। अतः रंगीन कपड़ों को धारण करने वाले मरीचि की उपमा, रंगीले कपड़ों को पहनने वाले दण्डियों पर भले ही घटित होती है, परन्तु श्वे० स्था० जैन साधुओं के साथ मरीचि का मिलान करना, बिलकुल बेकार और कहने वाले की विवेक हीनता ही को दर्शाने वाला दीख पड़ता है क्योंकि, भगवान् की आज्ञाके अनुसार, ये लोग तो श्वेत वस्त्र ही को धारण करते हैं। यह वेश बदलने का सवाल तो दण्डियों ही के लिये लागू पड़ सकता है, जो सफेद कपड़ों को पहनना छोड़कर, पीलों को पहनने के पीछे दौड़ पड़े हैं। जब वेश बदलना इनका सिद्ध हो चुका, तो इससे यह भी सिद्ध हो गया, कि इसी भांति बेचारी मुहपत्ती को भी ये मुंह से घसीट कर, इधर उधर बांधने तथा हाथ में कमर में या उपाश्रय में रख देना ये सीख गये हैं। परन्तु दण्डियों को ऐसा करना किसी भी प्रकार उचित न तो था ही, और न है ही। श्री वीर भगवान् ने, जैसा भी साधुओं के लिये फर्माया है, उसी के अनुसार शुद्ध संयम का पालन कर, मानव-जीवन को सफल बनाना इनका कर्तव्य था। "एक तो चोरी और फिर सरजोरी" के नाते, क्यों तब ये लोग माया ममता भरे लेख लिख कर भोली भाली जनता को बहकाने और पाप के गहरे और अंधेरे खड्डे में गिराने का प्रयत्न करने लगे, ज्ञात नहीं होता?

आगे चल कर, दण्डी जी फिर उसी पृष्ठ में यों लिखते हैं:—

"ढूंढिये एक जगह लिखते हैं, कि भगवान् ने भगवती आदि आगमों में मुंहपत्ति बांधना कहा है।"

महाशयो! श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन साधु तो भगवती आदि आगमों के प्रमाणों ही के आधार पर मुंहपत्ति को सदा सर्वदा मुख पर बांधे रहते हैं। दण्डियों का यह कथन राई-रत्ति सत्य है पर उनका यह कथन कि "एक जगह लिखते हैं" निरा गफलत से भरा और गलत है। हमारा कहना तो यह है, कि अनेकों ग्रन्थों में इस का कथन अनेकों स्थलों पर आया है, हमने भी कई ग्रन्थों में यथा स्थान इसका कई बार प्रतिपादन किया है, करते हैं और कहते भी हैं।

आगे चल कर दृंढकजी उसी पृष्ठ पर फिर भी यों लिखते हैं—"दूसरी जगह लिखते हैं, भगवान् ने आगमों में बांधना नहीं कहा। परन्तु सम्वेगियों के "आचार-दिनकर", "ओघ निर्युक्ति" आदि प्राचीन शास्त्रों में लिखा है।"

दृंढकजी आपका यह लिखना बिलकुल मिथ्या है। जान पड़ता है आप अपनी बेचारी अक्ल के पीछे डंडा लेकर ही दौड़े फिरते हैं। हमने तो किसी भी स्थल पर ऐसा नहीं लिखा कि "भगवान् ने आगमों में बांधना नहीं कहा।" दृंढकजी सत्य का इतना सफाया तो एकदम न कीजियेगा। दूसरों की नहीं लिखी हुई बातों को मनोकल्पना से खुदबखुद लिख मारना और उसका दोष दूसरों के सिर मढ़ना यह आपके माया का प्रत्यक्ष नमूना है। आप चाहे कुछ भी कीजिये, सत्य स्वयं प्रकाशमान है। वह किसी के छिपाये यों छिप नहीं सकता। आपके द्वारा भोले भाले लोगों को अपनी माया जाल में फंसाने की काली करतूतें सत्यान्वेषक लोगों को सदा स्मरण रहेंगी। हां यह बात तो अवश्य है, कि आगमानुसार मुंहपत्ति को हम लोग मुंह पर सदा बांधते हैं। इस शास्त्रीय विषय को पुष्ट करने के लिये, हम दृंढियों के माननीय ग्रन्थों के उनके प्रमाण हमने यथा स्थान दिये हैं। और जहां भी इनकी ज़रूरत होती है समय २ पर भी उन्हें हम उद्धृत करते रहते हैं।

दृंढकजी उस पृष्ठ ९५ पर यों लिखते हैं—"प्राचीन शास्त्रों में हमेशा बांधना नहीं लिखा।"

दृंढकजी का यह लिखना नितान्त मिथ्यात्व से भरा है। हमने कभी भी और कहीं भी ऐसा नहीं लिखा और न कभी हमने ऐसा कहा ही और न कहते ही हैं। किन्तु हां, मुंहपत्ति को सदा मुंह ही पर बांधने के शास्त्रिय नियम को परिपुष्ट करने के लिए दृंढियों ही के द्वारा माननीय भुवन भानु, केवली आदि ग्रन्थों तथा रासों के प्रमाणों को हम यत्र-तत्र दे देते हैं।

फिर दृंढकजी उसी पृष्ठ पर और भी यों लिखते हैं कि "जैन शास्त्रों में तो नहीं लिखा परन्तु अन्य, दृंढीयों के शिव पुराणादि ग्रन्थों में तो लिखा है।"

दण्डीजी का यह लिखना बिलकुल गैर वाजिब है। क्योंकि " जैन शास्त्रों में नहीं लिखा।" ऐसा किसी भी जगह न तो हमने लिखा ही है और न ऐसा हम कभी कहते ही हैं। किन्तु हां, मुंह पत्ति को हमेशा बांधे रहने के शास्त्रीय प्रमाणों को सिद्ध और पुष्ट करने के लिये, अन्य दर्शनिकों के शिव-पुराणादि ग्रन्थों का हवाला हम यत्र-तत्र दे देते हैं।

दण्डीजी फिर उसी पृष्ठ पर, आगे लिखते है कि—"सोमिल तापस ने अपने मुंह पर काष्ट की पटड़ी बांधी थी। उसी तरह हम भी हमेशा मुंहपत्ति बांधते हैं।"

दण्डीजी का यह कथन भी अथ से इति तक अज्ञानता-सूचक-अज्ञानता-भरा है। क्योंकि जब सोमल तापस की तरह ही हम मुंहपत्ति को बांधते होते, तो काष्ट की पटड़ी ही को बांधते, वस्त्र की कभी नहीं। परन्तु जगत् को जाहिर है, कि हम कभी ऐसा नहीं करते।

हम तो मुंह पर वस्त्र ही बांधते हैं, न कि काष्ट की पटडी। किन्तु हां, इस उदाहरण को हम लोग यत्र तत्र क्यों दिया करते है, इसका उत्तर हम यहा दिये देते हैं। सोमिल पहले जैन धर्म में रह चुका था। बाद सत्संग के अभाव में, पूर्व जन्म के घनघाती कर्मों के उदय होने पर मिथ्यात्वी हो गया था। तथापि, वह अपने मुंह पर काष्ट की पटड़ी को बांधे रहता था। यद्यपि अन्य धर्मों में ऐसा करना कोई सैद्धान्तिक बात नहीं है। इससे तो प्रत्यक्ष भाव से यही प्रतीत होता है, कि सोमिल पहले अपने मुंह पर काष्ट की नहीं, पर वस्त्र ही की मुंहपत्ति को बांधा करता था। मिथ्यात्वी बन जाने पर भी उसने उसके उपयोग को नहीं छोड़ा। केवल उसके रूप रंग में उसने विकृति कर दी। हमारा तो उससे केवल इतना ही उद्देश्य है, कि मुंह पर काष्ट की पटड़ी का प्रयोग करते रहने पर सोमिल का पहले जैन होना सिद्ध हो जाता है। इसके साथ ही, मुंह पर वस्त्र की मुखपत्ति का होना भी जब अपने आप प्रमाणित हो ही जाता है। इसीलिये हम अकसर सोमिल के उदाहरण को इधर उधर देते हैं।

फिर पाठक यह तो आप भलीभाँति जानते ही हैं कि प्रत्येक वस्तु अपने उचित स्थान ही पर शोभती है, तथा वहीं पर उसकी पवित्रता का निर्वाह और उचित उद्देश्यों की पूर्ति हो सकती है। स्थान भ्रष्ट होने से उसके उन सभी कामों में विकृति भी आती है। उदाहरणार्थ रोशनाई जब तक यह दवात में रहती है, रोशनाई है उसकी लोगों को जरूरत रहती है, उसी समय तक दवात की तथा उसकी शोभा भी है और मोल भी उसका तभी तक है। परन्तु दवात से निकल पड़ने पर उसी रोशनाई का न तो अब वह मोल ही रह जाता है, न शोभा ही। साथ ही यह भी मैली, भ्रम जाती है; और जिस वस्तु पर यह गिरती है, उस भी यह मैला बना देती है। फिर किसी कार्य्य विशेष के लिये किसी वस्तु ही की विशेष आवश्यकता होती है।

अन्य वस्तुएं वहां आवश्यक और अनुपयोगी ठहरती है। जैसे, ताप मापक यन्त्र में पारे के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के तरल पदार्थ निकम्मे और निरुपयोगी सिद्ध होते हैं। हमारे इन्हीं दोनों उदाहरणों की सहायता से पाठक मुंह के ऊपर वस्त्र की मुखपत्ति के स्थान में काष्ठ की पटड़ी की उपयोगिता तथा अनावश्यकता का विचार स्वयमेव कर सकते हैं। तब हमारा ख्याल है, कि वे अवश्य ही इस तत्व की तह तक पहुँच जावेंगे कि मुंह पर काष्ठ की पटड़ी, मुखपत्ति की अन्यान्य आवश्यकताओं और उसके अनेकों उत्तम उत्तम उपयोगी अर्थात् धर्म, भ्रम और स्वास्थ्य की रक्षा करने वाले उपयोगों को पूरा करने की उसमें जरा भी गुन्जा[illegible] नहीं है।

आगे चल कर स्वामीजी उसी पृष्ठ पर हमारे कथन को यों बुदलाते हैं, "पैरों का भूषण पैरों में शोभे, वैसे ही हमारे मुंह पर बांधी हुई मुखपत्ति शोभती है।"

स्वामीजी! मुख वस्त्रिका के शब्दार्थ पर से ही, उसके स्थान विशेष और आवश्यकताओं का ज्ञान भलीभाँति हो जाता है यह मुंह पर बांधी जाती है, इसीलिये यह मुखवस्त्रिका कहलाती है यदि उसे मुंह पर से उतार कर हाथ में आ पड़की आंख तो फिर उसे मुंह

पत्ति कहने की ज़रा भी आवश्यकता प्रतीत नहीं होगी; तब तो विद्वान् लोग उसे हाथपत्ति या रूमाल आदि नामों से ही पुकारेंगे। परन्तु हां, आप जैसे दुराग्रहियों के समझाने के लिये यह कह दिया जाता है, कि जो वस्तु जहां रखने की होती है, उसी जगह वह शोभा को प्राप्त होती है। जैसे कि हाथ का भूषण पैरों में कभी नहीं शोभता। क्योंकि उसका नाम केयूर या कड़ा है। नाम के अनुसार उन्हें हाथों ही में पहना जायगा ठीक, इस भांति यौगिक शब्द मुँहपत्ति के नामानुसार, उसका मुँह पर ही बांधा जाना चाहिये और उचित है।

आगे इसके, दण्डीजी फिर कहते हैं कि "ढूंढ़िये लिखते हैं, कि शास्त्र में हमेशा मुँहपत्ति को बांधे रखने का स्पष्ट लेख नहीं है। परन्तु मुँहपत्ति शब्द से उसे मुँह पर ही बांधना मानते हैं।"

दण्डीजी को इस बात का ज़रा भी भान नहीं रहता, कि कब और कहां वे अपने सोटे को उठा करके उसे उनकी अपनी बुद्धि की कुबड़ पर मार बैठेंगे, और उसका, स्वयं उन्हीं के जीवन के लिये, कैसा घातक परिणाम होगा। "शास्त्रों में हमेशा मुँहपत्ति बांधी रखने का स्पष्ट लेख नहीं है।" पाठको! श्वे० स्था० साधुओं ने न तो ऐसा कहीं कभी लिखा ही और न वे कभी भूल कर भी इन शब्दों का उपयोग ही कहीं करते हैं। निजू तुच्छ स्वार्थ के साधन के लिये, मनोकल्पना से झूठी सच्ची बातों का लिख देना, दण्डीजी की किस गूढ़ अज्ञानता का नमूना है! हां, दण्डीजी का ऐसा लिखना सही और प्रमाणित तो जगत् में तब समझा जाता, जब वे जिस ग्रन्थ में हम ऐसा लिखते हैं, उसका नाम तथा पृष्ठादि का पूरा पूरा पता दे कर अपने कथन की सचाई को संसार के सम्मुख रखते। इससे उनके एक ही साथ दो काम सध जाते। एक तो, उनका ग्रन्थ, विद्वत्समाज में आदर की आंखों से देखा जाता। और दूसरा, उन के उस ग्रन्थ पर किसी की लेखनी भी यों कभी न उठती।

आगे चल कर, उसी पृष्ठ में, अभी तक दण्डीजी की कलम, कुछ न कुछ आड़ा टेढ़ा और गन्दा लेपन से भरा हुवा, कतर बोंत करती ही जाती है। जिसे यहां लिखकर, न तो हम पाठकों ही के

श्रम, समय, सम्पत्ति और शक्तियों का दुरुपयोग करना चाहते हैं, और न हमही उसे कुछ मानते गिनते हैं। पर हां, यह कहे बिना भी हम से, अपने कर्तव्य के नाते, नहीं रहा जाता, कि दयाजी जो भी कुछ लिखते, उसकी नींव यदि न सच्चाई, शिष्टता समाज-हित-सेवा के भावों की प्रेरणा और शास्त्र-सम्मत-विवेक के पायों पर रखते, तो, उससे जहां एक ओर उनके और समाज के श्रम, समय, शक्तियों और सम्पत्ति का व्यर्थ नाश न होते हुए, सदुपयोग होता, वहीं दूसरी ओर, वे स्वयं कई घनघाती कर्मों के कर्तापन से बाल बाल बचे रहकर, आत्म कल्याण के अनुयायी बन सकते थे। मुँह पत्ति को मुख पर बांधने के एक अति ही मुख्य कारण को हम मानते और उसे यहां लिखे देते हैं। प्रथम तो मुख की उष्ण वायु से वायु-काय-जीवों की विराधना न हो, फिर, उष्ण देश की गरमही हवा रात-दिन रहने के कारण इस कर्म योनि (शरीर का स्वास्थ्य भी न बिगड़ने पावे। इतने पर भी दयाजी बेचारे फर्माते हैं, कि बुढ़िये बिना पैंदे के लोटे की भांति एक जगह कुछ बात और दूसरी जगह कोई दूसरी बात और इसी तरह अन्य स्थल पर अन्य बात लिख मारते हैं। यह दयाजी का निर्यामत्याचार है और उनकी बुद्धि के अज्ञानता के महासागर में गोते लगाने का नमूना है। तथा, भोले भाले जीवों को बहकाने के लिए, ऐसी बे सिर-पैर की बातें लिख कर उन्होंने जिन शासन में हाथ में मुँहपत्ति रखने रूप मिथ्यात्व को फैलाने का कार्य किया है। मन्दर एक की उद्घोषणा के दिये हुए इस संक्षिप्त उत्तर को पाठक-गण ध्यान पूर्वक मनन करते हुये पढ़ने का प्रयत्न करें। भगवान् उनकी आत्मा को सत्य के ग्रहण करने की शक्ति प्रदान करे।

॥ ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ॥

श्री मोतीलालजी गांनीलालजी गांधी
पीपाड़ वालो की ओर से सादर भेंट

* ॐ *

॥ वन्दे जिनवरम् ॥

जाहिर उद्घोषणा नंबर २ का उत्तर।

सत्य का ग्रहण और झूंठ का त्याग।

प्रिय महोदयों! आगे चलकर दण्डीजी लिखते हैं कि—

"अपने से किसी कार्य में पूरा २ उपयोग न रहे कुछ भूल हो जावे, दोष लगे तो पश्चात्ताप करके प्रायश्चित लेने से शुद्ध होते हैं।

दण्डीजी इस वाक्य में उपयोग न रहे यह स्वीकार करते हैं और उद्घोषणा नं० १ के पृष्ठ २२ में ऐसा लिखते हैं कि "जिसको शुद्ध उपयोग नहीं है उससे शुद्ध संयम धर्म कभी नहीं पल सक्ता।

अब विचारिये और देखिये कि दण्डीजी की यह दुरंगी चाल कैसी
...गह तो शुद्ध उपयोग न रहने से साधु वृत्ति नहीं पल
...माये हैं और दूसरी जगह उपयोग न रहे, कुछ भूल हो
...ावे ऐसा लिखते हैं, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि भूल से
...ह पर मुहपत्ति न बांध कर बिना उपयोग के हाथ मे
...का यह फल हुआ कि सब दण्डी लोग हाथ मे रखने
...च्छे, बुरे का फल सोचे बिना अगर किसी ने मुहपत्ति
...भूल करली तो क्या उसीका अनुकरण करते रहना
...ा नहीं है? परन्तु जिनमें सोचने की ताकत नहीं है

वे भूल करने वालों पर चिपके रहें तो इसमें दूसरों का क्या दोष ? इसी तरह मुखवस्त्रिका प्रमादवश मुंह पर चटपटी लगाने से किसी ने हाथ में रखना शुरू किया होगा वही चाल चल गई और उसी पर आज सारे श्वेताम्बर ढूंढ़िये वासी साधु व श्रावक चल दिये, परन्तु उन्हें यह पता नहीं कि इन लोगों में पहिले मुख वस्त्रिका मुंह पर बांधी जाती थी हाथ में नहीं रक्खी जाती थी।

देखिये ! मानव धर्म किसी एक की भूल पर चिपकने की सलाह नहीं देता। वह चाहे गुरु ही हो अगर भूल जाय और सत्य मार्ग त्याग कर विपरीत मार्ग पर चले तो शिष्यों को उचित नहीं है कि वे भी वैसा ही करें यद्यपि भ्रम से पड़ कर उसने वह लकीर पकड़ ली हो तो लकीर के फकीर की तरह घुसी हुई कुरीतियां, शास्त्र के प्रतिकूल चली हुई चालें मिटाना चाहिये। विदित हो जाने पर भी पहलवान ताल ठोंके और पहलवानों का लंगर पहिने रहे तो यह उसकी धृष्टता है। मनुष्यत्व तो इसी में है कि अपनी भूल सुधार ले। जैसे किसी स्थान पर कुत्ते के कान फड़फड़ाने से उसका एक गल्लू (कीट विशेष) उछल कर कथा कहने वाले पंडित के मुंह में जा गिरा उसने शीघ्र ही थूक दिया जिसका अभिप्राय श्रोताओं ने यह लगाया कि कुत्ते के कान फड़फड़ाने पर थूकना चाहिये और उस कथा कहने वाले का सबने अनुकरण किया अर्थात् थूका। कथा भट्ट महा दम्भी था उसने किसी को थूकने का सच्चा कारण नहीं बताया तब से यह प्रथा प्रचलित हो गई कि कुत्ते के कान फड़फड़ाने पर लोग थूकते हैं आज उन्हें थूकने से मना करते हैं तो परम्परा के अंध भक्त नहीं मानते। इसी तरह इन दम्भी लोगों की अन्ध रूढ़ि मिटाने का प्रयत्न करते हैं शास्त्र प्रमाण दिखाते हैं पर ये हाथ में रख कर खुले मुंह बोल पाप के भागी होना ही पसन्द करते हैं।

आगे चल कर दण्डीजी ने पिसे हुए को पुनः पीस कर मुंहपत्ति बांधने में ३६ दोप बतलाये हैं इनका उत्तर हम आगमानुसार नं० १ की उद्घोषणा के उत्तर में लिख चुके हैं फिर भी दण्डीजी की मनसा मुताविक संक्षिप्त में ३६ दोप के यहाँ भी उत्तर दे देना अनुपयुक्त न होगा।

१—दण्डीजी! अनादिकाल से सब साधु मुंहपत्ति मुंह पर ही बांधते थे यह मुंहपत्ति शब्द से ही प्रमाणित होता है यदि ऐसा नहीं होता तो मुंहपत्ति शब्द के स्थान पर हाथ में रखने का उल्लेख होता और हथपत्ति नाम रक्खा होता।

२—हमेशा मुंह पर मुंहपत्ति बांधना आगमानुसार तो सिद्ध है ही, पर इन्हीं दण्डी लोगों के माननीय योग शास्त्र से हमेशा मुंह पर मुंहपत्ति बाँधना सिद्ध होता है.-देखिये योग शास्त्र के पृष्ठ २६१ पर लिखा है कि 'मुहपत्ति मुख नो उष्णश्वास थी वायुकाय जीवानी विराधना टालवा माटे छे' बस हमारा हमेशा बाधे रहना "मुख की उष्ण श्वास थी" इस शब्द के सिद्ध हो चुका। क्योंकि श्वास तो रात दिन हर समय आता है और जब श्वास हर समय आता है तो उस श्वास से 'वायुकाय जीवानी विराधना टालवा माटे मुंहपत्ति छे' ऐसा योग शास्त्र में खुले शब्दों में उल्लेख है तो फिर बाकी क्या रहा?

३—भगवती सूत्र में इन्द्र के सम्बन्ध में भगवान ने वही निर्वद्य भाषा कही कि जो मुंह पर कपड़ा बाध कर या लपेट कर बोली जाय, इस प्रमाण से सिद्ध है कि मुहपत्ति मुह पर ही बाधना चाहिये।

४—निरयावली सूत्र में सोमल तापस ने मिथ्यात्व में काष्ट की पटड़ी मुंह पर बांधी और जब वह सम्यक्त्वी थे तब उनने वस्त्र की मुंहपत्ति मुह पर बांधी थी ऐसा पूर्व परिचय सम्बन्ध से साबित होता है तो इससे प्रमाणित होता है कि जैन धर्म में मुंहपत्ति हमेशा मुंह पर ही बांधते थे और अब भी बांधते हैं।

५—दयाजीने न यह बिलकुल सफेद झूठ लिखा है कि १-२ रोज तक थूक की गीली मुंहपत्ति नहीं सूखती दयाजी ! प्रथम तो थूक से ऐसी गीली मुंहपत्ति होती ही नहीं और यदि कुछ बोलने से थूक के छोटे अंश लगे भी तो क्या दो रोज तक नहीं सूखेंगे ? अफसोस ! इतनी बड़ी झूठ बोलते भी दयाजी का हृदय कम्पित नहीं हुआ ! हो भी कैसे ? क्योंकि उन्हें तो इन्हीं थोथी बातों से पोथा भरना था ? सामान्य समझ रखने वाला भी कि भी यह कबूल नहीं करेगा कि मुंहपत्ति दो रोज में सूखेगी तो भी दयाजीने ऐसा लिख संसारको अपना पांडित्यपना दिखा ही दिया । फिर थूक में असंख्य समुर्छिम उत्पन्न होते हैं यह भी लिखना दयाजी का मिथ्या है । क्योंकि समुर्छिम उत्पन्न होने के १४ स्थानों में थूक का नाम नहीं है अगर १५ वां स्थान थूक होता तो सूत्रकार क्या नहीं लिखते ?

६—थूक से न तो ऐसी मुंहपत्ति गीली होती है और न रात में दूसरी बाँध कर सोने व अलग रखने में नीलण फूलण ही उत्पन्न होती है । दयाजी ने मुंहपत्ति में नीलण फूलण उत्पन्न होना का लिखा यह उनको सरासर झूठ है ।

७—दयाजी लिखते हैं कि थूक की गीली मुंहपत्ति बांधी रखने से मुंह झूठा रहता है झूठे मुंह से सूत्र पढ़ते हैं ।

यह भी लिखना दयाजी को बाल चेष्टा है क्योंकि थूक से ऐसी गीली मुंहपत्ति नहीं रहती और अगर मान लें कि थूक के छोटे अंश लगते भी हैं तो क्या इससे मुंह झूठा हो जायगा ? यदि ऐसा ही हो तो मुंह में थूक तो सभी के हमेशा भरा रहता है तब तो हाथ में मुंहपत्ति रख सूत्र पढ़ने वाले दयाजी लोग भी क्या झूठे मुंह पढ़ने वाले नहीं कहलायंगे ? अर्थात् अवश्य कहलायेंगे ।

८—दाढ़ी वाले को दूसरी छोटी मुहपत्ति रखना पड़े यह भी

लिखना दण्डीजी की अज्ञानता है। क्योंकि अव्वल तो दूसरी मुहपत्ति रखते भी नहीं और यदि रक्खी भी जाय तो इसमें क्या हर्ज है ? पर दण्डीजी थूक में असंख्य समुच्छिम उत्पन्न होना मानोगे तो पित्त प्रकृति वाले दण्डी लोग जब रात्रि में शयन करते होंगे तब उनके मुह से बादी का पानी निकल कर बिछौने पर गिरता होगा और तुम्हारी आमनाय के अनुसार उसमें असंख्य जीव उत्पन्न होंगे फिर दण्डीजी के करवट बदलने में असंख्य जीवों की घात भी होती होगी तो क्या पित्त प्रकृति वाले दण्डी रात भर सोते होंगे या नहीं। अगर अपनी मान्यता पर दृढ़ प्रतिज्ञ होंगे तो उन्हें रात भर जागरण कर रात व्यतीत करनी होगी।

९—दण्डीजी लिखते हैं कि मौन में मुंहपत्ति कुछ भी उपयोग में नहीं आती है। इसलिये मुंह पर बांधना निष्प्रयोजन क्रिया है यह भी कहना नितान्त मिथ्या है। क्योंकि ध्यान में रजोहरण का कुछ भी उपयोग न होने पर भी ध्यान के समय रजोहरण को रखते हैं। ऐसे ही ध्यान में बोलने का कुछ भी काम न पड़ने पर भी मुह पर मुंहपत्ति बंधी रखना मुनियों का कर्त्तव्य है।

१०—मुंहपत्ति तो हमेशा मुंह पर बांधने के ही काम आती है। नाक, कान, मस्तिक पर सचित्त रजादि या सूक्ष्म जीव हो तो छोटी प्रमार्जिनी जो हर एक साधु के पास रहती है उससे दूर कर लेते हैं और इसीलिये भगवान ने छोटी प्रमार्जिनी रखने का हुक्म दिया है। छींकते समय नाक के आगे हाथ लगा लेना शास्त्रोक्त विधि है।

११—दण्डीजी कहते हैं कि 'दवाई लेने के समय या थूकने के समय वार २ मुंहपत्ति ऊंची नीची करके नाटक के परदे की तरह मुंहपत्ति की बड़ी विटम्बना करते हैं।

प्रिय पाठको ! दवाई लेने या थूकने का ऐसा कोई लम्बा काम नहीं है पर दण्डी लोगों को तो जब जब बोलने का काम पड़े तब तब

मुंहपत्ति को मुंह के आगे रखना पड़ता है। यह दवाई, या थूकने के समय से भी अधिक विटम्बना कराने वाली हाथ में रही मुंहपत्ति है। इसलिये मुंह पर मुहपत्ति बांध लेने से ही दूसरे लोगों को नाटक के पर्व की तरह विटम्बना नहीं करनी पड़ेगी।

१२—दण्डीजी ! छींक, उबासी, डकार, खांसी समय मुंहपत्ति मुंह के आगे रखते हो न ? जब मुंह के आगे रखते हो तो तुम्हारे ही कथनानुसार अशुद्ध पुद्गल छींक उबासी के साथ मुंह में से निकले हुए पीछे मुंह में ही प्रविष्ट होते होंगे। जैसे भींत पर गेंद फेंकने से वह वापिस लौटकर आती है ऐसे ही वे अशुद्ध पुद्गल भी आते होंगे दण्डीजी प्रतिमा पूजते समय फिर तुम्हारे अनुयायी लोग मुंह क्यों बांधते हैं। उनके मुंह में से छींक डकार आदि के साथ जो अशुद्ध पुद्गल बाहर निकलेंगे वे ढाटा बंधे रहने से फिर मुंह में चले जावेंगे तो पहिले उनको खबर तो लेवे और उनको पूजन के समय का ढाटा तो बांधना बन्द कराते ! फिर दण्डीजी बिना सोचे समझे क्यों ऐसा लिख मारते हो ? भला मुंहपत्ति बांधने से बीमारियां होतीं तो भगवान् उसका उल्लेख नहीं करते ? दण्डीजी ! डाक्टर और वैद्य भी मुंह पर मुंहपत्ति बांधने से फायदे बतलाते हैं। जरा आंख खोल कर देखो —

"A light of jain principles to the Public Health. The principle of applying Muhapatti i e the covering over the mouth, is to protect the living germs that are present in the Atmosphere, but as regards the medical point of view the covering over the mouth is also the protect ourselves from many diseases which are due to impurities of air

1 Effects of dust and solid impurities—

Dust consists principally of mineral particles of

formed or unformed organic matter of animal or vegetable origin e. g Epithelia fibres of wool or cotton or particles of animal or vegetable tissues. The effect depend on the amount in haled and on the physical conditions of the particles, whether sharp-pointed or rough etc. They always injure healthe and the principle affections arising there from are Attarrh, Bronchitis, Fibroid, pneumonia Asthma, and Emphysema. The most important symptoms of Lung diseases produced by inhalation of dust are Dyspnea and Expetoration.

2 Effects of suspended Impurities:—

Workers in rags and wool suffer similarly from dust Dust from fleeces of wool has caused Anthrax. Mill-stone cutters, stone-masons, pearl-cutters, sand-papermakers knife-grinders millers, hair-dressers, miners, furdyers weavers etc. all suffer from diseases of lungs caused by the inhalation of dust and other suspended matters Brass-founders in halefumes of oxide of zinc and suffer from Diarrhea, Cramp etc Match-makers inhale fumes of Phesphorus and suffer from Necros is of the lower jaw Besides these infective matter from diseases like Typhoid fever, Measles, Small-pox, Tuberculosis etc. Aredissiminated through the air probably always in the form of dust.

3. Effeets of gases and valatile effluvia:—

(a) Hydrochloric acid vapour causes irritation of Lungs and diseases of eye.

(b) Carbon disulphide vapours cause headache, muscular pain and depression of the nervous system

(c) Ammonia causing irritation of Conjuntiva.

(d) Carburated Hydrogen causing headache, Vomitting, convulsions etc. When inhaled in large quantity

(e) Carbon monoocide impartsa cherry red colour to the blood and by interfering with oxgenation, may cause diarrhea, headache, nausea, muscular and nervous depression

(f) Effluvia from Brick-fields, effluvia from of fensive trade, tanneries fat and tallow factories gut scraping, bone-boiling, paper-making etc Effects of gas from sewers and house-drains are diarrhea gastro-intestinal effects sure-throat, dipheria, anoemia and constant illheath Disease like cholera, enteric fever, erysipelas, measles scarlet fever etc are aggravited by sewer gas.

4 Effects from decomposing oragnic carcases Cause out-breakes of diarrhea and dysentery

Therefore gentlemen, pure air is absolutely necessary for heal thy life, and perfect heath can only be maintained, when in addition to other requirements there is an abundant supply of pure air Every one is aware that while starvation kills after days, deprivation of air kills in a few minutes. Heath and disease are in direct proportion to the jhurity or otherwise of ill-heath being largely due to impurities of the air Hence to apply Muhpati over the mouth is taught by three great authorities—

Nature, Jain Principles and Medical View.

(1) Nature teaches Human beings to avoid them selves from the direct attack of diseases i.e for example whenever we pass by the side of discomposing carcas, at once our brain orders our hand to search out for a hand-ker-chief and to apply over the mouth and nose so that bad nuisance may not injure the health.

(2) Jain Principles teach us to apply Muhapati is already discussed in Shastras

(3) Medical teaches us to avoid from all the diseases which can be acquired from air and dust is already discussed above.

हिन्दी अनुवादः—

"जैन सिद्धान्तों की दृष्टि से स्वास्थ रक्षा पर विचारः—

मुंहपत्ति धारण करने का [मुंह पर वस्त्र बांधने का] उद्देश यह है कि वायु में जो सजीव प्राणी रहते हैं उनकी रक्षा हो, और आयुर्वेद की दृष्टि से भी वायु में अनेक खराबियाँ रहने के कारण जो बीमारियां पैदा होती हैं उन बीमारियों से अपने शरीर की रक्षा इस मुख वस्त्रिका के धारण करने से हो सकती है।

१—वायु में रहे रज [धूल] तथा दूसरे ठोस परिमाण से हानियां.—

धूल में खनिज पदार्थों के टुकड़े व सजीव तथा वस्तु सम्बन्धी अनेक पदार्थ रहते हैं यथाः—एक्रिथेलिया, ऊन या रुई के रेसे वा सजीव प्राणियों के निर्जीव शव के टुकड़े वा सचित वस्तु के शरीर सम्बन्धी तर्में व आते या हड्डियो के टुकड़े।

इन सब खराबियों का असर श्वासोच्छ्वास के अनुपातिक परिमाण पर व इन वस्तुओं की प्राकृतिक दशा पर निर्भर है [अर्थात् जो वस्तुएं तीखे नोक वाली हैं या मोटे नोक वाली इत्यादि]—

ये सब अपने स्वास्थ्य को बिगाड़ देती हैं और इनसे मुख्य बीमारियां क्षेरा, ब्रोन्काइटिस, फिब्रोइड निमोनिया, अस्थमा, एम्फिसिमा इत्यादि पैदा होती हैं।

रेणु मिश्र वायु सेवन से फेफड़े की बीमारियों के खास चिन्ह डिस्निया तथा एक्स पिरोरेशन हैं।

२—वायु आमिल रही हुई अन्य खराबियों का असर—

इसी भांति पिचकों में या ऊन में काम करने वाले रज (धूल) हानि उठाते हैं। ऊन के गुच्छों की धूल से एग्ज़ीमा पैदा होता है। यही खोदने या सिलावट, मोती बनाने वाले, या रेशमाल कागज बनाने वाले, चाकू सुधारने वाले बत्ती बनाने वाले घास काटने वाले सुनार, खोदने वाले, ऊन रंगने वाले कपड़ा बुनने वाले आदि सब रज मिश्रित दूसरे परमाणु युक्त वायु के सेवन से फेफड़े सम्बन्धी अनेक बीमारियों से पीड़ित रहते हैं। उदाहरणार्थ—पीतल बनाने वाले जस्त [Zinc] आक्साइड [Oxide] के कणों का श्वास लेते हैं और उनको बीमारियां या क्रैम्प [Cramp] होजाता है। दियासलाई बनाने वाले फास्फरस की बिगारियों का श्वास लेते हैं और उनके जबड़ों में नेक्रोसिस होजाता है। इनके सिवाय चेपी रोग भी लागू हो जाते हैं। जैसे ग्लैंडर्स, ज्वर, मस, माता ट्यूबरक्लोसिस इत्यादि, जोकि हवा में कमशः रजरूप में वितरित होते हैं।

३—हवा में गन्दगी व अन्य मैली हवाओं का असर—

[अ] हाइड्रोक्लोरिक एसिड की भाफ फेफड़ों को बिगाड़ती है और मसों के रोग पैदा करती है।

[ब] कारबन डायाक्साइड [Dioxide] की भाफ मस्तिष्क या नसों में दर्द व रगों मे शिथिलता पैदा करती है।

[स] एमोनीया [कंजक्टाइवा] में दुर्विकार उत्पन्न करता है।

[ड] कारब्यूरेटेड हाइड्रोजन, मस्तिष्क, वमन, ऐंठन, इत्यादि (जब ज्यादा परिमाण में सूंघ लियी जाये तो) पैदा करती है।

[ई] कारबन मोनोक्साईड खून का रंग हल्का लाल कर देता है और 'आक्सीजनेशन' के मिलने से डाइरिया, मस्तिष्क, नोसिस (उल्टी) नसों में तथा रगों में शिथिलता पैदा करता है।

ईटों के अखाड़े की हवा, दुर्गन्ध पदार्थों के व्यापार की हवा, चर्बी की फैक्टरियों की हवा, आंतें साफ करने की हवा, हड्डियों को उबालने की हवा, कागज बनाने की हवा, नालों व गटर की हवा से डाइरिया, आंतों में दुर्विकार, कुष्टरोग, डिप्थेरिया, एनिमिया, और सदा कुस्वास्थ्य का रहना इत्यादि बीमारियां होती हैं। परनालों की तथा गटर की हवा से हैजा, पाण्डिव, ज्वर, एरिस पिलस, मस, लालबुखार इत्यादि बीमारियां बढ़ जाती हैं।

४—प्राणियों के सड़ते हुए शरीरों की हवा से डाईरिया या डिसेन्टरी पैदा हो जाती है।

अत सज्जनगण! स्वास्थ्य रक्षा के हेतु स्वच्छ व शुद्ध वायु अत्यावश्यक है। स्वास्थ्य अच्छा तबही रह सकता है जब अन्य पदार्थों के अतिवार्य शुद्ध हवा का परिपूर्ण भाग विद्यमान हो। यह बात हरएक को विदित है कि यदि भूखों मरना अपने अन्तिम जीवन को क्षय करना है परन्तु वायु से वंचित रहना तो थोड़े ही समय में तमाम काम ('जीवन) खतम कर देता है।

अच्छा स्वास्थ्य शुद्ध हवा पर उतना ही अधिक निर्भर है जितनी अधिक गन्दगियों से बीमारियां पैदा होती हैं। अर्थात् जितनी ज्यादह

वायु में जन्तुयें रहती हैं उनसे अधिक बीमारियाँ भी पैदा होती हैं। इसलिये मुंह पर वस्त्र धारण करना इन तीन सिद्धान्तों से पुष्ट होता है प्राकृतिक, जैन, और वैद्यक।

[१] प्रकृति प्राणीमात्र को बीमारियों से रक्षा करना सिखाती है। जैसे—यदि हम कहीं एक सड़ती हुई लाश के पास से होकर गुजरें तो एकदम अपना दिमाग अपने हाथ को जेब में से रूमाल निकालने के लिये तथा उसको नाक से आड़ा लगाने के लिये प्रेरित करता है ताकि दुर्गन्धी हवा स्वास्थ्य को न बिगाड़दे।

[२] मुंहपत्ति को धारण करनेके विषय में जैनशास्त्रों में परिपूर्ण रूप से व्याख्या तथा पुष्टि की गई है।

[३] वैद्यक शास्त्र भी हमको यही सिखाता है कि उपरोक्त वायु के आश्रित रेणु तथा दुर्गन्ध से जो बीमारियां पैदा होती हैं उनसे अपने आपको बचाओ।

कतिपय मित्र यह तर्क करेंगे कि मुंहपत्ति को नाक पर क्यों नहीं लगाना चाहिये। क्योंकि नाक भी तो वायु सेवन का द्वार है। उत्तर में इतना ही लिखना यथेष्ठ है कि प्रकृति ने नाक में बाल रखे हैं, जिससे बाहरी जन्तुयें रुक जाती हैं।

११ पत्रीजी नम्बर १ की भूमिका के पृष्ठ ९ में पर लिख मारे हैं कि "मुख बांधो ऐसा मूल पाठ होने पर भी नाक बांधते हो अतः प्रत्यक्ष झूठ है" और यहां पर लिखते हैं कि "विपाक सूत्र में नाक मुंह दोनों के ऊपर दोहरे वस्त्र बांधने का कहा" देखिये ! पत्रीजी के लेख से ही पत्रीजी झूठे ठहर गए। अब उन्हें अपने लोचे पीचे की भी याद न रही कि पहिले मैं क्या लिख आया हूँ और अब क्या लिख रहा हूँ। सच है, जिन्हें झूठ का अभ

नहीं, वे झूठ लिखने से कभी क्यों हिचकिचायंगे ? विपाकसूत्र में मृगा-राणी ने गौतम स्वामी को दुर्गन्ध से बचने के लिये मुख बांधने को कहा इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि दुर्गन्ध से बचाव जब ही होगा जब नाक ढंकेगा, अन्यथा नहीं। अतः गौतम स्वामी के मुंह पर नाक ढांकने के पहिले ही मुंहपत्ति बंधी थी।

१४—दण्डीजी लिखते हैं कि "ढूंढिये एक कपड़े की लम्बी चीरी लेकर लपेट कर बांधते हैं" यह भी दण्डीजी का लिखना सरासर झूठ है। क्योंकि १६ अंगुल चौड़ी और २० अंगुल लम्बी प्रायः हम मुंहपत्ति बांधते हैं। लम्बी चीरी का कहना यह दण्डीजी की भल-मनसाहत ही है।

अब देखिये ! दण्डीजी लिखते हैं और इनके माननीय ग्रंथों में भी लिखा है कि एक वेंत चार अंगुल सम चौरस मुंहपत्ति को तिकोनी कर उससे नाक मुंह दोनों को गुद्दी के पीछे गाँठ लगाकर बांधले। विचारशीलो, सोचो ! सूत्रों में आठ प्रत वाली मुंहपत्ति कही है और ठीक ऐसाही दण्डियों के माननीय ग्रन्थों में भी लिखा है। पर दण्डियों के कथनानुसार एक वेंत चार अंगुल सम चौरस कपड़े की मुंहपत्ति के आठ प्रत करने पर वह तिकोनी नहीं रहेगी और उसे तिकोनी करेंगे तो आठ प्रत नहीं रहेंगे। अतः मुंहपत्ति को तिकोनी कर गुद्दी के पीछे गांठ लगाकर बांधना सूत्र विरुद्ध है। यदि कहोगे कि तिकोनी न कर उसकी आठ प्रत बना नाक और मुंह दोनो बांध लेंगे तो यह भी कहना मूर्खता सिद्ध करेगा, क्योंकि एक वेंत चार अंगुल सम चौरस कपड़े से नाक और मुंह दोनों बांध नहीं सकते। हाँ, नाक पर पट्टी तो अवश्य लग जायगी जैसी कि नकटे को बांधी जाती है। अगर कहोगे कि मुंह प्रमाणे कपड़े से बांध लेंगे तो तुम्हारे आचार्यों का एक वेंत चार अंगुल सम-

चौरस कपड़े का प्रमाण देना गलत ठहरेगा उनको यही कहना था कि मुंह प्रमाणे कपड़ा लेकर उस कपड़े से मुंहपत्ति बनाओ।

१५—"मुहणं तगेणं" का अर्थ मुंहपत्ति होता है और मुंहपत्ति के साथ धागे का होना स्वतः सिद्ध है। नेरगी सत गामा की राज्य सभा में शास्त्रार्थ हुआ तब सात मध्यस्थ नियत हुए थे उनमें भाई कानसिंहजी सब मध्यस्थों में अग्रसर थे उन्होंने भी कहा था कि मुंहपत्ति कहने से धागा स्वयं सिद्ध हो जाता है।

१६—धूप के दिनों में २-२ मुंहपत्ति बदलने का जो दयालीजी का लेख है वह नितान्त मिथ्या है। हम २-२ मुंहपत्ति दिन में नहीं बदलते हैं।

१७—कीवत समय नाक का मल मुंहपत्ति पर लगना असम्भव होता तो भगवान् भगवती आदि सूत्रों में गोचरी जाते समय "मुहपोत्तियं पडिलेहएत्ता" अर्थात् मुंहपत्ति की प्रति लेखना या उसे देखकर गोचरी जाने का क्यों लिखते ! इस लेख से स्पष्ट है कि मुंहपत्ति पर कदाचित् श्लेष्मादि लगा हो तो उस दूर कर फिर मुंहपत्ति बांध साधु गोचरी को जाँय।

१८—मुंहपत्ति मुंह पर बांधने वाले बहुतसे साधु पब्लिक व्याख्यान देते हैं और हजारों की संख्या में श्रोता एकत्रित होते हैं तथा उप-देशामृत पान कर अत्यन्त आनन्दित हो कृतार्थ होते हैं, पर स्वर भंग कभी नहीं होता। दयालीजी की यह स्वर भंग की गप्प भी भंग कोतरंग से कुछ कम नहीं है।

१९—मुंहपत्ति बांधने वालों को बहुरूपिये नहीं दीखते पर तुम्हारे ही धर्मी लोगों के माननीय "चतुर्थ स्तुति निर्णय शंकोद्धार" नामक

—मारवाड़ शास्त्र के शास्त्रार्थ में आपके अनुयायियों ने अपनी पराजय स्वीकार की है।

ग्रन्थ की प्रस्तावना पृष्ट ५४ से ५५ तक तुम्हीं को क्या कहा है जरा आंखे खोलकर देखो !

"सत्य विजय १, कपूरविजय २, क्षमा विजय ३, जिनविजय ४, उत्तमविजय ५, पद्मविजय ६, रूपविजय ७, कीर्त्तिविजय ८, कस्तूरविजय ९, मणिविजय १०, मुक्तिविजय ११, तस लघुभ्राता आनन्दविजयं । अे सर्व पेढीयो श्रीच्छाचार बोल पत्रक प्रमुख ग्रन्थों ना अभिप्राय थी अने जिन लिंग थी विरुद्ध सिद्ध थाय छे, केम के ते ग्रन्थों मां एलियांवर तथा पित प्रमुख रंगेला वस्त्र धारवा वालाने गुरु गच्छ आचार्य आज्ञा रहित जैन लिंग विरोधि कया छे ते प्रथम एमनी पेढ़ीमां श्रीसत्यविजयजी पन्यासे गुरु आज्ञा विना पलियाबर करथा, ने त्यार पछी केटलिक पेढीवाला ओए काथीया करथा ने पछे तो फटक रंगीला केशरिया करथा ते वर्तमानमां वर्ते छे"

फिर भी देखिए ! नृपेन्द्रचन्द्र विरचित "कदाग्रह दुर्ग्रहनो शान्ति-मंत्र" नामक पुस्तक के पृष्ठ १२ पर—

'तमे पीला कपडा वाला गुरु कह्या तेमा प्रथम पीला कपडा अेज जिन आणा विरुद्ध छे, तप गच्छना शास्त्रोनी समाचारी प्रमाणे तद्दन विरुद्ध छे"

और "जैन तत्वादर्श" के पृष्ठ ६०५ पर दण्डी आत्मारामजी ने "मरीचि" का वर्णन किया है कि उसकी आत्मा मलीन थी अत. रंगीन कपड़े पहने"

फिर देखिए दण्डीजी ! तुम्हारे ही रत्नविजयजी ने विनती शतक की ३१ वीं गाथा में उल्लेख किया है, जरा आंख खोलकर देखो ।

"नहीं करीयो नहीं कर शके, न कुछ हो करणाने योग के ।
पीला कपड़ा पहेर के, भला हसाया कलयुगीया लोक के ॥ १ ॥

दयाजी जी ! उपरोक्त प्रमाणों से पीले कपड़े पहनने वाले तुम द्रव्यी लोगों को बहुरूपिये और भाँड़ के जैसे कहें तो भी अयुक्ति नहीं होगा क्योंकि तुम्हारे ही आचार्यों ने जैन साधुओं को श्वेत कपड़े पहनने की रीति जिन आज्ञा अनुकूल कही तो है फिर बहुरूपिये कौन हुए ? तुम ही सच कहो न।

दयाप्रेमी ! व्यर्थ अपनी पोल खुलाकर क्यों शिथिलाचारी सिद्ध होना चाहते हो, अन्य धर्मी तो दूर रहे पर प्रतिदिन तुम्हारे घर के ही लोग पीले कपड़े पहिनने वालों की हँसी कर रहे हैं।

१०—दशवैकालिक सूत्र के "जयं भुंजंतो भासंतो" से स्पष्ट सिद्ध है कि जब साधु को भोजन करते समय बोलने का काम पड़े तो यत्ना से मुख से शोक, रोटी भोगने अर्थात् मुंह के आगे हाथ लगाकर बोले, क्योंकि भोजन के समय तो मुंहपत्ति खोलना पड़ती है उस समय कुछ बोलने का काम हो तो खुले मुंह से न बोलकर मुंह के आगे आड़ा हाथ लगाकर यत्ना करके बोलने का, भगवान का आदेश है। और भोजन करना तो "जयं भुंजंतो" यत्ना से करना, कुछ हाथ से गिरता जाय कुछ खाते जायें या भरड़ २ चावत जायें ऐसी अयत्ना न करते भोजन करें। बस भगवान अयत्ना त्याग यत्ना से खाने का आदेश दे रहे हैं।

दयाजी ! उपयोग शून्य बोलने का दोष तुम द्रव्यी लोगों पर घटित होता है। क्योंकि जब मुंहपत्ति मुंह आगे लगाओगे तो बोलने में उपयोग नहीं रहेगा और बोलने में उपयोग रखोगे तो मुंह की यत्ना करने में हाथ में रखी हुई मुंहपत्ति पर उपयोग नहीं रहगा भगवान ने भगवती सूत्र के अठारवां शतक का आठवें उद्देश में—कहा है कि "जं समयं सीयपरीसहं वेदेतिणो तं समयं उसिण परीसहं वेदेति" अर्थात् एक समय में दो तरफ उपयोग नहीं रह सकता अतः हाथ में मुंहपत्ति

रखकर उपदेश देने वाले मुंह की यत्ना पूरी नहीं कर सकते, इसलिये खुले मुंह बोलने के दोष से दूषित दण्डो लोग ही ठहरे।

दण्डीजी! फिर भी देखिए समुस्थान सूत्र के पृष्ठ तीसरे पर मुंहपत्ति मुंह पर हमेशा बाधने का स्पष्ट प्रमाण है।

"गोयमा सलिंगे मुहपत्तिं मुहसद्धं बधे, मुहपत्तिण भंते किं पमाणे? गोयमा मुहपमाणे मुहपत्तिं मुहपत्तिण भंते केण वत्थस्स कडे? गो० एगं विसेय वत्थस्सण अट्ठपुडलाए मुहपत्तिं करेह, कस्सट्ठे, मुहपत्तिणं अट्ठपुडलाइं गो० अट्ठकम्म दहणट्ठे एगकन्नेण दुभ्वे कन्नपमाणं दोरे सद्धिं मुहे बधेह मुहपत्तिण भन्ते के अट्ठे गो० जयणं मुहअंते सइवट्टति से तेण ठेण मुहपत्ति कस्सट्ठे भंते मुहपत्तिं मुहसद्धिं बधे गो० मुहपत्ति बंधे सलिंग वाउजीवरक्खणट्ठे जइणं भंते मुहपत्ति वाउजीव रक्खणठाय ते किं सूहमं वाउकायजीव-रक्खणट्ठाय वा वायर० गो० णोनि सुहुमं वाउकाय जीवरक्खणट्ठाय गो० वायर मुहसद्देण वाउकाय जीवरक्खट्ठेय नो तिअविसेसं एवं ते सव्वेवि अरिहंता पवुच्चंति से केणट्ठेणं भन्ते वायर वाउ जीवकायाण वि सुहुमं णामधिज्जा गो० अदिस्सति मंसचक्खूणा तेणट्ठेणं णामा सलिंगस्सण मुहपत्ति माइयाइं नामं विज्जायाइं अन्नत्थ रयहरनं जीवरखन उवगरन वि नो उवही ॥ गाहा ॥ मुहपत्ति मुहबंधे वाउजीव सरक्खणट्ठे, तसट्ठे मुहपत्तिं अरिहन्ता सलिंग भासइ ॥१॥ मुहपत्ति सलिंगे जाव विणय मूलधम्मरूव मुहसद्धिं बधित्ता।

दण्डीजी! फिर भी देखिए तुम्हारे ही अनुयायी द्वारा विरचित जैन कथा रत्न कोष के सातवें भाग की पृष्ठ ४०५ पर मुहपर मुहपत्ति हमेशा बाधने का प्रबल प्रमाण है।

"वली ते मोहन, साधुना दोषो ने गवेषो ते दोषो ने केवल मनमाज समजी वेसी रहे तो नथी, परन्तु ते सर्व श्रावको ने घेर घेर जइ

कहे तो कहे छ के हे भावको ! आ सजवमां कोइ जैन साधु तो साधुना धर्म पालवाज न थी, एम कहे शो क त वातनी अमने कम मालम पडी ! तो के सांभलो हुँ पोषध तथा सामायिक करवा प्रति दिन उपाश्रयमां जाऊं छु तो त्यां में ते साधुवर्मा प्रत्यक्ष रीतें दोषाज दीठा छे तमां कोइ पण साधुने सारी रीते परिपूर्ण रीतें चारित्र व्रत पालनारो दीठो नथी, ते तेना दोषो कहुं, ते सांभलो के ते उपाश्रय मां रहवा साधु माहेला कटला एक साधुवनो मुहपत्ती बांध्या विनाज बोल्या करे छे, वली केटला एक साधु दंडासन ने करमां ग्रहन चाल छे, कटला एक साधु ब्याप्यो थाडो सर्व क्रिया थोडी मे संध्याज करे छ । वली केटला एक साधु विकथाज कर्‍या करे छ कोइ एक साधु तो पर्व दिवसना उपवास पण करता नथी । कोई एक साधु मुख सूत्र पण वांची जाणता नथी, केटला एक साधु स्वाध्यायाध्यन पण करता न थी । माटे वे जोतां तो मने एम लागे छे क सर्व साधु दोषमा भरे लाज छे तेथो तडने नम वगेरे बहोरावबु ते पण सर्व व्यर्थज छे ।

२१ दयाजीजी ! सुक्ष्म जीवों की रक्षा क लिये ही सूत्रकार ने मुंहपत्ति का कथन किया है फिर साधु पहिचान और मुंह में धूल वगेरा न हो य तो गौण कारण हैं पर लाभ तो विशेष ही है इसे हम कब अस्वीकार करते हैं पर मुंहपत्ति बाँधने से खास मतलब जीवों की रक्षा है।

२२ नाक पर मुंहपत्ति बांध जीवों की रक्षा करना किसी सूत्र में नहीं कहा । दयाजीजी ने मुंहपत्ति से नाक ढँकना कहा यह सूत्र विरुद्ध है । क्योंकि खांसी छींक, लेते वक्त भगवान ने नाक के आगा हाथ लगाने का कथन किया है पर मुंहपत्ति से हमेशा नाक बाँधे रखना नहीं कहा।

२३ निरोगी, बीमार या संथारा किये हुए सब साधुओं के लिये भगवान ने एक से महाव्रत पालने का कथन किया है। किसी के लिये मा कहीं तनिक छूट नहीं थी । बीमार साधु को महाव्रत नहीं पालना और

भेष बदल लेना किसी सूत्र में नहीं कहा इसी प्रकार संथारा करने वाले साधु के लिये भी नियम है फिर भला अन्त समय मुहपत्ति मुह से दूर कैसे की जा सकती है ? जो कि जीव रक्षा का एक मात्र साधन है। हां, शायद दण्डियों ने ऐसा नियम बनाया हो तो हमें मालूम नहीं कि अन्त समय साधु का भेष बदल गृहस्थी का भेष पहन लेना और पास के मुंह-पत्ति और रजोहरण भी त्याग देना। अस्तु, अब रही बात यह कि गृहस्थियों से अन्त समय में मुंहपत्ति रखवाते हैं यह कहना दण्डियों का सफेद झूंठ है क्योंकि जैन गृहस्थ के मरने पर किसी के मुंहपत्ति नहीं बंधी होती और न बंधवाते हैं यह बात तो सामान्य बुद्धि वाले भी जानते हैं।

२४ बड़े २ पढ़े लिखे वारिस्टर, बीए० एल, एल, बी०, एम०, एल० सी० दीवान बहादुर, रायबहादुर, रायसाहेब, आनरेरी मजिस्ट्रेट आदि पदवी धारी एवम् क्रोड़ाधिपति लक्षाधिपति प्रतिष्ठित सज्जन और नवयुवक सब ही बडी खुशी के साथ मुह पर मुहपत्ति बांधते हैं और अपना धर्म कार्य करते हैं। यदि यह बात साक्षात देखना हो तो पर्यूषण पर्वाधिराज में आकर दण्डी लोग स्वयं देखलें।

२५ श्रावक जन अपने पोशाक सहित सबर या नमस्कारादि करें और उस समय मुह पर मुहपत्ति बांधे तो किसी भी सूत्र में इसको मुमानियत नहीं है। देखो जब श्रावक बहुमूल्य वाली पोशाक पहन कर भगवान को बंदने के लिये जाते थे उस समय उत्तरासग अर्थात् मुँह पर कपड़ा लपेट कर जाते थे और उसी प्रकार भगवान को नमस्कार करते थे।

२६—जैन सूत्रों में तुंगीया नगरी के श्रावक, सुदर्शन आनन्द जी आदि सब ही श्रावकों ने मुंहपत्ति शब्द से हो मुँह पर मुंहपत्ति बाँध कर धार्मिक क्रिया की थो किसी भी सूत्र में किसी भी श्रावक ने मुंहपत्ति

हाथ में नहीं रक्खो। यदि हाथ में रक्खी होती तो दृण्डीजी अवश्य ही कूद २ कर नाचते फिरते और यहां प्रमाण लिखने के लिये ५-१० पन्ने काले कर डालते पर कहो सूत्र में हाथ में रखने की गंध तक नहीं तो फिर दृण्डीजी क्या लिखें !

२७ समझदार मा बकार्य मुंह पर मुंहपत्ति बांधने के लिये जो कपड़ा आती हैं उस पर गोटा या मोती नहीं लगाती अगर कोई लगाती हैं तो हमारे उपदेश से नहीं यह उनकी भूल और अज्ञस्थपना है। पर अफसोस इस बात का है कि जो भगवान आभूषण त्याग मोक्ष पधार गए हैं फिर उनकी स्थापना कर आभूषण पहना पुनः उन्हें संसारी बनाना चाहते हैं यह दृण्डीजी की कितनी कूढ़ अज्ञानता है।

२८ यहां दृण्डीजी लिखते हैं कि "ढूंढियों की और तेरह पंथियों की मुंहपत्ति में लम्बाई चौड़ाई, छोटी मोटी आदि तरह २ की विभिन्न प्रकार की भिन्नता है परन्तु एक प्रमाण नहीं है। यह भी प्रत्यक्ष शास्त्र विरुद्ध है। और इसी उद्घोषणा के पृष्ठ ४६ पर दृण्डीजी यह लिख आय हैं कि—"अपने २ मुंह प्रमाणे मुंहपत्ति रखने की मर्यादा है" अब यहां सोचना चाहिये कि "अपने २ मुंह प्रमाणे" इस वाक्य से मुंहपत्ति की भिन्नता खुद दृण्डीजी लोग ही बता रहे हैं क्योंकि किसी का मुंह छोटा है तो किसी का बड़ा है कोई बालक साधु है तो कोई वृद्ध साधु है किसी का न ज्यादह बड़ा है और न छोटा है अपने २ मुंह प्रमाणे मुंहपत्ति रक्खी जाती है। इसकी भिन्नता स्वय दृण्डीजी कबूल करते हैं और इनिढयों के माननीय आचार्यों ने भी मुंहपत्ति की भिन्नता होने का प्रमाण माना है फिर भी दृण्डीजी ऐसा क्यों लिख रहे हैं कि मुंहपत्ति तरह २ की रखना शास्त्र विरुद्ध है ?

प्रिय महानुभावो ! दृण्डीजी पोथा लिखने तो बैठे और अपनी ही लिखी पिछली बातें भूलते चले न मालूम कौनसी तरंग में कौनसी

बात शास्त्र अनुकूल है या प्रतिकूल, यह भी याद नहीं रहा। पर दण्डीजी का लिखना शास्त्र एवम् ग्रन्थों के विरुद्ध है।

२९ दण्डीजी ! मुंह पर मुंहपत्ति बाँध यथा योग्य क्रिया पाल तीसरे नहीं पर एक ही भव कर मोक्ष जाते हैं और इसी भव में ही जा रहे हैं। देखो महाविदेह क्षेत्र की ओर। दण्डीजी ! जैन वेष के साथ क्रिया भी करेंगे तो उनकी मोक्ष क्यों नहीं होगी ? जीवाभिगम सूत्र में "सलिंग सिद्धा" अर्थात् जैन वेष के साथ क्रिया करने पर जीव मोक्ष में जाता है, ऐसा स्पष्ट लिखा है।

३० दण्डीजी लिखते हैं कि "चोर, डाकू, निन्दक आदि अपने मुंह छिपाते हुए फिरते हैं" इसी तरह ढूंढिये भी।

इस प्रकार लिख कर दण्डीजी ने अपने ही पैरों पर कुठाराघात किया है क्योंकि व्याख्यान देते समय या बोलते समय दण्डी लोग ही अपना मुंह छिपाते हैं। इसलिये दण्डी लोग अव्वल नम्बर के चोर, डाकू और निन्दक ठहरते हैं। यही नहीं जैसे नकटे को नाक छिपाना पडता है वैसे ही दण्डी लोगों को मुँह के साथ नाक भी छिपाने की चाट लग गई है। यदि पाठकों को यह प्रत्यक्ष देखना हो तो दण्डी मणि सागर के गुरु कृपा चन्द्र सूरि को व्याख्यान देते समय देख लें और सूत्रों के पाठों को चुराने वाले एवम् अर्थों को बिगाडने वाले दण्डी लोग ही हैं जिसका उल्लेख हम जाहिर उद्घोषणा नं० १ के उत्तर में कर चुके हैं।

३१ दण्डीजी लिखते हैं कि "निशीथ सूत्र में साधु को अपने मुख की शोभा के लिये दांतों को, होठों को साफ करना, रंग लगाना, तथा कटवा कर सुधराना इत्यादि कार्य करने वाले को दोष बतलाया है यह बात खुला मुंह हो तब तो शोभा के लिये की जाती है परन्तु बंधा हुआ हो तो नहीं।"

हरखीजी ! वसी निशीथ सूत्र के १५ वें उद्देशे में साधु को गुप्त स्थान के बाल काटना नहीं और कटवा कर सुन्दर मनवाना नहीं और यदि कोई साधु ऐसा करे तो उसके लिये प्रायश्चित लिखा है। देखो सूत्र पाठ ——

जे भिक्खू विभुसापडियाए अप्पणो दीहाइ वत्थिरोमाइ कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा कप्पंतं वा संठवंतं वा साइज्जई।

अब कहिये हरखीजी ! जब चोल पट्ट (कमीवस्त्र) पहनने को हो तो गुप्त स्थान की शोभा कौन और कैसे देख सक्ता है ? इससे तो तुम्हारे कथनानुसार यह साबित होता है कि साधु को चोल पट्टा नहीं पहनना चाहिये क्योंकि जैसे मुंहपत्ति मुंह पर बांधे तो दांतों की शोभा कौन देखे ? ऐसे ही चोल पट्टा पहिनने पर गुप्त स्थान की शोभा कौन देखे जो सूत्रकार ने गुप्त स्थान के बाल काटने की मनाई कर दी। अगर कहोगे कि चोल पट्टा तो अवश्य पहना रहता है तो हरखीजी चोल पट्टा पहिनने पर भी गुप्तस्थान के बाल काटने में प्रायश्चित क्यों कहा ? इसी प्रकार मुंहपत्ति मुंह पर बंधी रहने पर भी दांत घिसने वाले को दण्ड बतलाया है। हरखीजी ! यही कहोगे कि जब सूत्रकार ने दांतों की शोभा के लिये घिसने की मनाई क्यों की ? क्योंकि मुंहपत्ति बंध जाने पर कोई देख सकता तो नहीं है ? हां यह तर्क ठीक है पर जब साधु आहार करने को बैठते हैं उस समय मुंहपत्ति खोल कर भोजन करते हैं तब सामुदायिक अन्य साधुओं को अपने दांतों की शोभा दिखाने के निमित्त घिसने का निषेध किया है।

१९ हरखीजी ! भाषा के पुद्गल तो चौस्पर्शी हैं किन्तु कण्ठ आदि स्थानों से बोलने पर आठ स्पर्शी हो जाते हैं क्योंकि आठ स्पर्शी हुए बिना भाषा को पकड़ नहीं सकते। देखो पन्नेवणा जिसमें कैसा

गोयन गाया जाता है वैसा ही उत्तर जाता है। इस पर से सिद्ध है कि चार स्पर्शी पुद्गल ग्रहण नहीं हो सकते और बोलने के बाद भाषा के पुद्गल आठ स्पर्शी हो जाते हैं। देखो भगवती सूत्र के आठवें शतक के तीसरे उद्देश मे पुद्गल तीन प्रकार के कहे हैं।

"कई विहण' भंते! पोग्गला पण्णत्ता! गोयमा! तिविहा पोग्गला पण्णत्ता तं जहा पओग परिणया, मीस परिणया, वीससा परिणया।

अर्थात्—जीव के लगे सो पोप से पुद्गल हैं और जीव रहित मिश्र पुद्गल और विशेषा पुद्गल दिखते हैं पर हाथ नहीं आते जैसे धूप और छाया दिखती है पर हाथ नहीं आती इसी तरह भाषा के पुद्गल बोलने के बाद चौस्पर्शी हो तो उन्हें पकड़ नहीं सकते, इससे सिद्ध है कि भाषा के पुद्गल कण्ठादि स्थानों से बोलने के बाद आठ स्पर्शी हो जाते हैं जब होठ से होठ या दांत से दांत मिलते हैं तो अजीव उष्ण वायु काय पैदा होती है और उस अजीव उष्ण वायु काय से सचित वायु काय के जीव मर जाते हैं इसीलिये हेमाचार्यजी योग शास्त्र में "मुंहपत्ति वायुकाय जीवानी विरधिना टालवा माटे छे" ऐसा लिख गए हैं।

जब दण्डी लोग स्वयं मुंहपत्ति को मुंह के आगे रखते हैं और व्याख्यान आदि के समय में मुंह पर बाँधते भी हैं तो क्या वायुकाय के जीवों की रक्षा के लिये ऐसा नहीं करते? फिर व्याख्यान के समय मुंह पर क्यों बाधते हैं? बोलते समय मुह के आगे क्यों देते हैं? और हेमाचार्यजी अपने शास्त्र में इसका क्यों उल्लेख करते? तथा आगमों में इसका वर्णन क्यों मिलता? इन सब बातों से यही तात्पर्य निकलता है कि वायुकाय के जीवों की हिंसा के बचाव के लिये मुंहपत्ति मुंह पर बांधते हैं और रखते हैं तब दण्डी मणिसागरजी ने दण्डी लोगों की

आम्नाय के विरुद्ध और शास्त्र विरुद्ध यह लिखने का कैसे साहस किया कि "वायुकाय के जीवों की हानि करने का ठहराते हैं यह भी सर्वथा सूत्र विरुद्ध है।" इससे मालूम होता है कि दयाळजी उत्सूत्र प्ररूपणा करने में सिद्ध हस्त हैं भला, यहां तो ऐसा लिखा और पृष्ठ २७ पर लिखा है कि "शास्त्रों में त्रस और स्थावर दोनों प्रकार के जीवों की रक्षा करने के लिये मुंहपत्ति रखने का कहा है" अब यहाँ सोचिए कि क्या वायुकाय के जीव स्थावर जीवों में नहीं हैं ? यदि स्थावर वायु काय में हैं तो खुद दयाळजी लिखते हैं कि त्रस एवम् स्थावर की रक्षा के लिये मुँहपत्ति है और पृष्ठ २९ पर दयाळजी ने लिख दिया कि "वायुकाय के जीवों की हानि करने का ठहराते हैं यह भी सूत्र विरुद्ध है' इस प्रकार लिखने से दयाळजी खुद अपनी कलम से दूषित हुए हैं।

फिर देखिये ! जब वायुकाय की हिंसा न होवे तो भगवती सूत्र में इन्द्र के प्रसंग पर भगवान ऐसा क्यों कहते कि 'मुंह को ढक कर बोलने वाले की निर्वद्य भाषा अर्थात् जिससे कोई भी हिंसा नहीं हुई ऐसी भाषा है और खुले मुंह वाले उसकी सावद्य भाषा अर्थात् हिंसाकारी है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि बोलने पर ओष्ठ दंत आदि के मिलन से व पृथक होने से जो वायु पैदा होती है उससे हिंसा होती है और उस हिंसा के बचाव के लिये मुंहपत्ति बाँधना शास्त्रानुकूल है इस बात को सभी जानते और मानते भी हैं कि जैनी साधु इसी के जीव नहीं मरें इसलिये मुंह पर मुंहपत्ती बांधते हैं।

११—उववाइजी, भगवतीजी, ज्ञाताजी आदि किसी सूत्र में यह नहीं कहा कि उत्तरासंग आसन्य की जनक की तरह रखा जाय। जनेऊ की तरह समझना दयाळजी का केवल भ्रम है। दयाळजी; कई श्रावक लोग पूर्वानुसार आज भी वैसाही उत्तर संग करते हैं। और उत्तरासंग शब्द का अर्थ भी यही होता है कि "उत्तर' नाम प्रधान 'आसंग' मुंह पर एक वस्त्र बांध लिया।

३४–दण्डीजी ! मुंहपत्ति मुंहपर बाधी जाती है यह सूत्र की आज्ञा से
ी बांधी जाती है न कि आज कल के नवयुवको के हाथ में रूमाल रखने
ती पद्धति से न डाक्टरो के चीर फाड़ के समय मुंह बांधने की रीति
ो देखने से हां, मुंह बाधने से कैसे २ फायदे होते हैं उसके उदाहरण
ठाग्रहियो को समझाने के लिये फिर भी देते हैं देखो—मुंह बांधने से
ररीले धुएं का बचाव होता है। डाक्टरों के मुंह बांधने से मरीज की
ा होती है क्योंकि चीरा फाडी के समय अगर डाक्टर मुंह न बांधे
और थूक उछल कर कहीं मरीज के घाव पर जा गिरे तो वह घाव बढ़
ाता है यहां तक कि उस मरीज की मौत भी हो जाती है। इसी तरह साधु
े मुंह पर की मुंहपत्ति स्वयं अपनी और पर जीव की रक्षा करने
ली है।

दण्डीजी ! तुम स्वय ही लिख रहे हो कि सभा आदि में मुंह के
ागे कपड़ा लगाने का श्रेष्ठ व्यवहार है तो बस समझ लीजिये आगे
न करने का स्थान ही कहां रहा ? यदि यह कहोगे कि नाक पर क्यों
ां बांधते हो तो इसका उत्तर पहिले ही लिखा जा चुका है कि मुंहपत्ति की
ह सूत्र में "नास मुखपत्ति" शब्द का प्रयोग गणधर कर देते तो
वश्य तुम्हारा कहना ठीक समझा जाता। परन्तु भगवान् ने नाम
खपत्ति ही कहा इसलिये मुंहपत्ति का उपहास करने वाले जे दण्डी लोग
क पर बांधने की कहें वे आगम विरोधी हैं।

३५—दण्डीजी ! तुम लिखते हो कि जिनेश्वर भगवान् ने मुंह के आगे
आदि रख कर उपयोग से बोलने वाले की भाषा को "निर्दोष कहा है"
: भला दण्डीजी, तुम्हारे गुरु कृपाचन्द्र सुरिजी व्याख्यान देते समय
हपत्ति को मुंह पर बाध लेते हैं और इसी ग्रन्थ में व्याख्यान देते
ाय मुंहपत्ति बाँधना तुम भी स्वीकार करते हो और इसीलिये
जगह हमेशा शब्द का प्रयोग किया है। जब मुंह पर मुंहपत्ति बाँध
व्याख्यान दोगे तो तुम्हारे ही कथनानुसार वह भाषा सावद्य (हिंसा-

कारी) ठहरंगी, क्योंकि तुम कह रहे हो कि 'मुंह के आगे वस्त्र रखकर उपयोग से बोलने वाले की भाषा को निर्दोष कहा है। अब तुम्हारे लेख से तुम ही जिनराज की आज्ञा के उत्थापक हुए और यह बात जैन समाज में प्रसिद्ध है कि वीतराग के उल्लंघन करने वाले अनन्त संसारी होते हैं।

दयाजी! जब लिखना चाहो तो पहिले सोच लिया करो कि यह बात उलट कर हम पर ही तो न गिरेगी? जैसे तुम दयाजी लोग व्याख्यान देते समय मुहपत्ति मुंह पर बांधना आगम विरुद्ध नहीं कहते वैसे ही हमेशा मुंह पर मुंहपत्ति बांधना भी सूत्र विरुद्ध नहीं कह सकते।

१६ दयाजी जैन लिंग परिवर्तन करने का दोष श्वेताम्बर आम्नायवासी जैन समाज पर लगाना महा मिथ्या है। क्योंकि भगवान ने सफेद कपड़े पहिनने का साधुओं को कहा है जिसके प्रमाण पहिले लिख चुके हैं और इसीलिये हम श्वेताम्बरी कहे जाते हैं 'श्वेत' सफेद 'अम्बर' कपड़ा पहने उसे श्वेताम्बरी साधु कहते हैं और इस बात को दयाजी लोग खुद स्वीकार भी करते हैं कि हमने पीछे पोस कपड़े लिये हैं तो इसी प्रकार मुहपत्ति मुंह पर बांधना और पीछे कपड़े पहनने के साथ साथ साधुता से भिन्नता दिखाने के लिये हाथ में मुहपत्ति रखना भी स्वीकार कर लिया है। जब दयाजी लोगों का इस प्रकार यह वक्तव्य निर्विवाद सिद्ध है तो ऐसे जैन लिंग का परिवर्तन होने से द्रव्य मुनि पना जाता रहता है, इसके चले जाने से अन्य लिंगी हो जाते हैं अन्य लिंगी को जैन लिंग कहने से तथा उसमें जैन लिंग की श्रद्धा रखने से एवम् उसको सुगुरु मानने से सम्यक् दर्शन चला जाता है सम्यक् दर्शन के चले जाने पर सम्यक् ज्ञान चला जाता है सम्यक् ज्ञान के चले जाने से सम्यक् चारित्र भी लौ हो ग्यारह हो जाता है। दयाजी! जब इस प्रकार मोक्ष के प्राप्त साधन सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र के चले जाने पर मिथ्यात्व की प्राप्ती होती है और मिथ्यात्व की प्राप्ति होने पर द्रव्य

|था भाव दोनों प्रकार का मुनिपना (साधु का धर्म) चला जाता है। इस प्रकार से द्रव्य, भाव दोनों तरह की साधुता चले जाने पर भी सच्चे जैन साधु होने का दावा रखना, वाजे गाजे के साथ बड़े ही आडम्बर से शहर में आना, मूर्ति पूजा से मोक्ष मिलती है इस बहाने हजारों रुपये व्यर्थ व्यय करवाना, स्वामी वात्सल्य करने वाला जीव तीसरे भव मोक्ष जाता है ऐसा अपने भक्तों को लालच बता सीरा, कचौरी, वासुंदी आदि माल बनवा कर खाना, वास क्षेपादि सिर पर डालने के पश्चात् ज्ञान पूजा के बहाने से द्रव्य का संग्रह कर रखना तथा जिनागमों को छोड़ कुछ थोड़ी संस्कृत पढ़ कर झूंठा ढोंग जमा कर जैन शासनानुयायी भव्य जीवों के हृदयों में मोक्ष मार्ग की सम्यक् श्रद्धा पलट देने वाले मिथ्यात्वी बन जाते हैं और भव्य जीवों को भी मिथ्यात्व में गेर देते हैं इस प्रकार मिथ्यात्व में पटकने से संसार भ्रमण फल की प्राप्ति और इस संसार भ्रमण फल की प्राप्ति से ८४ लाख जीवयोनी की हत्याओं के दोष के भागी स्वयं बन जाते हैं। इस तरह से मुख पर मुखपत्ति बांधने को निषेधना करके हाथ में रखनी ऐसा सिद्ध करने में जिनाज्ञा की उत्थापना मिथ्यात्व की प्राप्ति और संसार भ्रमणादि अनेक दोषों की प्राप्ति के सिवाय तत्वदृष्टि से अवलोकन किया जाय तो और कुछ भी लाभ नहीं। फिर भी दण्डीजी, सनातन से चली आने वाली मुख वस्त्रिका को मुंह पर बांधने की सच्ची जैन प्रणाली की निषेधना कर "मुंह के आगे वस्त्रादि रख कर बोलने की जिनेश्वर ने आज्ञा दी है" ऐसे जिनेश्वर के नाम का झूंठा बहाना कर कूड लेखों वाली हजारों किताबें छपवा कर बड़े २ शास्त्रों को बदनाम करते और भोली भाली दुनिया को धोके में डाल कर मुंहपत्ति हाथ में रखने की प्रणाली चला कर आप स्वयं डूबते हैं और अपने भक्तों को भी संसार सागर में डुबाते हैं।

दण्डीजी! इस प्रकार मुंहपत्ति हाथ में रखना यह अनर्थ का मूल है। सबब इस व्यर्थ के झगड़े को त्याग दें और इतने दिन अभि-

निवेश मिथ्यात्व की गांठ वहों में पड़ कर मुंहपत्ति हाथ में धारण की तथा उसकी स्थापना की उसका प्रायश्चित लेकर शुद्ध हो जायं। और आगे से हाथ में रखना त्याग कर मुंह पर बांध अवश्य जिनाज्ञा के पालक बनें। यह मेरी हार्दिक भावना है।

मुंहपत्ति मुंह पर बांधने के और भी प्रमाण

दण्डीजी ! मुंहपत्ति मुंह पर बांधने के प्रमाणों में कुछ कमी रह गई हो तो फिर लीजिए। भिन्न भिन्न मतावलम्बियों की राय से भी मुंह पत्ति मुंह पर बांधने का प्रमाण मिल रहा है दण्डी लोग जरा आँखें खोल कर देखें।

"दुनियां के धर्म" नामक पुस्तक में लाल मलिक एम० एस० सी० की सम्मति पृष्ठ १२८ पर उद्धृत है कि "यति लोग अपनी जिन्दगी को को निहायत मुस्तकिल मिजाजी से बसर करते हैं। और वे अपने मुंह पर एक कपड़ा बांध रखते हैं जो कि छोटे २ कीड़े वगैरह को अन्दर जाने से रोक देता है"

फिर भी देखिए ! "इन्साइक्लोपेडिया" नामक बड़ी पुस्तक के ४६८ वें पृष्ठ पर इस प्रकार लिखा है "यती लोग अपनी जिन्दगी निहायत सब्र और इस्तकलाल के साथ बसर करते हैं। और एक पतला कपड़ा मुंह पर बांध रखते हैं और एकान्त में बैठे रहते हैं।"

इस ही प्रकार मिस्टर ए० एच० रडाल्फ होर्नले पी० एच० डी०

ने भी उपासक दशाङ्ग सूत्र का अनुवाद अंग्रेजी में किया है उस पुस्तक के पृष्ठ ५१ के १४४ वें नम्बर के नोट में उद्धृत है "मुखपत्ति जिसको संस्कृत में मुख पत्री कहते हैं अर्थात् मुख का ढक्कन। जिससे सूक्ष्म जीव उड़ने वाले मुख के अन्दर प्रवेश न कर सकें इसलिए छोटा सा कपड़ा मुख पर बांधते हैं उसे मुखपत्ति कहते हैं।"

महोदयों! उपरोक्त प्रमाण कितने जबरदस्त हैं क्योंकि प्रथम तो उनके लेखक विदेशीय विद्वान् हैं जिनको किसी का पक्ष नहीं। दूसरा उन्होंने मन्दिर मार्गियों के यतियों (साधुओं) के लिए ही लिखा है। इसलिए दण्डी लोगों को हाथ में मुंहपत्ति रखने की छूट का परित्याग करना ही उचित है।

दण्डीजी आगे देखिए! "भारतवर्ष का इतिहास" तीसरे और चौथे स्टैण्डर्ड के लिए। जिसके पृष्ठ २६—२७ पर इस प्रकार का उल्लेख है:—

"जैन मत और महावीर की कथा"

जैन मत—जैनी के तीन रत्न और तीन अनमोल शिक्षा हैं अर्थात् सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चरित्र। तीसरे रत्न में बुद्ध के पांच नियम हैं। १ लो झूंठ नहीं बोलना, २ रा चोरी नहीं करना ३ रा विषय वासना नहीं रखना, ४ था शुद्ध रहना, ५ वां मन वचन और कर्म में स्थिर रहना ६ ठा जीव हिंसा नहीं करना। पिछले नियमों को जैनी साधु बड़े यत्न से मानते हैं। कहीं छोटे से छोटे कीड़ों को भी वे दुःख न दे वा मार न डाले इसलिए वे पानी को छान छान के पीते हैं। और चलते समय झाड़ बुहार के आगे पाव धरते हैं। कहीं सांस लेने में कोई कीट पतंग मुंह में न चला जावे इसलिए वे अपने मुंह को कपड़े से ढाँके रहते हैं।"

निवेश मिथ्यात्व की बांध वाड़ी में पड़ कर मुखपत्ति हाथ में धारण की तथा उसकी स्थापना की उसका प्रायश्चित लेकर शुद्ध हो जावें। और आगे से हाथ में रखना त्याग कर मुंह पर बांध अवश्य जिनाज्ञा के पालक बनें। यह मेरी हार्दिक भावना है।

मुंहपत्ति मुंह पर बांधने के और भी प्रमाण

दस्सीजी! मुंहपत्ति मुंह पर बांधने के प्रमाणों में कुछ कमी रह गई हो तो फिर लीजिए। भिन्न भिन्न मतावलम्बियों की राय से भी मुंहपत्ति मुंह पर बांधने का प्रमाण मिल रहा है दस्सी लोग जरा आँखें खोल कर देखें।

"दुनियां के धर्म" नामक पुस्तक में जान मेविक एम० एल० डी० की सम्मति पृष्ठ १२८ पर उद्धृत है कि "यति लोग अपनी जिन्दगी को को निहायत मुस्किल मिजाजी से बसर करते हैं। और वे अपने मुंह पर एक कपड़ा बांधे रखते हैं जो कि छोटे २ कीड़े वगैरह को अन्दर जाने से रोक देता है"

फिर भी देखिए। "इन्साइक्लोपेडिया" नामक बड़ी पुस्तक के २६८ वें पृष्ठ पर इस प्रकार लिखा है "यती लोग अपनी जिन्दगी निहायत साफ और इसलाम्पात के साथ बसर करते हैं। और एक पतला कपड़ा मुंह पर बांध रखते हैं और एकान्त में बैठे रहते हैं।"

इस ही प्रकार मिस्टर ए० एफ० रडलाफ होर्नेले पी० एच० डी०

करते हुए पधार रहे थे। इसी प्रकार दोनों हाथ रुके हुए होने पर यदि मुंह पर मुंहपत्ति न वंधो हुई होती तो श्रावकों को उत्तर खुले मुंह कैसे दिया होगा इससे सिद्ध होता है कि गोतम स्वामी के मुंह पर मुंहपत्ति अवश्य वंधी हुई थी। और सर्व साधु हमेशा बाधते थे।

दण्डीजी पुन चित्र नम्बर दूसरे को देखिए? इसमें सुव्रताजी की आर्य्या तेतली प्रधान के यहाँ गोचरी गई वहाँ तेतली प्रधान की स्त्री ने आर्य्याजी को आहार वहरा कर कहा कि हे आर्याजी! मेरा पति मुझ से अभी रुष्ट हो रहे हैं। अतएव उसे प्रसन्न होने की कोई दवाई जड़ी वूटी, यंत्र, मंत्र, तंत्र जानती हो तो मुझे कृपा करदें। इस वात को सुनते ही आर्याजी ने दोनों हाथ की दोनो अगुली दोनों कान में देकर वोली हे पोटला! ऐसे तेरे वचन हमें कानो से सुनना भी योग्य नहीं हैं।

अव कहिए दण्डीजी! उस साध्विजी के दोनो हाथ रुकने पर यदि मुंहपत्ति मुह पर नहीं वंधी हुई थी तो वह साध्वीजी खुले मुंह कैसे वोली। इससे सप्रमाणित सिद्ध होता है कि उस आर्याजी के मुंह पर ...त्ति अवश्य वंधी हुई थी।

दण्डीजी देखिए! चित्र नम्बर तीसरे को यह चित्र सन् १९२२ ...प्रेल मास की हिन्दी ससार की प्रसिद्ध 'सरस्वती' मासिक ... में पृष्ठ २०४ पर चित्र का व्लाक तैयार होकर छपा है ... सप्त दश आचार्यों* का है। इसमें का वारहवां चित्र ... अर्थात् भगवान ऋषभदेव का है जिनके मुखारविन्द ... वधी हुई है। कई चित्र, चरित्र और कथा आधार पर

---

* आदि नाथ भगवान् को ऊपर हमने अपनी ओर से आचार्य नहीं लिखे ... भूल तो 'सरस्वती' सम्पादक की है। हमने तो चित्र जिस नाम से छापा ... के अनुसार केवल मुख वस्त्रिका के प्रमाणार्थ लिखा है।

पाठको ! इस विषय के शास्त्रीय एवम् अनेक ग्रन्थों के प्रमाण देने में हमने कोई बाव उठा नहीं रक्खी फिर भी मु हपत्ति मु ह पर बाँधने के प्रमाण प्राचीन चित्रों के द्वारा दिखाए जा रहे हैं।

चित्रों द्वारा प्रमाण

पाठको ! यह बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं है कि, ससार में चित्र कितने मोल की वस्तु है। पुरातत्व भेत्ताओं को चित्रों एवम् शिला लेखों ने ही प्राचीन इतिहास का विरोध पता दिया है। इतिहास को अन्धकार से प्रकाश में लाने के लिए चित्रों ने जितनी मदद की है उतनी किसी ने नहीं की। यदि प्राचीन चित्र उपलब्ध न हुए होते तो यह पता कहां से चलता कि, किस समय कैसा वेष था और किस धर्म के लोग किस तरह का पहनाव रखते थे और यह चित्र किस समय का है इत्यादि।

हमारे कथन का यह भाव है कि चित्र सामाजिक परिस्थिति के अनुकूल बनते हैं। अर्थात् जिस समय जैसा वेष भूषा समाज में होता है उसके अनुकूल ही चित्र बनते हैं। और इसीलिए समय और इति-हास की खोज में लोग चित्रों को बहुत प्रमाणिक मानते हैं।

हम भी इन दृढियों क एवं उनके उपासकों के व अन्य पाठकों के सम्मुख आज वैसे ही प्राचीन चित्र रख रहे हैं जो मुख वस्त्रिका को मुख पर बांधने का प्रमाण देंगे। यदि पूर्व काल में मुख वस्त्रिका मुख पर न बांधी जाती तो ऐसे चित्र कैसे तैयार हो सकते थे!

दयालोगो ! चित्र नम्बर १ को देखिए इसमें गोतम स्वामी पोलासा-पुरी नगरी में गोचरी जा रहे थे उस समय एवंता कुमार ने गोतम स्वामी के एक हाथ की अंगुली पकड़ी। और दूसरे हाथ में भोजन की झोरी थी उसमें आहार ग्राह्य होना सम्भव क्योंकि स्वामीजी गोचरी

निर्वाण पद प्राप्त हुआ था और जिसको श्वेताम्बर जैन सब ही जानते हैं। हमारा अभिष्ट तो इस चित्र से यहा पर यही है कि, महात्मा गज-सुखमालजी के मुंह पर मुखवस्त्रिका बंधी हुई है।

इस प्रकार नम्बर छट्ठे ब्लाक का चित्र ध्यानारूढ़ 'प्रसन्न चन्द्र राजऋषि' का है। पास में दो सामन्त मित्र खड़े हैं। ये दोनों महर्षि को ध्यान से विचलित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। परन्तु इस कथा के कथन की भी हमें आवश्यकता नहीं है। हम जो इसमें बत-लाना चाहते हैं वह यही है कि उपरोक्त राजऋषि के मुख पर भी मुख-वस्त्रिका बंधी हुई है।

इसके अतिरिक्त जीर्ण भण्डारों से जो चित्र निकलते हैं उनमें भी साधुओं के मुंह पर मुखवस्त्रिकाए वधी हुई हैं। देखो चित्र सातवां का दृश्य यह है कि एक नटनी पर आसक्त होने वाला धनदत्त सेठ का पुत्र नाट्य मण्डली में सम्मिलित होकर किसी राजा के सम्मुख अपनी नट विद्या दिखा रहा है। उस अवसर पर मुखवस्त्रिका धारण किये हुए दो तपोनीष्ट साधु एक गृहस्थ के घर से भिक्षाशन ग्रहण कर रहे थे उन्हें देख सेठ पुत्र को विराग उत्पन्न हुआ था। यह चित्र भी मुखवस्त्रिका मुख पर बांधने का प्रत्यक्ष प्रमाण दे रहा है।

देखिए! और भी चित्र न० आठवा। सूत्रों के वर्णानुसार महा-वीर पाण्डव दीक्षित होकर हिमालय की उपत्यका में तटिनी वालुका पर संथारा लेकर (सयम से) लेटे हुए हैं। पास मे एक एक ओघा और एक एक झाली है। और सभी के मुह पर मुखवस्त्रिकाए वधी- हुई हैं।

एक और उदाहरण लीजिए! चित्रशाला प्रेस पूना से प्रकाशित होने वाली "सचित्र अक्षर लिपि" नामक पुस्तक में जो यति का चित्र दिया है, उसके मुहपर भी मुख वस्त्रिका बंधी हुई है।

दण्डीजी कहिए! क्या अब भी किसी प्रमाण की आवश्यकता

चरित्र नायक के देहावसान पीछे भी तैयार होवे हैं इसको हम मानते हैं। परन्तु चित्रकार लोग चित्र प्राचीन ग्रन्थों में जैसा वर्णन मिलता है उसी के अनुसार बनाते हैं। उसमें आकृति भले ठीक नहीं मिलती हो परन्तु वेषो, विन्यास में कुछ फर्क नहीं रहता है। इस ही प्रकार उपरोक्त चित्र भी काल्पनिक है परन्तु हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि, पहले मुख वस्त्रिका मुंह पर साधु सन्त बांधते थे तब ही तो इस चित्रकार ने भी मुंह पर मुखवस्त्रिका बंधी हुई चित्र का दृश्य दिखलाया। मुखवस्त्रिका मुंह पर बांधी जाती है इसको मानने में दयाधी लोगों को अब क्या पसोपेश हो सकता है ? वाचक वर्ग आप ही कहिये।

पुनः प्राचीन समय में विलायत की 'जयराज' नामक कोई कम्पनी थी और उसके बंश भारत में आते थे उसका एक चित्र प्राप्त हुआ है। इसका भी हमने ब्लाक तैयार कराया है जो नम्बर चार का है। इस चित्र में दिखाया गया है भगवान आदिनाथ के पुत्र महात्मा बाहुबलीजी खड़े हैं मुख पर मुखवस्त्रिका बंधी है, पास में रजोहरण पड़ा है एक ओर उनकी बहिनें ब्राह्मी और सुन्दरीजी कर जोड़े प्रार्थना कर रही हैं कि, आप मान के हाथी पर आरूढ़ न हो कर अपने भ्राता के पास जाइए। उन साध्वियों के मुंह पर भी मुख वस्त्रिकाएं बंधी हुई हैं।

पुनः इसी कम्पनी के दो और चित्र ब्लाक संख्या पाँचवीं और छठी को देखिए। नम्बर पांचवां का चित्र—ध्यानावस्थित 'गज सुकमाल' जी का है जो कृष्ण महाराज के छोटे भ्राता थे। इसमें यह बतलाया है कि, एक पुरुष इनके शिर मृत्तिका का थाला बांध बना कर उसके भीतर अंगारे भर रहा है। अंगारे भरने वाला पुरुष कौन है ? और उसके इस प्रकार के अत्याचार का क्या कारण है ? यह बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं। इसलिए कि प्रथम तो इस कथा का वर्णन इसमें अप्रासंगिक होगा। द्वितीय इनकी कथा प्रसिद्ध है। इसी अवसर इनको

४—हाथ में मुंहपत्ति रखने के बहाने मुंहपत्ति को किसानों की चिलम तमाखू की कोथली ज्यों कमर मे लटकाने के दोष से दूषित होते हैं।

५—हाथ में मुंहपत्ति रखने के बहाने मुंहपत्ति को उपाश्रय में रखकर गौचरी आदि चले जाने का दोष सेवन करते हैं।

६—हाथ में मुंहपत्ति रखने से बारबार मुंह पर लेना पड़ती है जिससे अन्य दर्शनी यह समझते हैं कि क्या ये मक्खियाँ उडा रहे हैं ?

७—भगवान् ने मुंहपत्ति एवम् रजोहरण ये दोनों साधु के चिन्ह बतलाये हैं अतः मुंह पर मुंहपत्ति बांधे हुए साधु के किसी मार्ग से निकलने पर किसी से पूछा जाय कि मुंहपत्ति वाले साधु इधर गए हैं तो वह अवश्य कहेगा कि इधर गए हैं। पर हाथ में मुंहपत्ति रखने वाले साधु उस मार्ग से जावें और पूछा जाय कि मुंहपत्ति वाले साधु इधर गए हैं तो यही उत्तर मिलेगा कि मुंहपत्ति वाले तो नहीं गए पर लट्ठ वाले साधु जारहे हैं, यह दोष मुंहपत्ति हाथ में रखने से प्राप्त होता है।

८—थूंक में असख्य सर्मुच्छिम मनुष्य नहीं होते तदपि भगवान् के कथन से विरुद्ध होकर भोले लोगों को अपने चगुल में फसाने के लिए थूंक में असंख्य जीवों की उत्पत्ति बताकर मुह पर मुंहपत्ति नहीं बांधते यह दण्डी लोगों की मायाचारी है।

९—मुंहपत्ति मुंह की यत्ना के लिये सूत्रों में बतलाई है। किन्तु मुंहपत्ति से पूंजने का किसी सूत्र में कथन नहीं है। तदपि दण्डी लोग मुंहपत्ति से मुंह आदि पूंजते हैं यह सूत्र विरुद्ध है।

१०—मुंहपत्ति मुंह पर न बांधने से बार बार मुंह के आगे नाटक के पर्दे की तरह लगानी पड़ती है।

११—जैनागमों में जहा तहा दुर्गन्ध से बचने के लिये नाक ढंकना कहा, किन्तु दण्डी लोग व्याख्यान देने आदि समय में मुंहपत्ति से नाक ढककर मुंहपत्ति की विटम्बना करते हैं।

है ? जब कि हर प्रकार से हम यह साबित कर चुके हैं कि मुंहपत्तिका मुंह पर बांधने ही की वस्तु है हाथ में रखने की नहीं।

दण्डीजी ! क्या मुंहपत्ति को मुंह पर बांधने से कानों को कष्ट पहुँचता है इस कष्ट से बचने के लिये मुंहपत्ति हाथ में रखने की नई प्रणाली तो नहीं चलाई ? क्या ऐसे तनिक कष्ट से घबराकर हाथ में मुंहपत्ति रखना और खुले मुंह बोलने के भयंकर दोष से दूषित बनना साधु का कर्तव्य है ? हमारा तो समस्त निष्पक्षपाती मन्दिरमार्गी भाई और बहिनों से निवेदन है कि वे एक बक्त अवश्य विचार करें और देखें कि दण्डी लोग हाथ में मुंहपत्ति रखने के बहाने निसंकोच खुले मुंह बोलते जा रहे हैं, भला यह कौनसा सिद्धान्त है कि साधुवृत्ति में कुछ कष्ट आ पड़े कि उसका परिवर्तन करदें। साधु उसीका नाम है कि जो अपनी आत्मा को उज्वल करने के लिये कष्टों के सागर में पड़कर भी उन दु:खों का अन्त करे किसी कवि ने कहा है कि—

कष्टसागर में गिरो, गर पाप है धोना तुम्हें।

दुख की भट्टी में जलो, बनना है गर सोना तुम्हें॥

प्रिय महोदयो ! मुंहपत्ति हाथ में रखने से खुले मुंह बोलने का एकही दोष न समझें। एक के परिवर्तन से अनेक दोषापत्ति हो जाती है कुछ वास्तविक दोषों को यहाँ बतला देना अनावश्यक नहीं होगा। ध्यानपूर्वक पढ़ें —

१—प्राचीनकाल के सर्व साधुओं पै मुंहपत्ति हाथ में रखने का मिथ्या दोष लगाते हैं।

२—शास्त्रों के नाम से प्रत्यक्ष झूठ बोलकर हाथ में मुंहपत्ति रखने का झूठा दोष लगाते हैं।

३—हाथ में मुंहपत्ति को रखने के बहाने से खुले मुंह बोलने का महाभयंकर दोष सेवन करते हैं।

मक्खी भी उसके झपाटे के साथ प्राण त्याग देते हैं, अतः हाथ मे मुंहपत्ति रखना हिंसा वढ़ाना है।

२०—हाथ में मुंहपत्ति रखने से उस मुंहपत्ति को रूमाल समझकर अन्य दर्शनी लोग हंसी करते हैं कि साधु होकर शौक साधने के लिये रूमाल रखते हैं उससे उन लोगों के कर्म बंधते हैं। और हाथ में मुंहपत्ति देखकर जैन शासन की निन्दा करवाने वाले अनन्त संसारी बनते हैं।

२१—मुंहपत्ति हाथ में रखकर सूत्र, अर्थ बदल उत्सूत्र की प्ररूपणा कर महान दोष के भागी बनते हैं। और जमाली से टाइटिल प्राप्त कर दीर्घ संसार वढ़ा लेते हैं।

२२—मुंहपत्ति कहकर उसको हाथ में रखना शास्त्र की दृष्टि से विरुद्ध है। अम्मा कहकर उसके साथ औरत का व्यवहार कौन मनुष्य करता है? ऐसेही मुंहपत्ति कहकर उसे हाथ में रखने वाले की बुद्धि को ऐसा कौन मूर्ख है जो सराहेगा।

२३—तीर्थंकरों की आज्ञा लोपकर सावद्याचार्यों के बनाये हुए ग्रंथों का सहारा लेकर जो हाथ में मुंहपत्ति रखते हैं वे महामिथ्यावादी और हठाग्रही हैं।

२४—बड़े २ वैद्य एवं डाक्टर लोगों का सिद्धान्त है कि हवा के जरिये बहुतसे जहरीले जन्तु और प्रमाणों में घुस कर रोगोत्पत्ति कर बैठते हैं, इससे भी मुंहपत्ति मुंह पर बाँधना लाभदायक सिद्ध है, तदपि दण्डी लोग हाथ में मुंहपत्ति रखने का मिथ्या आडम्बर फैलाते हैं।

२५—दशवैकालिक सूत्र के पांचवें अध्याय के प्रथम उद्देशे में "हत्थगं" शब्द का साफ हाथ अर्थ होता है। तदपि 'हत्थगं' का झूठा अर्थ मुंहपत्ति कर हाथ में रखने की ठगबाजी चलाकर भोले लोगों को अपने फंदे में फंसाना चाहते हैं।

२६—भगवती सूत्र के १६ वें शतक के तीसरे उद्देशा में इन्द्र के प्रसंग पर

१२—श्वेत वस्त्र त्याग पीले वस्त्र पहनें, उसी मुआफिक मुंहपत्ति बाँध कर न फिरते हाथ में रखना सीखे, इस प्रकार अनादि काल की मर्यादा भंग कर अनन्त तीर्थंकरों की असातना करते हैं।

१३—मुंहपत्ती यौगिक शब्द से मुंह पर बांधना स्पष्ट अर्थ निकलता है, वैसी हठाग्रही आभिनिवेशिक मिथ्यात्व के आवेश में आकर मुंह पत्ति हाथ में रखते हैं।

१४—दाढ़ी मूछों का लोच कर हाथ में मुंहपत्ति रखने से जैनमुनि निवुध्विय दृष्टिगत होते हैं जिससे अन्य दर्शनी जैनशासन की बड़ी निन्दा करते हैं, और कहते हैं कि ये तुच्छी लट्टुधारी आवते हैं।

१५—मुंहपत्ति शब्द से धागा स्वयं सिद्ध है। जैसे रजोहरण में फलियें रखने का सूत्रों में अधिकार है परन्तु धागे का जिक्र नहीं है, तो भी फलियें धागे से पिरोकर रजोहरण तैयार किया जाता है इसी तरह मुंहपत्ति भी बिना धागे के मुंह पर नहीं बंध सकती। तो भी इयकी लोग धागे को काट कर मुंहपत्ति हाथ में रखना ठहराते हैं यह इयकी लोगों की अनसमझ का नमूना है।

१६—जैन सूत्रों में कहीं ऐसा उल्लेख नहीं है कि किसी श्रावक ने मुंहपत्ति हाथ में रक्खी तो भी उनका झूठा नाम लेकर मुंहपत्ति हाथ में रखते हैं यह जिनेश्वर भगवान की आज्ञा का उत्थापन करते हैं।

१७—मुंहपत्ति से मुंह की यत्ना करने का उन सूत्रों में जिक्र है। छींक, खांसी आदि करते समय नाक की यत्ना करना चाहिये और आड़ा हाथ लगाना चाहिये। तो भी इयकी लोग मुंहपत्ति को नाक पर बांध कर शास्त्र विरुद्ध दोष सेवन कर रहे हैं।

१८—बारहवर्षी काल के समय की हाथ में मुंहपत्ति रखने की बंध रूढ़ी को अभी तक नहीं त्यागना हठाग्रह नहीं तो और क्या है ?

१९—बारम्बार मुंहपत्ति हाथ से मुंह के आगे देने में कभी २ मच्छर व

मक्खी भी उसके झपाटे के साथ प्राण त्याग देते हैं, अतः हाथ मे मुंहपत्ति रखना हिंसा बढ़ाना है।

२०—हाथ में मुंहपत्ति रखने से उस मुंहपत्ति को रूमाल समझकर अन्य दर्शनी लोग हंसी करते हैं कि साधु होकर शौक साधने के लिये रूमाल रखते हैं उससे उन लोगो के कर्म बंधते हैं। और हाथ में मुंहपत्ति देखकर जैन शासन की निन्दा करवाने वाले अनन्त ससारी बनते हैं।

२१—मुंहपत्ति हाथ में रखकर सूत्र, अर्थ बदल उत्सूत्र की प्ररूपणा कर महान दोष के भागी बनते हैं। और जमाली से टाइटिल प्राप्त कर दीर्घ संसार बढ़ा लेते हैं।

२२—मुंहपत्ति कहकर उसको हाथ में रखना शास्त्र को दृष्टि से विरुद्ध है। अम्मा कहकर उसके साथ औरत का व्यवहार कौन मनुष्य करता है? ऐसेही मुंहपत्ति कहकर उसे हाथ में रखने वाले की बुद्धि को ऐसा कौन मूर्ख है जो सराहेगा।

२३—तीर्थंकरों की आज्ञा लोपकर सावद्याचार्यों के बनाये हुए ग्रंथों का सहारा लेकर जो हाथ मे मुंहपत्ति रखते हैं वे महामिथ्यावादी और हठाग्रही हैं।

२४—बड़े २ वैद्य एवं डाक्टर लोगों का सिद्धान्त है कि हवा के जरिये बहुतसे जहरीले जन्तु और प्रमाणों में घुस कर रोगोत्पत्ति कर बैठते हैं, इससे भी मुंहपत्ति मुंह पर बाँधना लाभदायक सिद्ध है, तदपि दण्डी लोग हाथ में मुंहपत्ति रखने का मिथ्या आडम्बर फैलाते हैं।

२५—दशवैकालिक सूत्र के पांचवें अध्याय के प्रथम उद्देशे में "हत्थगं" शब्द का साफ हाथ अर्थ होता है। तदपि 'हत्थगं' का झूठा अर्थ मुंहपत्ति कर हाथ में रखने की ठगबाजी चलाकर भोले लोगों को अपने फंदे में फंसाना चाहते हैं।

२६—भगवती सूत्रके १६ वें शतक के तीसरे उद्देशा में इन्द्र के प्रसंग पर

निर्णय भाषा यह कहा कि मुंहपर कपड़ा बांधकर या लपेटकर बोले इससे मुंहपत्ति मुंह पर बांधना सिद्ध है। तो भी इसको लाग हाथ में मुंहपत्ति रखना नहीं छोड़त और आभिनिवेशिक मिथ्यात्व का सेवन करते हैं।

२७—ज्ञाताजी सूत्र के १४ में अध्याय में सुव्रता आर्या जो पोटला के यहाँ गहरने के लिये गई तब पोटला आहार पानी वहराकर कहने लगी कि ह गुरानी! जो आप महुससे देश देशान्तर फिरती हो, कहीं पर पति को वश करने वाली जड़ी बूटी देखी हो तो वो मा बताओ, पोटला के ये वचन सुन सुव्रता आर्या ने दोनों हाथ की दोनों अंगुली कान में डाल दी और बोली हे पोटला! जो तुमने ये वचन कहे यह कार्य करना तो दूर है पर कानों में सुनना भी हमार लिये अकरणीय है। अब यहाँ पर मुंहपत्ति नहीं बंधी होती तो खुले मुंह आर्याजी कैसे बोली? क्योंकि दोनों हाथों की दोनों अंगुली तो दोनों कान में दे रखी थीं? इससे सिद्ध है कि मुंहपत्ति मुंह पर बंधी हुई थी, इस महान प्रमाण को अविवेकी उत्थापन कर हाथ में रखने का झूठा ढोंग ठहराते हैं।

२८—विपाक सूत्र में गौतम स्वामी मृगा लोढ़े को देखने पधारे। वहाँ पर मृगारानी ने दुर्गन्ध के कारण गौतम स्वामी को चौड़े शब्दों में नाक की जगह मुंह बांधने को कहा, यदि कहें कि उस समय गौतम स्वामी के मुंहपत्ति नहीं बंधी थी मृगा रानी ने बंधवाई तो क्या पहिले गौतम स्वामी खुले मुंह बोलते थे? कभी नहीं। इससे स्वयं सिद्ध है कि गौतम स्वामी के मुंह पर मुंहपत्ति बंधी थी इस मगवद् कथन को भी इसकी लोग उत्थाप कर मुंहपत्ति हाथ में रखने की शास्त्र विरुद्ध प्रणाली को दृढ़ बनाते हैं।

२९—इसकी लोगों के बीमार होने से उनमें कभी तो इतनी अशक्तता आ-जाती होगी कि वे हाथ में मुंहपत्ति नहीं रख सकते होंगे तब क्या

खुले मुंह बोल कर दोष के भागी होते होंगे ?

—भगवान ने मुंह पर मुंहपत्ति बांधना फरमाया । पर दण्डो लोग कभी २ मुंहपत्ति पास न होने से पछेवड़ी आदि का पल्ला लगाकर बोलते पाये जाते हैं । तो क्या यह मुंहपत्ति हाथ में रखने की प्रणाली से दोष नहीं बढ़ा ?

१—व्याख्यानादि के समय दण्डी लोग नाक पर भी मुंहपत्ति बांधते हैं, अगर उस समय छींक आती होगी तो श्लेष्म का रेला मुंह में भी चला जाता होगा ? इस तरह सच्ची प्रणाली त्याग मुंहपर मुंहपत्ति न बाँध नाक पर बांधना सिवाय अविवेकता के और क्या है ?

३२—दण्डी लोग व्याख्यान के समय कोई तो नाक पर बांधते हैं और कोई हाथ मे रखते हैं यह भी इनकी विचित्र लीला का नमूना है ।

३३—जगत् में यह बात सत्य है कि चोर धाड़ेती, जब चोरी करने एवम् दिन दहाड़े डाका डालने जाते हैं तब वे लुटेरे लोग आंखो के सिवाय नाक तक वस्त्र बांध लेते हैं कि उन्हें कोई पहचान न सके इसी तरह दण्डी लोग जिनेन्द्र कथित मार्ग को लूटने वाले चोर धाड़ेती जैसे हैं (इसका उल्लेख कभी समय आने पर किया जायगा) इसीलिये नाक पर वस्त्र लगा कर व्याख्यान देने की कुबुद्धि पैदा करते हैं ।

३४—मुंहपत्ति नाक तक बांधने से घोड़े के तोवरे ज्यों मालूम होती है इसलिये घोड़े के तोवरे ज्यों न बाध मुंह पर बाँधना ही शास्त्रोक्त है ।

३५—मुंह पर मुंहपत्ति बाधने से कभी आवाज नहीं रुक सकती क्योंकि ओष्ठ से मुंहपत्ति कुछ दूर रहती है । पर नाक पै बांधने से तो अवश्य शब्द रुक जाते हैं । और कभी २ नकटे जैसे स्वर भंग हो शब्द निकलते हैं इसलिये मुंहपत्ति नाक तक बाधना दण्डी लोगों की अविवेकता है ।

१६—इसकी लोग जब लिखने बैठते हैं तब एक हाथ में कलम और एक हाथ से वह कागज़ पकड़ते हैं जिस पर लिखना है। फिर उस समय खुले मुंह बोलना पड़ता है। यह भी दोष हाथ में मुंहपत्ति रखने से पैदा होता है।

१७—इसकी लोगों की मायाचारी जब मालूम होती है जब ये बंडले या गोचरी जाते हैं तब तो मुंहपत्ति पास में रखते हैं और उपाश्रय में हर समय हाथ में नहीं रखते हैं।

१८—सूत्रों में गुरुओं को वंदना करने का विधि यह लिखी है कि दोनों हाथ जोड़ गुरु के चरणारविन्द में लगा देना बाद स्तुति वाक्य बोलना। यदि मुंह पर मुंहपत्ति नहीं बंधी हो तो शिष्य गुरु की स्तुति वाक्य कैसे बोल सकते हैं ? इससे मुंहपत्ति हाथ में रखना शास्त्र विरुद्ध है।

१९—जैनागमों में जगह जगह मुंहपत्ति शब्द आया है पर किसी भी सूत्र में किसी जगह यह नहीं आया कि "हस्तपत्ति" तथापि इसकी लोग हाथमें रखकर अनन्त तीर्थंकरोंकी आज्ञाका उत्थापन करते हैं।

५०—जैनागम के मूलपाठ में मुंहपत्ति को हाथ में रखने की गंध मात्र भी नहीं है। तदपि इसकी लोग मुंहपत्ति को हाथ में रखने का मूंठा ढोंग कहाँ से लाये हैं ?

५१—उपरोक्त अनेक पापापत्ति मुंहपत्ति हाथ में रखने से प्राप्त होती हैं। इसलिये आत्मार्थी भव्य जीवों को चाहिये कि इतने रोज़ मुंहपत्ति हाथ में रखी उसका प्रायश्चित लेकर शुद्ध बनें और बाद अपने अपने मुंह प्रमाणे मुंहपत्ति का मुंह पर बांधने की अनादि सच्ची रीति स्वीकार कर धर्म किया करें ताकि उनका परम हित हो।

मिथ्या ग़लापी दंडीजी ने पृष्ठ ३१ से ५० तक ४८ बातें
लिख कर अपनी विद्वता की डींग हाकी है उसका
उत्तर भी यहाँ सिलसिले वार दे देना
अनुपयुक्त नहीं होगा।

१—दण्डीजी ! जैन मुनि पास में रजोहरण इसलिए रखते हैं कि उससे जीव रक्षा हो सिर्फ दिखाने के लिये नहीं रखते जब रात्रि में गुरु आदि को नमस्कार करने के लिये, स्वाध्याय काल की प्रतिलेखणा के लिये एवम् नाक आदि का श्लेष्म दूर करने के लिये स्थानक में या स्थानक के बाहर चलने की जरूरत पड़ती है उस समय रजोहरण से भूमि को पूंज कर चलने का भगवान् का हुक्म है। इसी तरह दिन में भी किसी जगह अंधकार में या गौचरी जाते गृहस्थ के मकान की सीढ़ी चढ़ते व उतरते समय पूंजने का काम पड़े तो उसी रजोहरण से पूंज लेने का हुक्म है।

अब विचारना चाहिये ! साधु ३२ अंगुल के रजोहरण से नाल (सिढी) उतरते हुए कैसे पूंज सकते हैं ? इसलिये भगवान् का हुक्म है कि जिस प्रकार मुंह प्रमाणे मुहपत्ति बाधे उसी प्रकार अपने २ कद के अनुसार पूजा जाय ऐसा रजोहरण रक्खे। लम्बे कदवाला लम्बा रजोहरण बनावे और छोटे कद वाला छोटा अगर बालक साधु हो तो छोटी दण्डी रक्खे। पर ऐसा कहीं भी ३२ सूत्रों में नहीं लिखा कि सब ३२ अंगुल का रजोहरण रक्खें। और उसे चद्दर में छिपाये रहे। जैन साधु तो जिससे पूजा जा सके ऐसा रजोहरण रखते हैं और जब चलते हैं तब यत्नापूर्वक चलते हैं। दण्डीजी का यह लिखना मिथ्या है कि उसमें हिंसा होती है। क्योंकि भगवान ने दशवैकालिक सूत्र में "जयं चरे जयं चिट्ठे" यत्ना से चलने में पाप बंधन नहीं होता ऐसा कहा है।

२—दयाधीजी ! जैन मुनि चद्दर में गांठ इसलिये लगाते हैं कि हवा के जरिये उड़ कर वायु काय के जीवों का विनाश न हो। तथा चद्दर के पल्ले उड़ कर किसी स्त्री आदि को न छू जायें। वे फकीरों की तरह खुली चद्दर नहीं ओढ़ते जैसे दयाधी लोग ओढ़ते हैं। खुली चद्दर ओढ़ने वालों के चद्दर के पल्ले मेरु ध्वजा की तरह उड़ते जाते हैं और हर एक से छू भी जाते हैं। इसलिये दयाधियों को चाहिये कि फकीरों की तरह चद्दर का ओढ़ना छोड़ कर श्वे० स्थानकवासी जैन मुनियों की तरह चद्दर में गांठ लगा कर ओढ़ा करें।

३—दयाधीजी ! मुंहपत्ति मुंह पर बांधने से हिलती नहीं है। यदि कभी जोर से हवा चलने पर हिलने लगे तो श्वे० स्थानकवासी जैन साधु उस पर हाथ रख दबा देते हैं जिससे अयत्ना नहीं होती है। दयाधीजी ! व्याख्यान आदि के समय तुम खुद मुंह पर मुंहपत्ति बांधते हो और तुम्हारे पूर्वाचार्यों ने भी बांधना लिखा है तो क्या वे पूर्वाचार्य और तुम दयाधी लोग सब वायुकाय के कसूर होते हो जो मुंहपत्ति बांधना लिखते हो और बांधते हो। तब तो तुम्हारे लेखानुसार हिंसक भी कह दें तो अत्युक्ति नहीं होगी क्योंकि तुम मुंहपत्ति बांधने में ही हिंसा ठहराते हो। दयाधीजी ! लिखने के प्रथम अपने घर को भी देख लिया करो कि मेरे कलम से मेरी ही बात तो नहीं कटेगी ?

फिर देखिये ! मुंह पर मुंहपत्ति न बांधने से बार २ मुंह के आगे मुंहपत्ति वाले हाथ को रखने में वायुकाय की अवश्य हिंसा होती है। अतएव दया के लिये ही श्वे० स्थानकवासी जैन साधु की तरह मुंह पर मुंहपत्ति बांध हिंसा से बचने की कृपा करें।

४—दयाधीजी ! श्वे० स्थानकवासी जैन मुनि आम बाजार में पब्लिक व्याख्यान देते हैं वे अपने लिये सामियाने तम्बू आदि खड़े किये हों या पाल आदि बांधे हों उसके नीचे बैठ कर नहीं देते उसमें शहर का

बाहर से आने वाले श्रावक श्राविकाएं आराम से बैठ श्रवण करें तो इस में मुनि को कौनसा दोष लगा ? तथा दीक्षा एवम् तपोत्सवादि पर मण्डप आदि बना कर ध्वजा पताकाएं लगाते हैं उनके हिलने डुलने मे जो हिंसा होती है उसको श्रावक लोक पाप ही समझते हैं और उस पाप का पश्चात्ताप कर मिथ्या दुष्कृत भी ग्रहण करते हैं। पर तुम दण्डियों के अनुयायी लोग, मन्दिर आदि बनवाने मे, तीर्थ यात्रा करने में, तथा मूर्ति पर फल फूल जल आदि चढ़ाने एवम् मूर्ति आदि की पूजा करने में, नाचने में, कूदने में, ढोल, नक्कारे, मृदंग, झाझ तालि आदि बजाने में जो कुछ भी पाप होता हो उसका प्रायश्चित तो नहीं लेते ? अगर व भी इन पापों का प्रायश्चित लेते होने तो हम अवश्य समझते कि दण्डी लोग व उनके अनुयायी कुछ राह पर हैं।

५—दण्डीजी! श्वे० स्था० जैन मुनि अपनी शोभा के लिये चातुर्मास पत्रिका, क्षमापना पत्रिका, तपोत्सव पत्रिका नहीं छपवाते। गृहस्थ लोग उनकी शोभा के लिए क्षमापत्रिका तपोत्सव पत्रिका छपवाते हैं पर दण्डीजी! यह कहां का न्याय है कि—'हम करें उसमें पाप नहीं और श्वे० स्थानकवासी गृहस्थ भी करें तो पाप का पलड़ा भर जाय" क्या यह कहने के लिये ही लेख लिखा कि अपना घर भी देखा, देखो, तुम्हारे ही घर में क्या हो रहा है ? तुम खुद दण्डी लोग अपनी शोभा के लिये संघ निकालते समय, उपधान तप के समय, मूर्त्ति प्रतिष्ठा आदि के समय अपने भक्तों के मार्फत आमत्रण पत्रिका आदि छपवाते हो तो क्या तुम्हारे लेखानुसार तुम अनर्थ दण्ड नहीं कर रहे हो ? और मुंह से कहते जाते हो कि अनन्त हिंसा का हेतु है। यह तो वही कहावत चरितार्थ हुई कि "हाथीके दांत खानके और व दिखाने के और हैं" ऐसी मायाचारी दण्डी लोगों को अवश्य त्यागना चाहिये।

६—दण्डीजी! चातुर्मास में विचरने की साधुओं के लिये सर्वथा मनाई है। क्योंकि साधु सर्व हिंसा के त्यागी हैं। किन्तु गुरुओं के

दर्शनाभिलाषी श्रावकों को चातुर्मास में आने के लिये किसी सूत्र में निषेध नहीं किया है। क्योंकि श्रावक सर्व हिंसा का त्यागी नहीं। यदि चातुर्मास में श्रावकों का आना जाना निषेध होता तो पावापुरी नगरी में भगवान् महावीर के अन्तिम चातुर्मास में अठारा देश के राजा दर्शनों के लिये क्यों आते ?

दयाडोजी ! श्वे० स्थानकवासी जैन मुनि न तो अपनी महिमा पूजा बढ़ाने के लिये ही लिखवाते और न वन्दना व तपस्या के पूर के नाम से पत्र लिखवा कर भिजवाते हैं और न पत्रिका छपवाते हैं। झूठ ही लिख कर दयाडोजी ने अपने मुंह कालिमा पोती है। भला यह झूंठ तुमसे कभी छूटेगा भी ? क्या तुमने किसी कार्ड पर यह लिखा देखा कि "मेरी महिमा बढ़ाने के लिये तुम श्रावक लोग यहां आना" फिर व्यर्थ ही गप्प मार कर ना समझों की आंख में धूल डालना हो क्या तुमने अपना कर्तव्य समझ रक्खा है ? पर देखो श्वे० स्थानकवासी जैन साधु किसी भी पत्र पत्रिका में न तो ऐसा लिखते, न लिखवाते और न छपवाते हैं। हां, दयाडो लोग अवश्य अपने हाथों से कार्ड वगैरह लिखते हैं और पास में रखते भी हैं। देखो तुम्हारे सम्झर नामे की ८१ वीं ढाल की गाथा १ ली में तुम्हारे ही अनुयायी दयाडोजी ने कहा है कि——

> मोटा होवे साधु साध्वी पत्र लखे हो ! पावाने मान।
> भावे पोतानां नाम थी, कोण जाणे हो ! शु करे काम ॥१॥
> कम्मर, कार्ड होकीट घणा मोटी हो ! राखे मस्तान।
> पारसल म्हो० थी तथा गमणा हो कोण राखे ज्ञान ॥२॥

पाठको ! दयाडियों के चारित्र में इस प्रकार की पोल होते हुए भी वे श्वे० स्थानकवासी जैन साधुओं पर आक्षेप करते नहीं डरते यह सिर्फ उन की निर्विवेकता है। कपोल कल्पना से भोलों को बहकाना सिर्फ धृष्टता दिखाना है।

अब यह समझना आवश्यक है कि चाहे हजारों श्रावक, श्राविकाएं दीक्षा, तपोत्सव, पूज्य पदवी आदि पर आवें और चाहे हजारों मन शक्कर पानी में गिरे पर जब इसकी अनुमोदना श्वे० स्था० जैन साधु स्वप्न में भी न करें तो उस आरम्भ आदि पाप के भागी साधु क्यों कर हो सकते हैं ? साधु तो तपस्या एवम् संयम द्वारा अपनी आत्मा का मैल हटाने में तल्लीन हैं। श्रावक लोग अपने गांव की शोभा दिखाने के लिये आमंत्रण पत्रिका भेज कर बुलवावें और आये हुए के आगत स्वागत में हजारों खर्च करें तो वे गृहस्थ अपना कर्तव्य समझ कर ऐसा करते हैं। आये हुये श्रावकों में कई सामायिक, प्रतिक्रमण, दया, पौषध सूत्र श्रवण आदि धर्म सेवन करते हैं उसे वे धर्म समझते हैं और फिर भोजन स्थान आदि व्यवस्था में जो हिंसा होती है उसे हिंसा समझते हैं। क्योंकि गृहस्थ लोग सर्व हिंसा के त्यागी नहीं हैं। परन्तु तुम दण्डी लोग तो प्रत्यक्ष खुद अपनी महिमा बढ़ाने के लिये यद्वा पर्वतों की महिमा बढ़ाने के लिये संघ निकलवाते हो, वरघोडा निकलवाते हो उपधान तप करवाते हो उसमें कैसी २ हिंसा होती है जरा आंख खोल कर देखो तो सही।

जब आबू, गिरनार शिखरजी, सिद्धाचलजी, ऋषभदेवजी आदि यात्रा के लिये संघ निकालते हैं उसमें सैकड़ों आदमी, औरतों को आमंत्रण पत्रिका देकर बुलवाते हैं और गाड़ी, घोड़े, ऊंट आदि बहुत साथ में रहते हैं जब चलते हैं तब प्रहर डेढ़ प्रहर अवशेष रात्रि में चल पड़ते हैं। जिससे चिटी मकोड़े की तो गिनती ही क्या किन्तु मेंढक, वृश्चिक छोटे बड़े सर्प, आदि पचेंद्रिय जीव गाड़ी के पहियों के नीचे तथा ऊंट, घोड़ों के पैर के नीचे कुचला कर मर जाते हैं। और जहाँ संघ ठहरता है वह जगह साफ कराने में हजारो त्रस स्थावर जीव झाड़ू आदि से मर जाते हैं। दीपक, मसाले, स्नानादि, चूल्हा, चोका, लगाने, आटा, दाल, चांवल, शक्कर मसाले आदि में बाजार से बिना देखे खरीद लाने में जीवों

का महान् हत्याकांड हो जाता है । दयाजी लोग एवम् दयाजीनियों के साथ ठहरने के वास्ते अलग तम्बू खींचा जाता है वह तम्बू की रस्सी बाँधने के लिये खीले पृथ्वी पर ठोंके जाते हैं उसमें पृथ्वी काय के असंख्य जीवों का विनाश हो जाता है। और साथ ही पृथ्वी आश्रित रहे हुए सैकड़ों त्रस जीव का भी विनाश हो जाता है।

प्रिय पाठको ! यह मेरी कल्पना मात्र ही नहीं, पर सच्ची व प्रसिद्ध घटना है। इन्हीं दयाजी लोगों के अनुयायी दयाजीजी ने समकर नामे का २१ वीं ढाल की ९ वीं से १८ वीं गाथा में ऐसा लिखा है कि —

मर्यादा मुनिवर तणी; संघ तणी हो ! करे कोशिश ।
ऊँचो थयो आचारने शु थयु हो ! जाणे जगदीश ॥१॥
नाम लेवे यात्रा तणो साथे रास्ते हो ' गाडी ने मात ।
हाल चारी न पूरमा अहीं थी हो ! लागयो भफाना वात ॥२
साधवीओ साथे रहे विषया हो ! रहे दस वीस ।
भाग्य माड़ मले काड़ शु थयु' हो ! जाणो जगदीश ॥३॥
स्त्री ओ साथे साधु ने वरजे हो ! आचारंगे एम ।
उत्तराध्ययन सोलमें, माड़ भांगे हो । शीयलनी तेम ॥४॥
साधु कारण तम्बू रहे तम्बू कारण हो ! गाड़ी न ऊंट ।
जीव हणाय छ कायना पूछे थी हो ! वली बोले झूठ ॥५॥
वठे पाछली रातना संघ चाले हो ! फरे गामोगाम ।
साधु साध्वी गाव बोलता निंदा हो । हावे ठामोठाम ॥६॥
वहु पाणी करे रातना घड़ा भरी हो वाईया रहे साथ ।
तेरन पाणी वापरे पाप्रा नाम हा ! स पम जावे हार ॥७॥

तीलण फूलण कोण गणे कोण करे हो। जीवोंनी सार।
निरनुकम्पा अनुयोग मां भक्ति नामे हो। करे अत्याचार ॥८
सोजण। संघ मां होवे ऊनो पाणी हो। पीवे दस वीस।
आधाकर्मी ए आरोगता साधु साध्वी हो। भेगा पचवीस ॥६

महोदयो! इसी तरह दण्डी लोग रथ यात्रा में भी सैकडों मनुष्यों अनेक हाथी, घोड़े, पालखो, रथ, नक्कारे, निशान आदि बड़े आडम्बर के साथ जाते हैं उस समय पैरों के नीचे त्रस, स्थावर, नीलण, फूलण आदि कुचला कर अनन्त जीवों की और मेंडक आदि पंचेंद्रिय जीवों तक की हिंसा होती है। फिर दण्डी लोग उपधान तप करवा के तप के नाम से सैकड़ों जीवों की हिंसा करवाते हैं। मूर्त्ति पूजन के लिए स्नान करते हैं वहां अनेक घड़े पानी के गरम करते हैं जिसमें त्रस, स्थावर छः काय के जीवों की हिसा होती है। और जहां दण्डी लोगों के अनुयायी गृहस्थ लोग स्नान करते हैं वहां से बड़ी दूर २ तक पानी का नाला जाता है उस नाले में नीलण फूलण के छत्ते के छत्ते जम जाते हैं। जब २ पानी उस नाले में जाता है तब २ अनन्त निगोदिये जीव मर जाते हैं उस फूलण को छिपाने के लिये कभी २ उस पर धूल या रेती और चूना डलवा देते हैं। इस प्रकार जीवों की हत्या होने पर भी "अहिंसा परमो धर्मः" का मूल वतला कर भोली जनता के आँखों में धूल डालते हैं। यदि दण्डी लोगों को अपनी आत्मा का कल्याण ही करना है तो नामवरी का वृथा ढोंग त्याग कर अपने भक्तों को ऐसे हिंसाकारी कार्य करने से रोकना चाहिये। नहीं तो साधु का साधुपना और गृहस्थ का श्रावक व्रत सव खाक में मिल जाते हैं। ऐसे हिसाकारी कार्यों में मन्दिरमार्गी भाइयों का साल भर में करीव तीन साड़े तीन लाख द्रव्य का नाश होता है। इसमे सिवाय वीर प्रभु की आज्ञा की विराधना और अनन्त जीवों की हानि तथा द्रव्य का नाश और संसार भ्रमण फल के

सिवाय और कुछ हाथ नहीं आता अतएव इस द्रव्यको किसी परोपकारी कार्य में खर्च किया जाय कि जिससे जैन धर्म की वृद्धि हो तो अच्छा है।

७—दयाछोजी ! श्वे० स्था० जैन मुनि अपने भक्तों के द्वारा गांव में आने व विहार करवाने की खबर नहीं भिजवाते हैं। जो खबर भेजने को तुम लिख रहे हो वह नितान्त मिथ्या है। अगर कभी एक गांव वाले गृहस्थ दूसरे गांव में खबर भेज दें तो उस भेजने वाले को जैन मुनि अनुमोदना भी नहीं करते। अगर गृहस्थ सामने लेने आवे तो उन पर राग भी नहीं लाते और न आवें उन पर द्वेष भी नहीं करते।

दयाछोजी ! अपना औगुन दूसरों पर डालना भगवान ने महा मृषा पाप कहा है। इस पाप से तो अवश्य डरा करो। भला सूचना भिजवाने का रिवाज दयाछी लोगों में है या श्वे० स्था० जैन साधुओं में ? पाठक भी इस इस पर गौर कर। जब दयाछीजी विहार करते हुए शहर में आते हैं तो पहिले शहर के बाहर ही ठहर जाते हैं और राह देखते हैं कि हाथी, घोड़े, ढोल, नक्कार, निशान, बैंड बाजे आदि आवे या नहीं, जब मन्दिर मार्गी लोग सब गाजे बाजे की तैयारी करके सामने जाते हैं तब दयाछी लोग बाजे के साथ धीरे २ पांव रखते हुए शहर में आते हैं तब अन्य दर्शनी अवहेलना करते हैं कि देखो साधु हो कर भी हाथी, घोड़े, बाजे और आडम्बर के साथ पधार रहे हैं यह बात जग जाहिर है इसके प्रमाण की भी आवश्यकता नहीं अतएव बाजे हाथी, बैंड आदि आडम्बर के साथ आना सूत्र से विरुद्ध व लौकिक से भी विरुद्ध समझ त्याग देना दयाछी लोगों के लिये अत्यन्त हितकर होगा।

८—दयाछोजी ! साधु धोवन लेते हैं व भगवान की आज्ञा से ही लेते हैं। देखो ! द्वितीय आचारांग सूत्र का पिंडेषणा नामक प्रथमाध्ययन का सप्तमोद्देशा।

"उस्सेइम वा संसेइमं वा चाउलोदगं वा तिलोदगं वा तुसो दगं वा जवोदगं वा आयामं वा सोवीरं वा सुद्धवियड वा"

और इसी अध्ययन के आठवें उद्देशे में :—

"अम्बपाणगं वा अम्बाड पाणगं वा मातुलपाणग वा कविट्ठ-पाणगं वा मुद्दिय पाणगं वा खज्जुर पाणगं वा दालिम पाणगं वा णालियर पाणगं वा करीर पाणगं वा कोल पाणगं वा आमलग पाणगं वा चेञ्चा पाणगं वा अन्नयर वा तहप्पगारं पाणग जायं"

अर्थात्—पानी से भाजन धोया हुआ पानी, ढोकले आदि का पानी, चावल धोने का पानी, तूस धोने का पानी, उठण पानी, आम धोने का पानी, दाख धोने का पानी, खजूर धोने का पानी, डाढ़म धोने का पानी, नारियल धोने का पानी, कैर धोने का पानी, वैर (बोर) धोने का पानी, आंवले धोने का पानी, इमली धोने का पानी, इसके सिवाय "अन्नयर वा तहप्पगार पाणगजायं" और वर्तन धोने का पानी, आटे की परात (कचौटी) आदि धोने का पानी मुंग की दाल धोने का पानी वगैरह जो कि "चिरा धोय अम्बिलं वोक्कंत परिणयं विद्धत्थं फासुयं जाव पडिगाहेज्जा" अर्थात् दो घड़ी पहले का धोया हुआ हो और उसमें केवल पानी का स्वाद न हो अर्थात् कच्चे पानी के स्वाद से भिन्न स्वाद हो, कैर, वैर, इमली, चावल, दाखें आदि धोई गई हों, उसका अंश भी उस धोवन मे समिश्रण हो गया हो, पानी के रग से कुछ भिन्नता हो गई हो ऐसा प्रासुख धोवण जैन साधु को लेना चाहिए।

फिर भी देखिये! जैन साधुओं के धोवन लेन में निम्नोक्त प्रमाण राय धनपतसिंह बहादुर का छपवाया हुआ "दशवैकालिक" सूत्र संवत १९५७ निर्णयसागर में मुद्रित पृष्ट ३०२ से ३-३ तक—

मूलम्- तहेवुच्चावयं पाणं, अदुवावार धोअणं।
संसेइमं चाउलोदगं अहुणाधोअं विवज्जए॥

अवचूरी--उक्तोऽशनविधि, सम्प्रति पानविधिमाह। तथैव यथा शनमुच्चम्। उच्चं वर्णाद्युपेतं द्रा ापानानि अवचं

वर्णादिहीनं पूत्यारनालादिकम् अथवा धारक भावनं गुडघम्भावनम् अथवा धान्य स्थाली क्षालनादपि। संस्वेदमं पिष्टौकादि। एतदशनमनुत्सर्गापवादाभ्याँ गृह्णीयादिति शेष तन्दुलोदकमपुनातौतमपरिखतं विवर्जयेत् ॥ १ ॥

अर्थः—अहिं सुधी अन्न लेवानो विधि कह्यो, हवे पाणी लेवानो विधि कहे छ (तद्वद कं०) तेवज पटले जेम अन्न लेवानो विधि कह्यो तेमज(उच्च.वर्ण के०) उच्चावर्च पटल जेने कपूरादिकनो सुगन्ध छे ते द्राक्ष पाणी, साकर पाणी प्रमुख अने अवच छे जेने सारो गन्ध अथवा वर्ण नथी एवु कांजीनु पाणी विगेरे (पानं क०) पानं पटले पीवाने पदार्थ (अनुवा के०) अथवा (वारघोवणं के०) गोलनो घडो धोइने करीनाखेलु पाणी जेसकी ने रसें खराब्या पडानु धोवण, अथवा थाली प्रमुखनुं धोवण अथवा (संसेइमं के०) संसेइमं पटले कणरोटनु (आटे की कचौटी का) धोवण ले तथा (चाउलोदगं के०) तन्दुलोदकं पटले चाउलनु धोवण त (अहुणाधार्म कं०) अधुनाधौत पटले तरतनुं धोएलु जेनो फरस परिणम्यो नथी तेवा पीवाना पदार्थने पूर्वोक्त साधु (विवज्जए के०) विवर्जयेत् पटले विशेष करी वर्जे।

पुनः बक्षिप स्वामीजी! धोवण लेने में तुम्हारे ही पूर्वाचार्य प्रमाण कर गए हैं। जरा आखें खोल कर देखे तो सही। विजय विजयकी विरचित सुबोधिका नामक कल्प सूत्रकी टीकानु गुजराती भाषान्तर जिसको भीमसिंह माणक ने संवत् १९५८ में आवृत्ति पांचवी मुद्रित कराई उसके पृष्ठ १३८ पर निम्न प्रकार से है।

'हवे पीवाना पदार्थो नी विधि कहे छे।
सोमासु रहेला नित्य पकासणु करनार एकासणुं प्रकारनां

पाणी कल्पे छे ते सर्व एटले आचारांग मा कहेला एकवीस प्रकारना अथवा अहीं जे कहेवामां आवसे ते नव प्रकारना पाणी समजवा तेमां आचाराग मां कहेलां पाणी आ प्रमाणे छे—उत्स्वेदिम १ संस्वेदिम २ तंडुलोदक ३ तुषोदक ४ तिलोदक ५ जवोदक ६ आयाम ७ सोवीर ८ शुद्धविकट ९ अम्बय १० अम्बामक ११ कविठ (कपित्थ) १२ माउलिंग (मातुलिंग) १३ दख (द्राक्ष) १४ दाडिम १५ खरजूर १६ नालिकेर १७ कयर १८ बोरजल १९ आमलग २० अनेचिचानां पाणी २१ प्रथम अङ्ग (आचारांग) ने विषे कहेला छे ते मांथी प्रथमनां नव तो अहीं पण कहेला छे चोमासु रहेलां एकान्तरे उपवाश करनार साधूने त्रण प्रकारनां पाणी लेवा कल्पे ते आ प्रमाणे उत्स्वेदिम एटले आटा विगेरेथी खरडायेला हाथ आदिना धोवानुं पाणी २ सस्वेदिम एटले पांदमां आदि उकालीने ठंडा पाणी वडेजे पाणी सिंचन करायो २ अने चोखाना धोणनुं पाणी ३ चोमासुं रहेला नित्य छठ करनार साधुने त्रण प्रकारनाँ पाणी लेवा कल्पे ते आ प्रमाणे तलना धोणनुं पाणी १ व्रीहि (डांगर) आदि तुषना धोवानुं पाणी २ अने जवाना धोणनुं पाणी ३ चोमासुं रहेला नित्य अठम करनार साधुने त्रण प्रकारनां पाणी लेवा कल्पे ते आ प्रमाणे आमायक एटले उसमाण १ सोवीर एटले काँजीनु पाणी अने शुद्ध विकट एटले उनुं पाणी लेवुंज कल्पे छे।

फिर देखिए—

श्रीमद्विधिपक्षगच्छीय श्रावकनां दैवसिकादिक पांचे प्रतिक्रमण सूत्र अर्थ सहित सम्वत् १९८५ का प्रकाशित का पृष्ट ३७९ पर निम्न प्रकार से है हवे जम्या पछी अचेत पाणी पीवानु मोकलुं छे माटे पाणस्सना आगार कहीये छैये (पाणस्सके०) पाणी, ते पाणी केहेवु ? तो के (लेवेणवाके०) जे अन्नादि के करी भाजनादिक खरडायवे लेपकृत आचाम्ल, तथा उसामण गलीने पीये आदि शब्द थकी द्राक्षादिक आम्लकादिक पानकादिक जाणवां ते पीवाथकी पच्चखाण भंग न थाय

वर्णादिहीन पूत्यारनालादिकम् अथवा वारक धावनं गुडघटधावनम् अथवा धान्य स्थाली क्षालनादपि। संस्वेदनं पिष्टौकादि । एतदशनमवुत्सर्गापवादाभ्यां गृह्णीयादिति शुध तन्दुलोदकमधुनाधौतमपरिणतं विवर्जयत् । १ ।

अर्थः—अहि सुधी अन्न लेवानो विधि कह्यो, हवे पाणी लेवाना विधि कहे छ (तहेव के०) तथैव एटले जेम अन्न लेवानो विधि कह्यो तेमज(उच्च वयं के०) उच्चावचं एटला जेने कर्पूरादिकना सुगन्ध छे ते द्राक्ष पाणी, साकर पाणी प्रमुख अने अवच ते जेने सारो गध अथवा वर्ण नथी एवु कांजीनु पाणी विगेरे (पाणं के०) पानं एटले पीवानो पदार्थ (अदुवा के०) अथवा (वारधोवणं के०) गोलनो घडो धोइने काढीनापेलु पाणी लेवडी ने रसें खरडया वासनु धोवण, अथवा थाळी प्रमुखनु धोवण अथवा (संसेइमं के०) संस्वेदमं एटले कथरोटनु (आटे की कथौटी का) धावण ले तथा (चाउलोदगं के०) तन्दुलोदकं एटले चोखानु धोवण ते (अहुणाधोयं के०) अधुनाधौत एटले तत्कालनु धोयलु जेनो प्ररस परिणम्यो नथी तथा पीवाना पदार्थने पूर्वोक्त साधु (विवज्जए के) विवर्जयत् एटले विराध करी अर्थ।

पुनः इसलिए ढूंढकोजी! धोवण लेने में तुम्हारे ही पूर्वाचार्य प्रमाण भर गए हैं। जरा आंखें खोल कर देखें तो सही। विनय विजयजी विरचित सुबोधिका नामक कल्प सूत्रनी टीकानु गुजराती भाषान्तर जिसको भीमसिंह मानक न संवत् १८७८ में आवृत्ति पांचवीं मुद्रित कराई उसके पृष्ठ १३८ पर निम्न प्रकार से है।

'हवे पीवाना पदार्थो नी विधि कहे छे।
सामांसु रहेला निग्ग एकाग्रणु करनार साधुम सर्व प्रकारनं

दो घड़ी बाद धोवण को सचित्त होजाना लिख दिया है। इन दोनों बातों से दण्डीजी की विचित्र लीला व बुद्धिमता का परिचय पाठक सहज में पा सकेंगे। एक जगह एक बात लिखी तो दूसरी जगह की बात जाने दीजिये। उसी पन्ने में उसी बात में इतना परिवर्तन दिखाना भला हठाग्रही और निरक्षर भट्टाचार्यों का काम नहीं तो और क्या है ?

फिर भी देखिये—दण्डी लोग बिना सोचे समझे दो घड़ी बाद, एक प्रहर बाद अचित जल को सचित लिख देते हैं, यह उनकी गहरी अज्ञानता है क्योंकि दण्डी लोगों के पूर्वाचार्य ही "श्राद्ध विधि प्रकरण भाषान्तर" के पृष्ठ ९५ पर लिखते हैं कि.—

"अचित जल क्या शुधी रहे तेनुं काल मान ।
जायइ सचित्ततासे गिम्हासु पहर पञ्च गस्प उवरिं ॥
चउ पहरुवरिसि सिरे वासासु जलं तिपहरुवरिं ।

अर्थात् उष्णकाल में अचित जल पाच प्रहर ठहरता है और शीतकाल में चार पहर तक, इसी प्रकार वर्षाऋतु में तीन प्रहर तक ठहरता है ।

दण्डीजी ! आपके माननीय उपरोक्त लेख से ही दो घड़ी बाद और एक प्रहर बाद अचित जल का सचित हो जाना असत्य एवम् निर्मूल सावित होता है।

प्रिय महानुभावो ! दण्डी लोगों की उत्सूत्र प्ररूपना का यह नमूना देखो कि भगवान् ने तो दो घड़ी पहले धोवण लेने की मनाई की और दण्डियों ने लिख मारा कि दो घड़ी बाद धोवण सचित हो जाता है। दण्डियों ! जरा विचार तो करो कि जिनके नाम से सिर मुंडवाया है और उनको परम पिता समझते हो, उन्हीं का कहा हुआ वाक्य उत्थापन कर रहे हो, धोवण नहीं पिया जाय तो मत पिओ अपनी कमजोरी समझो, क्योंकि मेथीदाने का धोवन, चावलों का उसावण अथवा इनका

त्रीजो (असेलेवेण वा के०) अलेपकृत पाणी ते सौवीर कांजी धोवण आदि रजरयकी गहुलजर पाणी प्रमुख ने पीये तो पच्चखाण न भांगे।

चौथो (अच्छेएणवा के०) अच्छकृते उष्णजल तथा बीजांयस निर्मल उकाल्यो पाणी, तिलगु फलादिकनु धोवण प्रमुख तेने पीए तो पच्च-खाण भंग न थाय।

पांचमो (बहुलेवेणवाके०) बहुलेप पडले को होलु धोवण प्रमुख नु धोवण तेने गलीने पीए तो पच्चखाण न भांगे।

छठो (ससित्थेणवाके) सित्थ सहित ते आमादिक वणान्य स्वाद बिना धोवण तथा आयरादिकनु (आटे की कठौटे का) धोवण तेने गलीने पीए तो पच्चखाण न भांगे।

छठो (असित्थेणवाके०) सित्थ रहित कणक प्रमुखके हाथ लागमयो होय तनु धोवण पीए तो पच्चखाण भांगे नहीं।

ए बीजो! इन उपरोक्त प्रमाणों से २० प्रकार का अथवा इससे भी अधिक प्रकार का अचित धोवण जैन साधुओं का लेना भली भांति सिद्ध हो चुका। यह इसीलिए श्वे० स्था० जैन साधु धोवण लेते हैं। धोवण नहीं लेना धोवण को सचित बतला आदि २ दरबीजी का लिखना शास्त्र के प्रतिकूल है।

अब रही यह बात कि धोवण कब तक काम में लाया जावे इसके लिये भगवान् ने भगवती सूत्र के ७ वें शतक का प्रथम उद्देश में तीन प्रहर तक रखने की अर्थात् काम में लाने की आज्ञा दी है जरा देखो सूत्र पाठको—

"जे निग्गन्थो वा निग्गन्था वा फासुएसणिज्जं असणं, पाणं खाइमं साइमं पढमाए पोरिसीए पडिगाहेत्ता पच्छिम पोरिसीए उवायणावित्ता आहारं आहारेति एसणं गोयमा कालाइक्कंते"

इस मूल सूत्र से तीन प्रहर तक पानी रखन की भगवान् की आज्ञा है और दरबीजी लिखते हैं कि अनुमान एक प्रहर तक धोवण रखने की काल मर्यादा है और आगे चल कर दरबीजी ने उसी पेरे में

कितने ही दण्डी लोग जवान के चट्टे होने से धोवण नहीं पी सकते तो धोवण में जीवोत्पत्ति ही कह बैठते हैं नैमित्तिक या अनैमित्तिक केवल गरम जल की ही दण्डी लोग स्थापना करने लग गये हैं।

उस गरम जल को गृहस्थो की परात में ठंडा कर पीते हैं किन्तु दशवैकालिक सूत्र में गृहस्थों के भाजन साधुओं को काम में लाना मना है, तदापि इस आज्ञा का उलघन कर उष्ण जल पीने मे ही स्वादिष्टता समझ कर धोवण की निषेधना कर बैठे हैं।

यदि मन्दिर मार्गी भाई भी कुछ देर के लिये तटस्थ होकर सोचें तो उनके हृदय स्थल से यही आवाज बुलन्द होगी कि "दण्डी लोगों को धोवन पीने का उत्थापन करना सूत्र विरुद्ध है और केवल गरम जल के ऊपर ही निर्भर रहना आधाकर्मी दोष का सेवन करना है।"

दण्डीजी ! धोवन को झूंठा कहना यह भी अनभिज्ञता का कारण है। क्योंकि जिन वर्तनों को धोएगे, वे वर्तन चौके (रसोई घर) में भोजन के काम आते हैं यदि धोवन झूंठा हुआ तो भोज्न भो उन्हीं वर्तनों में तैयार किया जाता है वह भो झूँठा ठहरेगा अगर भोजन झूंठा नहीं तो धोवन झूठा कैसे होगा ? क्या जिस भाजन में दाल, शाक बनावें या चावल पकावें उन्हीं वर्तनों में पारवारिक लोग खाने बैठ जायंगे ? कभी नहीं। हा, तुम्हारे अनुयायी गृहस्थ लोग ऐसा लौकिक विरुद्ध व्यवहार करते हों तो हमें पता नहीं ? आटे की परात के धोवन को झूंठा कहोगे तो रोटियें भी झूठी हुई मटके धोने के पानी को झूठा कहोगे तो मटके में जल भरा होगा वह भी झूंठा ठहरेगा और धोवण को मैला पानी कहोगे तो सूत्र विरुद्ध होगा क्योंकि भगवान् ने धोवन उसे ही कहा है कि जिसका रंग बदल गया हो कच्चे जल जैसा न हो उसी को ग्रहण करने की साधुओं को आज्ञा है।

पाठक ! बीस प्रकार के धोवण पहिले बता चुके। फिर भी एक बार पढ़ जाइये कि कैरों का, बैर का, चावल का, छाछ की आँच का

धोया हुआ पानी, कैरों का चूल्हे के आगे के हण्डों का आटे की परात आदि का धावन, कसायला, कटु, तीक्ष्ण, खट्टा आदि खराब पानी रहता है जिसके पीने में मजेदार स्वादिष्टता का तनिक भी स्वाद नहीं आता। पीने में सवाल को बहुत ही खराब अमनोज्ञ मालूम होता है। ऐसा धोवण साधु नाम धराने वाले स्वादुओं को कब पीना अच्छा मालूम हो? इसलिये दूंढी लोगों ने धावन पीना छोड़कर केवल गरम पानी लेने की स्थापना की।

कहिए! गरम जल पीना क्या मुश्किल है। उस गरम जल को ठंडा कर लेते हैं। जो न कटु है न तीक्ष्ण परलोक बिगड़े या सुधरे, इससे क्या मतलब है? "रोटी खाना शक्कर से दुनियां ठगना मक्कर से" बस काफी है। इस विषय पर विशेष लिखकर पाठकोंका वृथा समय लेना नहीं चाहते हैं, सुज्ञेषु किं बहुनाम्।

देखो जरा तत्व दृष्टि से सोचो तो पता लग जाय कि केवल गरम जल ही के लेने से भाधा कर्मी का दोष लगता है या नहीं, क्योंकि जब ग्रीष्म काल में प्रायः न स्नान के लिये, न मद्य के लिये गरम जल किया जाता है तो उस समय दूंढी लोगों के भक्त अपने गुरुओंके लिये खास तौर पर गरम जल जा भी तीन दकाल का करके रख छोड़ते हैं, इसलिये केवल गरम जल लेने में संयम को बाधा पहुंचती है। अतएव भगवान् ने संयम की रक्षा के निमित्त २० प्रकार का धोवन और इसके सिवाय और भी प्रासुक धोवन जो कि गृहस्थों के स्नान, पान के पदार्थों के निमित्त सहज ही नित प्रति होता है। वह अनैमित्तिक धावन और समयानुसार खास स्नान आदि के लिये गरम जल कियाहो उस कार्य्य से बचा हुआ जल लेने के लिय भगवान् ने फरमाया है।

३२० स्था० जैन साधु अनैमित्तिक धोवन और गरम जल लेते हैं यह नहीं कि धोवन लेकर अनैमित्तिक गरम जल की निषेधना करते हों यदि कोई निषेधना करे तो वह शास्त्र विरुद्ध चलते हैं। किंतु

हैं यह तुम्हारा लिखना नितान्त मिथ्या है फिर कुछ लेख लिख कर भले साधुओं की हंसी करने का ठेका जो दण्डियों ने ले रक्खा है वे चाहे जो लिख मारें उन्हें पक्षपात की दृष्टि से बचाने वाला कौन है ? पर याद रखिये जमाना वह नहीं है कि "बाबा वाक्य प्रमाणम्" अब जनता सत्यासत्य का निर्णय करती है और सत्य बात को मानती है न कि जनता तुम जैसी हठाग्रही है।

दण्डीजी ! भगवती सूत्र में आहार, पानी, रखने की तीन प्रहर तक की आज्ञा है। इस बात को तो तुम भी स्वीकार करते हो न ? उस भगवती सूत्र में त्रिफला या छाछ की आंच के पानी को ही तीन प्रहर तक रखने का उल्लेख नहीं है। जितनी तरह का साधु को भोजन कल्पनीय है उतनी तरह का भोजन तीन प्रहर तक रख सकते हैं। यह नहीं कि आहार कहने से रोटी रखी जाय, शाक नहीं, बाटी रक्खी जाय मिठाई नहीं आहार में जितने भी खाने के पदार्थ हैं वे रख सकते हैं। इसी तरह पानी कहने से बीस प्रकार का धोवण या और भी धोवण व गरम जल रख सकते हैं यह नहीं कि पानी कहने से धोवण रखते गरम जल नहीं रखते और गरम जल रखते धोवण नही रखते पानी में जितनो तरह का साधु को कल्पनीय धोवण एवम् गरम जल है वह सब तीन प्रहर तक रखना भगवान की आज्ञानुकूल है। त्रिफला या छाछ के पानी को ही तीन प्रहर तक रखने की भगवतीसूत्र में भगवान् की आज्ञा नहीं है पर दण्डीजी का रखने का लिखना मिथ्या है।

विचार शीलो ! यदि भगवती सूत्र में त्रिफला या छाछ के पानी के सिवाय पानी (धोवण) रखने की मनाई होती तो दण्डीजी यहां अवश्य उस निषेधात्मक वाक्य का प्रमाण रख अपनी सत्यता प्रकट करते किन्तु सूत्र में ऐसा वाक्य हो तो लिखें। दण्डीजी ! धोवण झूंठा

धोवण। तो क्या कैर, पैर, चावल धोने से या उसका उसावण का पानी निकालने से वह मैला पानी नहीं होगा ? अवश्य होगा तब फिर धावण को मैला पानी बतला कर हंसी करने से सिर्फ श्वे० स्थानकवासी जैन साधु की हंसी नहीं होती बल्कि वीर भगवान की हंसी होती है और वे हंसी करने वाले वीर के पुत्र कहलाये जाने वाले भी इससे ही हैं।

ढूंढकजी ! अनन्तकाय और त्रस जीवों की मर्यादा सिवाय धोवण में उत्पत्ति कहते हो यह भी जिनाज्ञा के विरुद्ध है। क्योंकि अनन्तकाय और त्रस जीवों की उत्पत्ति मर्यादा काल सिवाय धोवण में होती तो साधुओं को धोवण लेने की आज्ञा सूत्रों में सर्वज्ञ भगवान हरगिज नहीं देते। धोवण लेने की आज्ञा सूत्रों में स्पष्ट होने से धोवण में अनन्तकाय और त्रस की उत्पत्ति कहना ढूंढकी लोगों की उत्सूत्र प्ररूपणा है।

धोवण में कुंआरे निकलने का व उनकी दया करने के लिये गीली जगह में डालने का आदि २ ढूंढकजी का लिखना अज्ञान का नमूना है। क्योंकि कुंआरे धावण में ही नहीं निकलते पर कभी २ धोन उकाले हुए गरम पानी तक में निकल जाते हैं और उनके निकलते ही उन्हें ऐसी गीली जगह में डालते हैं जहां उनकी मृत्यु न हो। अगर उस पर भी वे मर जायें तो इसमें साधु का क्या दोष ? जितनी मर्यादा सिवाय में जीव रक्षा का प्रयत्न करना है उतना किया और करते हैं। अब इसमें अन्य दर्शनी हंसी करें तो उनकी इच्छा। यदि कलस तो अन्य दर्शनी रजोहरण की भी हंसी करेंगे और करते हैं तो क्या इनकी ऐसी हंसी से रजोहरण भी फेंक देंगे पास में नहीं रखेंगे ? इसी प्रकार केवल अन्य दर्शनों की हंसी से धोवण को उत्थाप देना [illegible] अज्ञानता है।

ढूंढकजी ! मिट्टी, गोबर का मैला पानी लिखा यह भी आपकी भारी भूल है। क्योंकि कुम्हार के यहां का केवल मिट्टी का पानी तो सचित होता है जो श्वे० स्थानकवासी जैन साधु उस सचित होने के कारण नहीं ले सकते और न गोबर का पानी पीने के लिये जैन मुनि ग्रहण ही करते

उसका धोवण अनन्तकाय की उत्पत्ति व हानि का हेतु है" आदि तुम्हारा लिखना केवल हास्यास्पद और मिथ्या है क्योंकि गृहस्थ लोगों के पानी भरने के बर्तन नित प्रति धोके साफ किये जाते हैं ऐसे साफ और सुथरे बरतनों में अनन्तकाय का पैदा होना असंभवित है। और न रज जमने का कारण भी मालूम होता है। इसलिये "धोवण अनन्त काय की हानि का हेतु" ऐसा दण्डीजी का कहना व लिखना सर्वथा मिथ्या है हां दण्डियों के मटकों में महीन रज सदैव लगी रहती होगी जिससे अवश्य अनन्तकाय भी पैदा होती होगी इसीलिये दण्डीजी ने ऐसा लिखा हो तो कहिए दण्डीजी! जो गरम जल दण्डी लोगों के लिये तैयार किया जाता है वह उन्हीं मटकों के जल से तैयार किया जाता हो तो फिर तो वह गरम जल अनन्तकाय को उत्पत्ति एवम् हानि का हेतु हुआ क्योंकि दण्डीजो ने खुद लिख दिया है कि "गृहस्थों के पणियारे के मटकों के अन्दर में व ऊपर में नीचे सूक्ष्म मिट्टी लगी रहती है उसमें अनन्तकाय उत्पन्न होती है।"

यह तो है ही नहीं कि गरम जल जो दण्डी लोगो के लिये बनाया जाता है वह कुआ, बावड़ी से ताजा जल लाकर बनाया जाता हो गरम जल तो उन्हीं मटकों में से निकाल कर करते हैं तो यह दण्डी लोगों के लिखे अनुसार अनन्तकाय का हेतु मानना पड़ेगा। अतएव धोवण को अनन्तकाय की उत्पत्ति एवम् हानि का हेतु कहना प्रत्यक्ष झूंठ है और इस प्रकार झूंठ बोल कर संसार को वडप्पन दिखाने का प्रयत्न करना आकाश कुसुमवत है।

१०—दण्डीजी लिखते हैं कि—"कई ढंढिये धोवण में जीवोत्पत्ति की शंका मिटाने के लिये दुरबीन से या मोटे काँच से धोवन में जीव देखते हैं।"

यह भी लिखना दण्डीजी का नितान्त मिथ्या है। कोई भी स्थे०

है ऐसा कहना सूत्र विरुद्ध है। यदि धोवण झूठा हो तो भगवान उसे लेने की आज्ञा नहीं देते इसका खुलासा प्रथम हम कर चुके हैं इसलिये फिर उसे दुहराना अनुपयुक्त है। और धोकर किया हुआ पानी अचित नहीं होता यह भी लिखना दयाजी की अनसमझ का है क्योंकि भस्मी-राख का और भस्मी से मले हुए वास्ते पीतल के थाली लोटे माजनादि का धोकर किया हुआ पानी अचित नहीं होता यह भी लिखना दयाजी की अनसमझ का है। क्योंकि भस्मी-राख का स्पर्श अपकाय (जल) के लिए अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र है। इसलिए वह धोवण का जल निस्सन्देह अचित हो जाता है। उसी प्रासुक जल को श्वे० स्था० जैन मुनि ग्रहण करते हैं। और वही जल भगवान् की आज्ञा नकूल माना है।

दयाजी! अचित धोवण पीने में बड़ा कष्ट होता है। तब ही तो तुम इसका निषेध कर केवल गरम पानी ठंडा कर पीने की रीति चलाते हो क्योंकि ठंडा किया जाए गरम जल स्वादिष्ट रहता है भला स्वादिष्ट पीते हुए धोवण पीने की इच्छा कौन रक्खे! तब ही तो तुम धोवण की निषेधना कर रहे हो। पाठक! जरा दयाजी लोगों की जल पीने की चाट तो देखिये। जब दयाजी विहार करते हैं रास्ते में गरम जल का योग न मिलने से पके भर कच्चा पानी म पक दो बोले के लड्डू डाल कर गृहस्थ लोग बहरा देते हैं। अब कहिये ऐसा कच्चा सचित मीठा स्वादिष्ट पानी पीने वाले दयाजी लोग दाल की आँच का, चावल धोने का, कैर का बेर का, शाक बनाने की इमली का खारका कसायला, और खट्टा पानी कैसे पी सकते हैं? इसलिये धोवण की निषेधना ही कर बैठे।

दयाजी! गृहस्थों के पनीयारे के मटके के अन्दर में ऊपर में व नीचे सूक्ष्म मिट्टी लगी रहती है उसमें अनन्तकाय उत्पन्न होती है

उसका धोवण अनन्तकाय की उत्पत्ति व हानि का हेतु है" आदि तुम्हारा लिखना केवल हास्यास्पद और मिथ्या है क्योंकि गृहस्थ लोगों के पानी भरने के वर्तन नित प्रति धोके साफ किये जाते हैं ऐसे साफ और सुथरे वर्तनों में अनन्तकाय का पैदा होना असम्भवित है। और न रज जमने का कारण भी मालूम होता है। इसलिये "धोवण अनन्त काय की हानि का हेतु" ऐसा दण्डीजी का कहना व लिखना सर्वथा मिथ्या है हां दण्डियों के मटकों में महीन रज सदैव लगी रहती होगी जिससे अवश्य अनन्तकाय भी पैदा होती होगी इसीलिये दण्डीजी ने ऐसा लिखा हो तो कहिए दण्डीजी ! जो गरम जल दण्डी लोगों के लिये तैयार किया जाता है वह उन्हीं मटकों के जल से तैयार किया जाता हो तो फिर तो वह गरम जल अनन्तकाय की उत्पत्ति एवम् हानि का हेतु हुआ क्योंकि दण्डीजी ने खुद लिख दिया है कि "गृहस्थों के पणियारे के मटको के अन्दर मे व ऊपर में नीचे सूक्ष्म मिट्टी लगी रहती है उसमें अनन्तकाय उत्पन्न होती है।"

यह तो है ही नहीं कि गरम जल जो दण्डी लोगों के लिये बनाया जाता है वह कुआ, बावड़ी से ताजा जल लाकर बनाया जाता हो गरम जल तो उन्हीं मटकों में से निकाल कर करते हैं तो यह दण्डी लोगों के लिखे अनुसार अनन्तकाय का हेतु मानना पड़ेगा। अतएव धोवण को अनन्तकाय की उत्पत्ति एवम् हानि का हेतु कहना प्रत्यक्ष झूंठ है और इस प्रकार झूंठ बोल कर संसार को वडप्पन दिखाने का प्रयत्न करना आकाश कुसुमवत है।

१०—दण्डीजी लिखते हैं कि—"कई ढंढिये धोवण में जीवोत्पत्ति की शंका मिटाने के लिये दुरवीन से या मोटे कौंच से धोवन में जीव देखते हैं।"

यह भी लिखना दण्डीजी का नितान्त मिथ्या है। कोई भी श्वे०

है ऐसा कहना सूत्र विरुद्ध है। यदि धोवण झूठा हो तो भगवान उसे लेने की आज्ञा नहीं देते इसका खुलासा प्रथम हम कर चुके हैं इसलिये फिर उसे दुहराना अनुपयुक्त है। और धोकर किया हुआ पानी अचित नहीं होता यह भी लिखना दण्डीजी की अनसमझ का है क्योंकि गरमी-राख का और भस्मी से मले हुए ताम्बे पीतल के खाली लोटे भाजनादि को धोकर किया हुआ पानी अचित नहीं होता यह भी लिखना दण्डीजी की अनसमझ का है। क्योंकि भस्मी-राख का स्पर्श अपकाय (जल) के लिए अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र है। इसलिए वह धोवण का जल निःसन्देह अचित हो जाता है। उसी प्रासुक जल को श्वे० स्था० जैन मुनि ग्रहण करते हैं। और वही जल भगवान् की आज्ञा नकूल माना है।

दण्डीजी! अचित धोवण पीने में बड़ा कष्ट होता है। तब ही तो तुम इसका निषेध कर केवल गरम पानी ठंडा कर पीने की रीति चलाते हो क्योंकि ठंडा किये बाद गरम जल स्वादिष्ट रहता है भला स्वादिष्ट पीते हुए धोवण पीने की इच्छा कौन रक्खे! तब ही तो तुम धोवण की निषेधना कर रहे हो। पाठक! जरा दण्डी लोगों की जल पीने की बात तो सुनिये। जब दण्डी विहार करते हैं रास्ते में गरम जल का योग न मिलने से घड़े भर कच्चा पानी में एक दो ओले के लड्डू डाल कर गृहस्थ लोग पहरा देते हैं। अब कहिये ऐसा कच्चा सचित मीठा स्वादिष्ट पानी पीने वाले दण्डी लोग दाख की आंच का, चावल धान का, बेर का, बेर का, शाक बगैर की हण्डी का चरका कसायला, और खट्टा पानी कैसे पी सकते हैं? इसलिये धोवण की निषेधना ही कर बैठे।

दण्डीजी! गृहस्थों के पणीयारे के मटके के अन्दर में बाहर में व नीचे गहरा मिट्टी लगी रहती है उसमें अनन्तकाय उत्पन्न होती है

उसका धोवण अनन्तकाय की उत्पत्ति व हानि का हेतु है" आदि तुम्हारा लिखना केवल हास्यास्पद और मिथ्या है क्योंकि गृहस्थ लोगों के पानी भरने के वर्तन नित प्रति धोके साफ किये जाते हैं ऐसे साफ और सुथरे ब्रतनों में अनन्तकाय का पैदा होना असंभवित है। और न रज जमने का कारण भी मालूम होता है। इसलिये "धोवण अनन्त काय की हानि का हेतु" ऐसा दण्डीजी का कहना व लिखना सर्वथा मिथ्या है हां दण्डियों के मटकों में महीन रज सदैव लगी रहती होगी जिससे अवश्य अनन्तकाय भी पैदा होती होगी इसीलिये दण्डीजी ने ऐसा लिखा हो तो कहिए दण्डीजी! जो गरम जल दण्डी लोगों के लिये तैयार किया जाता है वह उन्हीं मटकों के जल से तैयार किया जाता हो तो फिर तो वह गरम जल अनन्तकाय की उत्पत्ति एवम् हानि का हेतु हुआ क्योंकि दण्डीजी ने खुद लिख दिया है कि "गृहस्थों के पणियारे के मटकों के अन्दर में व ऊपर में नीचे सूक्ष्म मिट्टी लगी रहती है उसमें अनन्तकाय उत्पन्न होती है।"

यह तो है ही नहीं कि गरम जल जो दण्डी लोगों के लिये बनाया जाता है वह कुआ, बावड़ी से ताजा जल लाकर बनाया जाता हो गरम जल तो उन्हीं मटकों में से निकाल कर करते हैं तो यह दण्डी लोगों के लिखे अनुसार अनन्तकाय का हेतु मानना पड़ेगा। अतएव धोवण को अनन्तकाय की उत्पत्ति एवम् हानि का हेतु कहना प्रत्यक्ष झूंठ है और इस प्रकार झूंठ बोल कर संसार को वड़प्पन दिखाने का प्रयत्न करना आकाश कुसुमवत है।

१०—दण्डीजी लिखते हैं कि—"कई ढूंढिये धोवण में जीवोत्पत्ति की शंका मिटाने के लिये दुरवीन से या मोटे काँच से धोवन में जीव देखते हैं।"

यह भी लिखना दण्डीजी का नितान्त मिथ्या है। कोई भी स्थे०

है ऐसा कहना सूत्र विरुद्ध है। यदि धोवण झूठा हो तो भगवान उसे लेने की आज्ञा नहीं देवे इसका खुलासा प्रथम हम कर चुके हैं इसलिये फिर उसे दुहराना अनुपयुक्त है। और धोकर किया हुआ पानी अचित नहीं होता यह भी लिखना दयाजी की अनसमझ का है क्योंकि भस्मी-राख का और भस्मी से मजे हुए ताम्बे पीतल के थाली लोटे भाजनादि को धोकर किया हुआ पानी अचित नहीं होता यह भी लिखना दयाजी की अनसमझ का है। क्योंकि भस्मी-राख का स्पर्श अपकाय (जल) के लिए अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र है। इसलिए वह धोवण का जल निःसन्देह अचित हो जाता है। उसी प्रासुक जल को श्वे० स्था० जैन मुनि ग्रहण करते हैं। और वही जल भगवान् की आज्ञा नकूल माय है।

दयाजी! अचित धोवण पीने में क्या कष्ट होता है। तब ही तो तुम इसका निषेध कर केवल गरम पानी ठंडा कर पीने की रीति चलाते हो क्योंकि ठंडा किये बाद गरम जल स्वादिष्ट रहता है भला स्वादिष्ट पीते हुए धोवण पीने की इच्छा कौन रक्खे ? तब ही तो तुम धोवण की निषेधना कर रहे हो। पाठक! जरा दयाजी लोगों की जल पीने की बाट तो देखिये। जब दयाजी विहार करते हैं रास्ते में गरम जल का योग न मिलन स घड़े भर कच्चे पानी म पक दो खोले के लड्डू डाल कर गृहस्थ लोग बहरा देते हैं। अब कहिये ऐसा कच्चा सचित मीठा स्वादिष्ट पानी पीने वाले दयाजी लोग छाछ की आँच का, चावल धोने का, कैर का बैर का, शाक बनाने की हण्डी का चरका कसायला, और खट्टा पानी कैसे पी सकते हैं ? इसलिए धोवण की निषेधना ही कर बैठे।

दयाजी! "गृहस्थों के पणीयारे के मटके के अन्दर में ऊपर में व नीचे सूक्ष्म मिट्टी लगी रहती है उसमें अनन्तकाय उत्पन्न होती है

उसका धोवण अनन्तकाय की उत्पत्ति व हानि का हेतु है" आदि तुम्हारा लिखना केवल हास्यास्पद और मिथ्या है क्योंकि गृहस्थ लोगों के पानी भरने के वर्तन नित प्रति धोके साफ किये जाते हैं ऐसे साफ और सुथरे बरतनों में अनन्तकाय का पैदा होना असंभवित है। और न रज जमने का कारण भी मालूम होता है। इसलिये "धोवण अनन्त काय की हानि का हेतु" ऐसा दण्डीजी का कहना व लिखना सर्वथा मिथ्या है हां दण्डियों के मटकों में महीन रज सदैव लगी रहती होगी जिससे अवश्य अनन्तकाय भी पैदा होती होगी इसीलिये दण्डीजी ने ऐसा लिखा हो तो कहिए दण्डीजी! जो गरम जल दण्डी लोगों के लिये तैयार किया जाता है वह उन्हीं मटकों के जलसे तैयार किया जाता हो तो फिर तो वह गरम जल अनन्तकाय को उत्पत्ति एवम् हानि का हेतु हुआ क्योंकि दण्डीजी ने खुद लिख दिया है कि "गृहस्थों के पणियारे के मटकों के अन्दर मे व ऊपर में नीचे सूक्ष्म मिट्टी लगी रहती है उसमें अनन्तकाय उत्पन्न होती है।"

यह तो है ही नहीं कि गरम जल जो दण्डी लोगों के लिये बनाया जाता है वह कुआ, बावड़ी से ताजा जल लाकर बनाया जाता हो गरम जल तो उन्हीं मटकों में से निकाल कर करते हैं तो यह दण्डी लोगो के लिखे अनुसार अनन्तकाय का हेतु मानना पड़ेगा। अतएव धोवण को अनन्तकाय की उत्पत्ति एवम् हानि का हेतु कहना प्रत्यक्ष झूंठ है और इस प्रकार झूंठ बोल कर संसार को वड़प्पन दिखाने का प्रयत्न करना आकाश कुसुमवत है।

१०—दण्डीजी लिखते हैं कि—"कई ढढिये धोवण में जीवोत्पत्ति की शंका मिटाने के लिये दुरबीन से या मोटे काँच से धोवन में जीव देखते हैं।"

यह भी लिखना दण्डीजी का नितान्त मिथ्या है। कोई भी श्वे०

है ऐसा कहना सूत्र विरुद्ध है। यदि धोवण झूठा हो तो भगवान उस लेने की आज्ञा नहीं देते इसका खुलासा प्रथम हम कर चुके हैं इसलिये फिर उसे दुहराना अनुपयुक्त है। और धोकर किया हुआ पानी अचित नहीं होता यह भी लिखना दयाजी की अनसमझ का है क्योंकि भस्मी-राख का और भस्मी से मजे हुए ताम्बे पीतल के थाली लोटे भाजनादि का धोकर किया हुआ पानी अचित नहीं होता यह भी लिखना दयाजी की अनसमझ का है। क्योंकि भस्मी-राख का स्पर्श अपकाय (जल) के लिए अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र है। इसलिए वह धोवण का जल निस्सन्देह अचित हो जाता है। उसी प्रासुक जल को श्वे० स्था० जैन मुनि ग्रहण करते हैं। और वही जल भगवान् की आज्ञा नकूल माना है।

दयाजी! अचित धोवण पीने में बड़ा कष्ट होता है। तब ही तो तुम इसका निषेध कर केवल गरम पानी ठंडा कर पीने की रीति चलाते हो क्योंकि ठंडा किये बाद गरम जल स्वादिष्ट रहता है भला स्वादिष्ट पीते हुए धोवण पीने की इच्छा कौन रक्खे? तब ही तो तुम धोवण की निषेधना कर रहे हो। पाठक! जरा दयजी लोगों की जल पीने की चाट तो देखिये। जब दयजी विहार करते हैं रास्ते में गरम जल का योग न मिलने से घड़े भर कच्चे पानी में एक दो ओले के लड्डू डाल कर गृहस्थ लोग बहरा देते हैं। अब कहिये ऐसा कच्चा सचित मीठा स्वादिष्ट पानी पीने वाले दयजी लोग छाछ की ओंच का, चावल धोने का, कैर का बैर का, शाक बनाने की हाण्डी का बरका कसाबला, और खट्टा पानी कैसे पी सकते हैं? इसलिये धोवण की निषेधना ही कर बैठे।

दयाजी! गृहस्थों के पणीयारे के मटके के अन्दर में ऊपर में व नीचे सदा मिट्टी लगी रहती है उसमें अनन्तकाय उत्पन्न होती है

१२—दण्डीजी । जब हलवाई जलेबी बनाते हैं तो कोई उसका मैदा एक दिन पहिले से खट्टा रखते हैं तो कोई उसी रोज ऐसे खटाई के पदार्थ डाल कर तैयार कर लेते हैं जिसमें खमीर फौरन उठ जाता है तो क्या ऐसा करने से उसमें जीवोत्पत्ति हो जाती है ? यदि ऐसा मानोगे तो सोडा, लेमनेट की बोतल खोलने पर भी वह उबलने लग जाती है उसमें भी जीव मानने होंगे तब जनता दण्डी लोगों की बुद्धि को अजीर्ण सा मानेगी। दण्डीजी ऐसे उबलने पर जीव पैदा नहीं होते । यदि पैदा होना मानोगे तो तुम्हारी बुद्धि का भ्रम समझा जायगा । श्वे० स्था० जैन साधु जलेबी लेते हैं वह सचित नहीं है जलेबी को जीव मय सचित मानना भयंकर भूल है । दण्डीजी ! स्वाद बदलने पर जीवोत्पत्ति मानोगे तो आटे की पिंड में स्वाद कुछ और है और रोटी में कुछ और, तो क्या रोटी भी जीव मय है ? यदि है तो रोटी क्यों खाते हो ?

फिर भी देखिये—दूध में स्वाद कुछ और है और रबड़ी में उस स्वाद का परिवर्तन हो जाता है तो क्या रबड़ी जीवाकुल है ? कभी नहीं ऐसे अनेक उदाहरण हैं । स्वाद बदलने पर ही जीवोत्पत्ति मानना हठ धर्म के साथ २ अज्ञानता है ।

१३—दण्डीजी ! तुम लिखते हो कि "आषाढ चौमासी से कार्तिक चौमासी तक हरिपत्ति का शाक संवेगी साधु नहीं लेते हैं ।" यह लिखना सर्वथा मिथ्या है । क्योंकि दण्डी लोग हरिपत्ति का शाक लेते और खाते भी हैं तो क्या ऐसी मिथ्या बातें देख कर तुम्हारे अनुयायी गृहस्थ एवम् तटस्थ लोग तुम्हारी हंसी न करेंगे ? वे तो समझते हैं कि दण्डी लोग हरिपत्ति का शाक मौज से ले जाते हैं और खाते हैं और किताबों में लिख देते हैं कि "हम संवेगी साधु नहीं लेते ।" इस प्रकार लिखना दण्डियों की मायाचारी है । और वे ढोल की तरह अपने में पोल रखना चाहते हैं यह तो वही मिसाल हुई कि:—

स्था० जैन साधु जीवोत्पत्ति की शङ्का मिटाने के लिए दुरबीन से धोवण में जीव नहीं देखते। ऐसा कौन अज्ञानी है जो केवल ज्ञानी के सिवाय एकेन्द्रिय जल के जीव और निगोदिये इन चरम चक्षु से देखने का प्रयत्न करे धोवण में जीव देखने की दएडीजी ने पल्ले सिरे की गप्प मारी है।

पाठको! इन दएडी लोगों से कष्ट कसायला धोवण नहीं लिया जाता इस तुच्छ स्वार्थ सिद्धि के लिये उस धोवण को मूठा कच्चा पानी, आदि कह कर तथा उसमें अनन्तकाय बता कर प्रभु आज्ञा का भी लोपने का दुस्साहस कर बैठे भला, आज्ञा लोपने का क्या कुछ कम दोष है? नहीं; आज्ञा को लोपने वाले और उनकी बात मानने वाले अनन्त संसार बढ़ा कर ८४ लाख जीवायोनी में परिभ्रमण करने का सामान तैयार कर रहे हैं।

११—दएडीजी! श्वे० स्था० जैन साधु तो निर्दोष, अनैमित्तिक अचित गरम जल ही लेते हैं उस गरम जल को मिश्र कहना दएडीजी की गहरी भूल है। गरम जल और कच्चे जल की यही पहचान है कि गरम जल के ऊपर ढकना ढांक दिया जाय तो उस ढक्कन पर भाफ के बूंद आ जाते हैं और कच्चे जल पर चाहे जितनी देर ढक्कन क्यों न ढांक दिया जाय तदपि उस ढक्कन पर भाफ नहीं जमती दएडीजी! जो गृहस्थ लोग शाम को चूल्हे पर जल रख देते हैं उसे सुबह लाकर हम नहीं पीते जो उष्ण निर्दोष है उसे हम लेते हैं और पीते हैं हां, दएडी लोग गरम जल लेते हैं उसमें अवश्य आधाकर्मी दोष लगता है क्योंकि ये तीन उफाले जल को ही गरम जल कहते हैं तो क्या गृहस्थ लोग खाने या स्नान के लिये गरम जल इस नियम से थोड़ा ही तैयार करते हैं कि इसमें तीन उफाले आना ही चाहिये? अब तीन उफाले का गरम जल तैयार किया जायगा वह तो दएडी लोगों के लिये ही समझा जायगा।

देखिये, विना ही रस चलित होने के पहिले ही यदि वासी अन्न में त्रस जीवों की उत्पत्ति होती तो भगवान् इस जगह वासी अन्न लेने को अवश्य मनाई करते पर भगवान् ने मना न कर पुष्टी की है इसलिए विना ही रस चलित वासी अन्न में त्रस जीवों की उत्पत्ति कह देना दण्डी लोगों का सूत्र विरुद्ध है। और जो वासी अन्न वर्णादि परिवर्तन के साथ ही रस चलित हो जाय तो उस वासी अन्न को श्वे० स्था० जैन साधु लेना तो दूर रहा स्पर्श करना भी पाप समझते हैं।

दण्डीजी कहते हैं कि वासी अन्न दूसरे दिन सुबह तक गरम २ रहे तो भी उसमें उष्ण काय के जीव उत्पन्न होते हैं तथा सर्दी में रोटी आदि बहुत ठंडे रहते हैं तो उनमें शीत काय के जीव उत्पन्न होते हैं।

यह लिख कर तो दण्डीजी ने निरक्षरता जाहिर की है। क्योंकि जब सुबह तक गरम २ रहते हुए भोजन में उष्ण काय के जीवों की उत्पत्ति मानें तो यह भी मानना होगा कि तत्काल के बनाये हुए गरम २ भोजन मे भी उष्ण काय के जीव हैं। अतः सब दण्डी लोग अपनी मान्यतानुसार- उष्ण काय जीवों की रक्षा के लिये भोजन त्याग कर संथारा (समाधि) लेकर एकान्त स्थान में आसन लगा लें। इसी तरह गरम जल को ठंडा करने में शीत काय के जीव उत्पन्न होंगे अतः दण्डी लोग तीन उकाले का उष्ण जल ठंडा न कर उष्ण ही पीना शुरू करें।

दण्डीजी ! वासी अन्न विनारस चलित साधुओं को लेने में कोई दोप नहीं खुद भगवान ने वासी अन्न लिया है। यदि जीवोत्पत्ति होती तो भगवान् महावीर स्वामी कभी नहीं लेते इसलिये विना रस चलित वासी अन्न में जीवोत्पत्ति वताना दण्डी लोगों की भारी अज्ञानता है। और वासी रोटी, मालपुआ पूरी आदि में तार वंध जायं या रस परिवर्तन हो जाय उसे श्वे० स्थानकवासी जैन साधु स्पर्श करना भी पाप समझते हैं।

बतलाई है उसको नहीं पालना चाहिये ? अवश्य पालना चाहिये
चट्टे हो जाने से तुमने वासी अन्न लेना बन्द कर दिया है और
उत्थापना करने लग गये हो। खुद भगवान ने वासी अन्न लेकर स
को लेनेकी आज्ञा दी देखो प्रश्न व्याकरणका प्रमाण कि हे साधु
अन्न पर खाते समय नाराजी मत लाना।

फिर दण्डीजी की गहरी अज्ञानता तो देखो कि वे वासी
प्रसग पर क्या लिखते हैं:—

"सरस २ गरिष्ट आहार लेकर शरीर को पुष्ट करते है
अपने स्वाद के लिए या विहार में भाता रूप आहार अपने सा
जाने के लिये सूर्य का उदय होते ही गृहस्थों के घर जाकर वासी
आदि व बहुत दिनो का आचार और चूल्हे पर का प्राय. कच्च
ने हैं।"

विचार शील पाठको ! दण्डीजी के विषम वादी वाक्यों पर तो
कीजिये कि 'वासी रोटी और उसमें स्वाद सरस और गरिष्ट' कैसा
सम्बन्ध मिलाया है। भला वासी रोटी में स्वाद दण्डीजी की मू
सिवाय और कुछ आता है ? वासी रोटी खाने वाले तो रसेन्द्रि
ने वाले हुए अगर रसेन्द्री वश मे न हो तो वासी रौटी ही क
वासी रोटी से भी कहीं शरीर पुष्ट होता है ? हा, वास
न करने वाले दण्डी लोग तो ताजे २ माल खाकर अप
ा लेते हैं।

पाठको ! दण्डियों ने वासी रोटी नहीं खाने का अपने लि
निष्कंटक मार्ग निकाला है। न तो इससे गृहस्थ वहराने का
सकते हैं और न ये खा सकते हैं। भला यह तो प्रत्येक सामा
ाला भी जानता है कि जैसा स्वाद गरम रोटी पूड़ी आदि में

दण्डीजी ! आचारांग सूत्र में भगवान् महावीर स्वामी का उल्लेख है यहां लिखा है कि जहां तहां जैसा निर्दोष, ठंडा, उष्ण, बासी, सरस, निरस जो भी वक्त पर भोजन मिल जाता उस भोजन को खाकर वे अपने संयम का निर्वाह करते थे देखो जरा आँखें उठाकर मूल सूत्र को।

अवियसूइयं वा सुक्कंवा सीयं पिंड पुराण कुमासं ।
अदुबुक्कसं पुलागं वा लद्धे पिंडे अलद्धे य दविए ॥
म० आचारांग अ० ६ उ० ४

अर्थात्—खाने में बहुत बुरा मालूम हो ऐसा अथवा सूखा, बासी, ठंडा, अरस, निरस, सरस, भोजन रुष उड़द के बाकुले आदि अपना संयम निभाने के लिये भगवान खाते। यदि समय पर ऐसा भी नहीं मिलता तो बिना खाए ही रह कर आत्मा को सन्तोष दे लेते।

दण्डीजी ! इस मूल सूत्र में यह नहीं आया कि भगवान बासी रोटी या पूड़ी नहीं लेते थे। यदि इस जगह मूल में बासी रोटी या पूड़ी आदि नहीं लेने का उल्लेख हो जाता तो दण्डी लोग अपनी मान्यता की सिद्धि में और वाह्य रस की चाट में मानों फूल कर कुप्पे हो जाते। पर बासी रोटी या पूरी नहीं लेने का निषधात्मक वाक्य कहीं भी नहीं है। प्रत्युत भगवान ने स्वयं बासी आहार लाकर अन्य साधुओं को अनुकरण करने का प्रमाण दिया है।

दण्डी लोग स्वादिष्टता की चाट में बिना रस चलित रोटी पूड़ी में असंख्य त्रस जीव कह बैठे मना जीवों के भक्षण करने का मिथ्या दोष भगवान् पर भी आरोपित करते हृदय नहीं कंपा ?

१७ दण्डीजी ! भगवान् अनन्त बल वीर्य पराक्रम वाले शुद्ध उपयोगी दिव्यज्ञानी थे, उनके गुणों का एक अंश भी तुम लोगों में —ी है। यह बात सच्ची है पर क्या भगवान ने साधु के लिये जो प्रवृत्ति

प्रोले के लड्डु डाल कर प्रासुक (अचित) पानी के नाम से वहरा देते हैं तब दण्डो लोगों को विहार मे भाता (भोजन)।साथ में ले जाने की आवश्यकता ही क्या रही ?

अब हमसे पाठक पूछें कि इस तरह आधाकर्मी आहार पानी लेने का दण्डी लोगों पर विना प्रमाण आक्षेप करना मिथ्या है।

पाठको ! आपकी यह तर्क ठीक है पर हम हमारी ओर से यह नहीं लिख रहे हैं हम अगर अपने मन से लिखते तो अवश्य आक्षेप कहा जाता किन्तु इन दण्डो लोगोके वारेमें ऐसा एक दण्डीजोने ही लिखा है देखिये, दण्डी लाभ विजयजी विरचित "स्तवनावलो" ग्रन्थ की पृष्ठ १७२ पक्ति ७.से यों लिखते हैं कि "सबेगी विहार करते हैं जद (जब) गृहस्थ आदमी साथ देवे हैं बोझ वगैरे ले चलने कूं फेर मजल पर घर न होने से दाल बाटी गरम पानो करके मजे में खाते पिलाते इच्छानुकूल ठिकाने पहुँचाते हैं अे (यह) पाप कहा छूटेगा।

पुन' देखो उपर्युक्त ग्रथ की ही पृष्ट १७३ पंक्ति दूसरी से। "पेम विजयजी आगरे आये गये आदमो खाते पिलाते लाये पहुँचाये। उत्कृष्ट बाजे फेर लसकर से वीर विजै कलकत्ते गये। नथमलजो गोलेछा ने एक गाड़ी आदमी दिये। सेवा करते ले गये पहुंचे बाद गाड़ो बलद वेच दोये ऐसे जानते पाप कहा छूटेंगे। फेर दोलत विजयजी आगरे से कानपुर तक पोंहचाये इसी तरह रिवाज है।

इत्यादि बहुत से प्रमाण हैं पाठकों को इन प्रमाणों से पता लगेगा कि दण्डो लोग विहार में दाल बाटी, गरम जल, ओले का जल साथ के गृहस्थ से लेते हैं, तो भला विहार में भाता रूप आहार तोक कर दण्डी लोग क्यों लेजावें ? और विहार मे ठंडा भोजन कौन खावे ? जबकि गरम २ बाटी चूरमा दाल मिलती है, तब ऐसा आहार खाकर निर्दोषी बने फिरना दण्डीजी की बडी भूल है।

भी ये दयाजी मजे में लेकर] खा जाते हैं क्योंकि वे मीठे और स्वादिष्ट रहते हैं न ?

दयाजी ने विहार के वक्त अपने साथ आहार ले जाने वालों का उपहास किया है। पर भगवान् की आज्ञा की इन्हें खबर नहीं कि भगवान् विहार में दो कोस तक आहार पानी ले जाने का आदेश दे चुके हैं। हां, दो कोस से अधिक दूर ले जाने वाला भगवान का अवश्य अपराधी है पर साथ में दो कोस तक ले जाना वाला नहीं देखो बृहद् कल्प सूत्र का चौथा उद्देश।

"नो कप्पइ णिग्गंथाणं वा णिग्गंथीण वा असणवा पाणं वा खाइम साइमं वा पर अद्धजोयणमेराए उवाइणा वित्तए।'

अर्थात् —साधु के साथ गृहस्थ नहीं रहते अगर रहते हैं तो उनसे वे मोसमादि नहीं लेते उनसे आहारादि लेने में आधाकर्मी आदि दोषों की प्राप्ति होती है। इसलिये श्वे० स्था० जैन साधु विहार में आधा कर्मी (दोष) आहार से बचने के लिये दो कोस तक आहार अपने साथ में ले जाते हैं भगवान की आज्ञानुसार यह नियम उन्हीं साधुओं के लिये हैं जो भगवान की आज्ञा में विचरकर आधाकर्मी आहार नहीं मांगते हैं।

दयाजी ! विहार में माता रूप भाइत से श्वे० स्था० जैन साधु तनिक भी नाराज नहीं होंगे यह तुम्हारा लिखना सही है। श्वे०स्था० जैन साधु आधाकर्मी और प्रावा आदि के लड्डू खाने हुए कच्चे पानी से बचने के लिये विहार में माता रूप ठंडा आहार भी ले जाते हैं और पानी भी साथ में लेते हैं। मार्ग में ठंडा भोजन साधुता रखने के लिये करना ही पड़ता है। किन्तु दयाजी लोगों के विहार में तो मजा है क्योंकि साथ में आदमी रहते हैं वे गरम २ बाटी दाल बना कर प्राय बहरा देते हैं और पानी कुए में से या बावड़ी में से निकाल कर उसमें एक दो

जल का अंश कम होने से मिठाई में जीवोत्पत्ति नहीं होती यह लिखना भी दण्डीजी का नितान्त मिथ्या है। क्योंकि पेड़े, मावे में जल बिलकुल ही नहीं पड़ता पर उसमें १०–१२ रोज के क़रीब में उसी वर्ण वाली फूलण आजाती है, ३० रोज तक की मिठाई खालेना और बासी रोटी बाजरे का रोटला पुड़ी नहीं खाना और जीवोत्पत्ति कह देना दण्डी लोगों का चट्टापन नहीं तो और क्या है ?

१६—दण्डीजी लिखते हैं कि "मक्खन (लोणी) छाछ में से बाहिर निकालने पर तत्काल अतरमुहूर्त में ही उसी वर्ण की फूलण आदि अनेक जीवों को उत्पत्ति होती है।"

दण्डीजी का इस प्रकार लिखना हास्यास्पद है, क्योंकि मक्खन वही हैं जिसमें छाछ का अश हो, जिसमें छाछ नहीं होगी वह मक्खन नही कहलायगा, उसे तो तपा हुआ घी कहेंगे। अगर मक्खन में तत्काल ही जीव उत्पन्न होते तो भगवान सर्वज्ञ, साधुओं को कारणवश मक्खन लेने की क्यों परवानगी देते ? देखो सूत्र वृहद्कल्प के पाचवें उद्देशे में लिखा है कि:—

"णो कप्पई निग्गथाण वा निग्गंथीण वा पारसीयासीराणं तेलेण व घएण वा णवणीएण वा वसाए वा गायाइ अब्भगेत्तए वा मखेत्तए वा णण्त्थ आगाढागाढे रोगाय केहिं।"

अर्थात्—पहले प्रहर में लाया हुआ तेल, घी मक्खन आदि तीन प्रहर तक काम में साधु साध्वियों को ले लेना चाहिये, यदि कोई विशेष से विशेष कारण हो तो पहिले प्रहर की लाई हुई उपरोक्त चीजें चौथे प्रहर तक भी काम में लाई जायं तो कोई दोषापत्ति नहीं। तो दण्डी लोग कैसे कह सकते हैं कि मक्खन में तत्काल ही जीव उत्पन्न हो जाते हैं, क्या दण्डी लोग भगवान से भी विशेष ज्ञानी हैं ? क्या उन्हें भगवान के वाक्यों पर भी विश्वास नहीं है ? भगवान जब कह गए हैं कि मक्खन

दयाबीजी ! सुबहकी बनी रोटी सायंकाल को ठंडी कहलाती है। श्वे० स्था० जैन साधु भी उसे ठंडी ही कहते हैं, इसी तरह सायंकाल की रोटी भी रात व्यतीत होने पर सुबह ठंडी कहलाती है, यदि उसको ठंडी नहीं कहते तो दयियों का कहा सही समझा जाता।

दयाबीजी ! सूत्रकार ने तुम्हारे भद्देपन को काट मिटाने के लिये ही ठंडा आहार लेने के वास्ते "सीयं पिण्डं" शब्द का प्रयोग किया है। इस शब्द में से यह अर्थ कोई भी विद्वान् नहीं निकाल सकता है कि सुबह की रोटी शाम को ही ठंडी कही जाय न कि शाम की रोटी सुबह को ठंडी गिनी जाय।

जब भगवान् तीसरे प्रहर में गोचरी जाते थे तब कहीं किसी रोज किसी के यहां उस रोज का भोजन बना हुआ नहीं होता तो गृहस्थ कहता कि हे स्वामिन् ! आज का बना हुआ भोजन शेष नहीं रहा, कल का ठंडा पड़ा है कहो तो महाराज् भगवान वही भोजन ले लेवे, इसीलिये सूत्र में उल्लेख है कि भगवान ने स्वयं ठंडा आहार कर अन्य साधुओं को अनुकरण करने का प्रमाण रख दिया है।

दयाबीजी लिखते हैं कि "मिठाई में पक्की चासनी होने से जल का अंश कम रहता है जिससे जीव उत्पन्न नहीं होते ऐसी वस्तु लेने में दोष नहीं।"

हां सच है दयाबीजी ! मिठाई की आड़ में तो सब दोष यों ही छिप जाते हैं इसीलिये तुम्हारे माननीय पूर्वजों ने "भाद्र विधि प्रकरण ग्रंथ के पृष्ठ ९१ पर १५-२०-३० दिन तक की बनी हुई मिठाई लेने की आज्ञा दी है हाय ! कितना अन्धेर है, श्वे० स्था० जैन साधु तो १० दिन की बनी हुई मिठाई तो दूर रही पर १०-१२ रोज की बनी हुई मिठाई में भी उसी वर्ण वाली फूलण आजाना मानते हैं इसलिये उसे लेना देते हैं, यहाँ तक कि उसका स्पर्श करना भी पाप समझते हैं।

कच्चे जल, निमक, अग्नि पर नहीं होगा उस भोजन को ले लेंगे और जो अग्नि पर दाल शाक ब्राटी आदि पड़ी होगी या कच्चे जल, नमक आदि छुई हुई पड़ी होगी तो उसे नहीं लेंगे। और जब गृहस्थों के घरोंमे भोजन के लिये धर्म लाभ कहकर प्रवेश करेंगे तो गृहस्थ जान लेंगे कि साधु आये हैं, अतः दाल में नमक नही डाला होगा तो नमक शीघ्र डाल देंगे या अग्नि पर पड़ा हुआ होगा तो उसे अग्नि से हटा लेंगे, आदि २ साधु के धर्म लाभ आवाज देने पर अनेक हिंसा जन्य कार्य होंगे और भोजन देने और लेने वाला दोनों काली धार डूबेंगे। क्योंकि वह भोजन सदोषी होजायगा और वे साधु के निमित्त ऐसा करने से भगवान के भी दोपी होंगे, इसलिये गृहस्थों के घरों में साधु को चुपचाप ही जाकर निर्दोष आहार पानी लेना चाहिये, धर्म लाभ कहकर दूषित आहार लेना जिनाज्ञा के प्रतिकूल है।

फिर दण्डीजी लिखते हैं कि "उस समय वहू, बेटी आदि खुले सिर बैठी हों, शरीर को शोभा करती हों, कभी स्नान करते समय वस्त्र बदलते समय, वस्त्र रहित हों, कभी कोई स्त्री पुरुष आपस में हास्य-विनोद काम चेष्टा वगैरह करते हों।"

दण्डीजी! यह लिखना कितनी अज्ञानता का है कि भोजनालय में भोजन के समय काम चेष्टा करते हैं, कोई मूढ़ मनुष्य भी ऐसा नहीं करता होगा। दण्डी लोगों के भक्तों का तो हमें पता नहीं, शायद इसी कारण से दण्डो लोग 'धर्म लाभ' शब्द कहकर घरों में प्रवेश करते होंगे, कि धर्म लाभ सुनकर स्त्री पुरुष काम चेष्टा करते हुए दूर होजायँ, हाय! कितना घृणित व्यवहार है कि दिनमें और भोजनके समय भी जैनी नाम धराने वाने काम चेष्टा करते हों! अगर ऐसा व्यवहार उनके घरो में नहीं होता होगा तो दण्डी मणिसागरजोका लिखना नितान्त मिथ्या सिद्ध होगा।

विचारशीलो! स्त्रियों के शृङ्गार, स्नान आदि के स्थान भोजना-लय से प्रथक ही होते हैं और काम चेष्टा का स्थान भो प्रथक रहता है।

आदि तीन प्रहर तक काम में ले सकते हैं और अत्यन्त आवश्यकता हो तो चौथे प्रहर तक काम में लेने में भी दोषापत्ति नहीं है तो फिर सामान्य बुद्धि वाला भी कह सकता है कि दयाजी की मक्खन में तत्काल जीव पैदा होने की बात सूत्र विरुद्ध है।

२०—दयाजी! मक्खन की तरह शहद भी है। यदि शहद में पृथ्व्यादि और त्रस जीव होते तो भगवान् उसका लेना सूत्र में निषेध कर देते। पर किसी जगह भी निषेध नहीं करा इससे दयाजी का मधु विषय का लेख मिथ्या है।

२१—दयाजी ने दूध में गुड़ मिलाने से असंख्य त्रस जीवों की उत्पत्ती होना लिखा सो यह लिखना भी उनका नितान्त मिथ्या है। क्योंकि दूध में गुड़ मिलाने पर जब जीव उत्पन्न होते हैं ऐसा ३२ सूत्रों में कहीं भी भगवान ने उल्लेख नहीं किया। फिर भी देखिये—क्या दूध में मिलाने के लिये श्वे० स्था० जैन साधु को शक्कर नहीं मिलती है जो वे दूध में गुड़ मिलावेंगे? दयाजी! सिर्फ वृथा बुद्धि वश मनमाना मिथ्या लेख लिख रहे हो क्योंकि दूध में गुड़ मिलाकर खाने का नियम हमारे मुनियों में नहीं है। दयाजी ३२ सूत्रों के विरुद्ध दूध में गुड़ मिलाने से त्रस जीव उत्पन्न होते हैं ऐसा तुमने किस प्रमाण से लिखा? बिना प्रमाण असत्य लिखने से सत्यमनसाहत नहीं प्रकट होती।

२२—दयाजी! आर्द्रा नक्षत्र बैठने के बाद आम न लेने की बात भी तुम्हारा पट्टापन साबित करती है। श्वे० स्था० जैन साधु तो आर्द्रा नक्षत्र के पहिले भी आम में जीव उत्पन्न होने की आशंका समझ जावें तो आम व उसका रस छुवें भी नहीं।

२३—दयाजी! साधुओं को भोजन के समय गृहस्थों के घरों में आहारादि के लिए चुपचाप ही जाना शास्त्रानुकूल है। क्योंकि जब साधु आवाज नहीं देंगे तभी भोजनालय में भोजन कल्पनीय अकल्पनीय ज्यों का त्यों रक्खा हुआ साधु के दृष्टिगत होगा, जो कल्पनीय अर्थात्

तो मला भोजनालय में भोजन के समय स्नान, शृंगार, कामचेष्टा का सम्बन्ध जोड़ना दण्डीजी की अज्ञानता है।

प्रश्न—दशवैकालिक सूत्र के पांचवें अध्याय में आहार पानी आदि की गवेषणा के लिये १५० श्लोक भगवान ने फरमाये हैं, पर उनमें किसी भी जगह यह नहीं कहा कि गृहस्थ के घरों में गोचरी के लिये 'धर्मलाभ' कहना चाहिये। इसी तरह श्रीमदाचारांग सूत्र के आहार गवेषणा के अधिकार में धर्म लाभ या कोई भी शब्द कहकर साधुओं को गृहस्थों के घर में जाना चाहिय ऐसा नहीं लिखा। "धर्मलाभ आदि शब्द न कहकर घरों में प्रवेश होना अनर्थ का मूल होता है" ऐसा दण्डीजी लिखते हैं तो क्या भगवान महावीर भूल गए हैं? या दशवैकालिक या आचारंग सूत्र में धर्मलाभ आदि शब्द कहकर गृहस्थों के घरों में गोचरी के लिय प्रवेश होना ऐसा लिखना रह गया? तो फिर दण्डीजी! तुम किस आधार से इसे बहुत अनर्थों का मूल बतलाते हो।

भगवान तो आहार की गवेषणा में जितने भी कारण अनर्थ पैदा होने के थे सब बतला गये, कोई बात न छोड़ी 'तब धर्म लाभ कहकर गोचरी जाना, नहीं तो बहुत अनर्थ पैदा होंगे" य वाक्य भगवान के ज्ञानके बाहर रहगये होंगे! अफसोस!! शतश: अफसोस!!! कि दण्डी लोग कलियुग में केवलज्ञानी से भी बढ़ कर ज्ञानी बनने चले हैं।

२४—गृहस्थ लोग जो अपने घरों में जाते हैं तो दरवाजा खोलते आदि करते हैं यह ठीक है, गृहस्थ तो समय कुसमय में भी जा सकते हैं पर साधु तो भोजन के समय और भोजनसमय में ही आहार पानी के लिय जाते हैं उस समय धर्मलाभ आदि शब्द कहने की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि भोजनालय में भोजन के समय बेशर्मी करने का व्यवहार भला कौन करता है? अतः शुद्ध आहार की प्राप्ति के लिये गृहस्थों के घरों में चुपचाप ही साधुओं का प्रवेश करना चाहिए।

दन्डीजी, तुम्हारी बुद्धि की बलिहारी है। तुमने किन किन श्वे० स्थानकवासी जैन साधुओं को एकान्तरे बारा बन्धी से गौचरी जाते देखे या कौनसे ग्रन्थ में लिखा देखा कि श्वे० स्थानकवासी जैन साधु आज गौचरी जाते हैं तो कल नहीं जाते और फिर परसों जाते होंगे। देखो श्वे० स्था० जैन साधु एकान्तरे बाराबन्धी से गौचरी नहीं जाते, वे कभी चौथे पांचवे पन्द्रहवे रोज चाहे जब गौचरी जाते हैं। पर ऐसा नियम नहीं है कि आज गौचरी गये तो कल न जाकर परसों अवश्य जावेंगेही दण्डीजी जो तुमने बाराबन्धी की प्रथा बतलाई यह सर्वथा झूठ है।

हाँ, दण्डी लोगों में नित्य पिंड, आधा कर्मी आदि दोषों से दूषित आहार करने का प्राय. रिवाज है। इसके प्रमाण हम पिछले उत्तरों में लिख चुके हैं। विशेष फिर यहाँ दुहराना उचित नहीं समझते।

२७—दण्डीजी कहते हैं कि "चने, उड़द, मूंग, तुअर वगैरह दो फाड़ वाले धान को कच्चे दही छाछ दूध में मिलाने से उसको द्विदल कहा जाता है इसी तरह पकोड़ी चोलरी पीतोड़ आदि में दही कच्ची छाछ डाल कर रायता बनाया जावे वह भी विदल है। उसमें तत्काल सूक्ष्म त्रस जीवों की उत्पत्ति होती है।"

इस प्रकार लिख कर दण्डीजी अपनी अज्ञानता जाहिर करते जाते हैं। क्योंकि ३२ सूत्रों में कहीं भी दोफाड़ वाले धान व पीतोड़ चोलरी आदि में दही या कच्ची छाछ डालने पर विदल हो जाता है ऐसा उल्लेख भगवंतों ने नहीं किया और ऐसा करने पर उसमें तत्काल ही त्रस जीव उत्पन्न होते हैं ऐसा भी भगवंतों ने बत्तीस सूत्र के किसी मूल पाठ में उल्लेख नहीं किया। तो फिर दण्डीजी ने किस प्रमाण से द्विदल में जीव उत्पन्न होना लिखा? इस बात को यदि दण्डियों को सिद्ध करना ही था तो माननीय बत्तीस सूत्रों का प्रमाण यहां अवश्य उद्धृत करते, पर कहा से उद्धृत करें? सूत्रों में कहीं नाम निशान भी

अर्थात्—जो साधु साध्वी के उपाश्रय में कारणवश जाना चाहे तो (अभिहाए) बिना चेताये यानि आर्यिकाजी,कि उपाश्रय में भाविका है या नहीं। ऐसा कहे बिना साधु साध्वी के उपाश्रय में प्रवेश हो जाय तो वह प्रायश्चित का भागी है। क्योंकि साधु साध्वी के उपाश्रय में बाई या भाई की साक्षी मूल से जा सकते हैं। यदि उपाश्रय में बाई नहीं है और साधुजी के साथ भाइ नहीं है तो वे साधु साध्वी के उपाश्रय में कभी नहीं जा सकते इसलिये निशीथ सूत्र में "अभिहाए" शब्द दिया है।

विचारशीलो! सोचिए इस जगह साध्वी के उपाश्रय का न्याय अन्य दन्ढी लोगा के लिए कितना लज्जनीय है। गृहस्थों के भोजनालय में भोजन के समय कौन ऐसी स्त्री है जो शृङ्गार सजेगी ? या काम चेष्टा आदि के लिये तैयार होगी।

अगर थोड़ी देर के लिये मान भी लें कि गृहस्थों के घर में दन्ढीजी के मतानुसार ऐसा होता भी हो तो क्या साध्वी के उपाश्रय में भी ऐसा कुव्यवहार हो सकता है जिसका न्याय लगाकर तुमने अपनी बात सिद्ध करना चाही ?

दयाळोजी न्याय देना हो तो सोच समझ कर देना चाहिए। कहां तो साध्वी जी के उपाश्रय का न्याय और कहां अपनी तुच्छ स्वार्थ सिद्धि ? इस न्याय से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि भोजनालय में भोजन के समय गृहस्थों के घरों में धर्मलाभ आदि कहकर साधु का प्रवेश होना चाहिये। दन्ढीजी अगर शुद्ध आहार लेने की इच्छा रखते हो तो स्वं० स्था० जैन साधु की तरह भोजनालय में चुपचाप जाकर अपनी आंखों से कल्पनीय अकल्पनीय सब अच्छी तरह देख कर लिया करो तभी शास्त्रानुकूल साधु की रीति पालन वालों में गिने जाओगे।

२६—दन्ढीजी लिखते हैं कि "ढुंढिए साधु नित्य पिंड का दोष टालने के लिये एक-न्तरे बारा बन्धी से गौचरी जाते हैं यह भी अनर्थ का हेतु है।

अद्रक, करेले, गाजर, लहसन, मूली, प्याज, पालखा, इमली, आलू, पिण्डालु, अथाणा, केरी, निम्बू, मिरच, आदिका, दही वड़े, बैंगन, सीताफल, वेर, जामन आदि।

अब कहिए ! खुद दण्डी लोग उपरोक्त वस्तुओं को अभक्ष कहते हैं और फिर इन्ही दण्डी लोगों के अनुयायी गृहस्थ लोग खाते जा रहे हैं और उपरोक्त अभक्ष वस्तुओं मे से कितनीक वस्तु खुद दण्डी लोग अपने काम में लाते हैं तो यह एक मायाचारी ही है।

दण्डीजी ! अभक्ष का मतलब यह है कि मदिरा माँस तो सर्वथा अभक्ष ही है। और अवशेष जीवाकुल अभक्ष पदार्थों में से वच सके वहां तक उनसे वचना गृहस्थों का काम है। जितना वचे उतना ही पाप कम होगा और मुनिराज तो जीवाकुल अभक्ष खायंगे ही नहीं। मक्खन, शहद, निमक, हल्दी, अद्रक, बैंगन, आलू आदि का शाक वगैरः जो भी लेंगे वह अचित एव रापणिक होगा उसे ही लेंगे उसमें कोई भी पाप मुनिराजों को नहीं है।

फिर भी देखिए——

जिस ग्रन्थ का दण्डीजी ने उदाहरण दिया उसी ग्रन्थ के ५८५ पृष्ठ के नोट में इस प्रकार का उल्लेख है कि "इन वाईस में के कितनेक का औषधादि में ग्रहण भी करते हैं" दण्डीजी ! इस प्रकार के वाक्य से "मक्खन शहद" औषधादि में लेना सिद्ध हो चुका तो फिर दण्डीजी ! श्री अमोलक ऋषिजी महाराज रचित "जैन तत्व प्रकाश" ग्रन्थ का नाम लेकर "मक्खन शहद" नहीं लेना व तत्काल द्विदल में जीव होना ऐसा सिद्ध करना दण्डीजी की मूर्खता नहीं तो और क्या है ?

दण्डीजी ! जैसे तुमने वाईस अभक्ष की चर्चा "जैन तत्व प्रकाश" से ग्रहण की तो फिर उसी ग्रन्थ में मुंहपत्ति मुह पर वाधने का विषय प्रमाणों से भली भाति सिद्ध कर दिया है और उन महत्पुरुष ने वतला

नहीं है केवल दयाजीजी ने मनः कल्पना से द्विदल में जीवोत्पत्ति लिख मारी यह सूत्र विरुद्ध है।

२८—दयाजीजी लिखते हैं कि "अमोलक ऋषि वगैरह कितने ही ढूंढिये द्विदल में जीवों की उत्पत्ति मानते हैं। जैन तत्व सार में बाईस अभक्ष के अधिकार में पृष्ठ ५५१ वें में लिखते भी हैं परन्तु व्यवहार में नहीं लाते।"

दयाजीजी! जो तुमने "जैन तत्व सार" नामक ग्रन्थ का प्रमाण रखा यह सरासर झूठ है। क्योंकि "जैन तत्व सार" इस नाम का ग्रन्थ शास्त्रोद्धारक बाल ब्रह्मचारी परम पूजनीय पण्डित मुनि श्री अमोलक ऋषिजी महाराज ने आज तक नहीं लिखा फिर दयाजीजी को "जैन तत्व सार" ग्रन्थ कहां से प्राप्त हो गया। हां सम्भव है दयाजीजी! के लिखते समय आंखों में चकाचौंध आ गई हो जिससे "जैन तत्व प्रकाश" की जगह 'जैन तत्व सार" हो गया हो। खैर कुछ भी हो पर दयाजीजी! का यह लेख भी पूर्ण अनसमझ का है। क्योंकि बाईस अभक्ष में नीमक, धम्बाखु, अफीम, भी अभक्षों हैं, ऐसा भी अमोलक ऋषिजी महाराज ने ग्रन्थों से लिखा है सो क्या दयाजी लोग बिना निमक की वस्तु खा रहे हैं? नहीं फिर भी देखिए कितनेक दयाजी लोग तम्बाकू भी सूंघते हैं कभी कारण में अफीम भी खा लेते हैं तो फिर दयाजीजी ने जैन तत्व प्रकाश का उल्लेख बिना सोचे समझे क्यों कर लिख डाला।

फिर देखिए!

बाईस अभक्षों में से बहुत सी चीजें गृहस्थ—दयाजी लोग अपने काम में लाते हैं जरा सुनिये—

कबीठ, सहद, मक्खन, बर्फ अफीम, भांग, गांजा, मासूम, तम्बाखु, गड़े, गेरू, गोपीचन्दन खड़िया, हिरमची मैनसिल निमक रात्रि भोजन, अनार, जायफल, अंजीर, तीजोरे के दाने, अर्थाकन्द,

दण्डीजी ! स्थावर और समुच्छिम जीवों को देख नहीं सकते । ज्ञानी तीर्थकरों के कहने से मानते हैं यह बात बिलकुल सही है । परन्तु पाँच स्थावर समुच्छिम में जीव होना तीर्थंकरों ने सूत्रो में फरमाया उसी प्रकार किसी ज्ञानी या तीर्थंकर ने बत्तीस सूत्रों में यह नहीं फरमाया कि द्विदल में तत्काल ही जीव पैदा होते हैं तब दण्डी लोगों के ज्ञानी महाराज कौन ? क्या वे मनगढ़न्त लिख मारते हैं या स्वयं ज्ञानी हैं ? यदि सचमुच कलयुग के ज्ञानी भी हो तो हम उनका स्वागत करने को तैयार नहीं है भले ही दण्डी लोग इसे प्रमाण भूत मानें । श्वे० स्था० जैन साधु तो मन कल्पना से कहने वाले ही समझेंगे ।

२६—दण्डीजी लिखते हैं कि "ढूंढिये साधु लोग मकान के मालिक का घर शय्यातर न करते हुए मकान में ठहरने की आज्ञा देने वाले नौकर या पाड़ोसी आदि अन्य का घर शय्यातर करके मकान के मालिक के घर का आहारादि लेते हैं यह सर्वथा शास्त्र विरुद्ध है ।"

दण्डीजी यह भी लिखना तुम्हारा अविवेकता का है क्योंकि जैन शास्त्रों में मकान मालिक की तथा जिसके अधिकारमें हो उसकी आज्ञा लेने का उल्लेख है । देखो रायपसेणी सूत्र में प्रदेशी राजा के प्रसग पर" चित्तजी प्रधान ने सरकारी बागवान से कहा कि नगे सिर वाले नगे पैर चलने वाले और मुंह पर मुख वस्त्रिका बाँधने वाले बगल में रजोहरण रखने वाले हाथ में पात्र लिए हुए ५०० मुनि के परिवार से श्री केशी श्रमण मुनि यहा पधारने वाले हैं अतः उनके ठहरने के वास्ते मकान की आज्ञा तथा पाट पाटले सस्थारक वगैरे जो कुछ वे लेना चाहें देकर फिर मुझे इत्तला देना तब बागवान ने वैसा ही किया ।

देखिये दण्डीजी ! शितिम्बिका में राजा प्रदेशी का बाग होते हुए भी श्री केशी श्रमण ने बागवान की आज्ञा ली है । क्योंकि वह बाग उस बागवान के आधीन एवम् जिम्मे पर था इसी प्रकार अंतगढ़ सूत्र में

भी दिया है कि मुँहपत्ति मुह पर ही बांधना शास्त्रानुकूल है। अतएव इसको भी मान कर ढूंढ़िये वगैरह लोगों को चाहिए कि वे मुँहपत्ति हाथ में रखने की नई प्रथाकी का परित्याग कर दें।

दयजीजी ! यह तुम्हारा लिखना पूर्ण अनसमझ का है क्योंकि ऐसे कौन श्वे० स्था० जैन साधु हैं जो द्विदल में तत्काल जीवोत्पत्ति कहेंगे और फिर उसे खावेंगे कभी नहीं, तत्काल जीवोत्पत्ती द्विदल में होती ही नहीं है और यों तो पांच दस दिन के बने हुए द्विदल में ही क्या बहुत सी चीजों में त्रस जीव पैदा हो जाते हैं देखो लाल मीरची, बेसवाळ, निमक चावल चून आदि सैकड़ों में त्रस जीव पैदा हो जाते हैं।

दयजीजी ! श्वे० स्था० जैन साधु तो बाईस ही अभक्ष क्या सैकड़ों अभक्ष पदार्थ मानते हैं संसार में भोज्य पदार्थ तो बहुत कम हैं और जो खाये नहीं जायं वे सब अभक्ष ही हैं यहां इसका विस्तृत वर्णन कर पाठकों का समय व्यय करना नहीं चाहते। पाठक स्वयं सोचें।

आगे चल उसी पैरे में दयजीजी लिखते हैं कि —

"ढूं ढिये कहते हैं कि द्विदल में हमको प्रत्यक्ष जीव बतलाओ।

दयजीजी ! यह लिखना भी तुम्हारा हठाग्रह का है। क्योंकि द्विदल में तत्काल जीव होते ही नहीं तो फिर कौन श्वे० स्था० जैन साधु द्विदल में जीव देखने के लिये कहते होंगे ? केवल ईर्षा वश तुमने मूर्खों की तरह चाहे जो लिख मारने और पोथे रंगने में ही बहादुरी समझ रक्खी है ?

दयजीजी फिर तुम कहते हो कि जैसे पाँच स्थावर सम्मुर्छिम, निगोद आदि में जीव असंख्य व अनन्त ज्ञानियों ने कहे पर दृष्टिगोचर नहीं होते केवल ज्ञानी के वचन पर श्रद्धा रख कर माने जाते हैं वैसी —— [illegible] में भी ज्ञानी महाराज ने जीव उत्पन्न होने का कहा है।

दण्डीजी का यह लिखना भी ऐसा ही थोथा और नापायेदार जैसे ऊधर में हवा के बल से इधर उधर उड़ती रहने वाली चीजें क्योंकि श्वे० स्था० जैन साधु लोग अपने निमित्त का भोजन तक तब किसी के यहां से ग्रहण नहीं करते, तब उनके निमित्त बनाये हुए मकान में वे कैसे ठहर सकेंगे। विचारवान् पाठक इस का स्वयं विचार करें। अजी दण्डीजी! उस मकान में जाकर ठहरना, तो बड़े ही दुर की बात है। अभी तो उस में पैर तक धरना भी हम पाप, मूलक समझते है।

दण्डीजी फिर आगे लिखते है "स्थानक में ठहरने के कारण से ही 'स्थानक वासी' नाम प्रसिद्ध है"।

दण्डीजी! क्यों ईर्षा, द्वेष और अज्ञानता को बगल में दबाये बैठे हैं। निकाल फेंकिये न इनको परे। आपके पास तो आपका आज के लाठी-राज का जबर्दस्त अस्त्र दण्डा ही काफी है। दण्डी जी! आप तो शायद किसी स्थान में न रह कर ऊधर में ही लटके रहते होंगे? या संसार के छोटे से छोटे प्राणी से लगा कर बड़े से बड़े प्राणी तक, सभी जगल में ही जाकर डेरा डालते होंगे? नहीं भूल गया। वे आकाश में इधर से उधर और उधर से इधर दण्ड पेलते रहते होंगे। महाराज! किसी प्राथमिक पाठशाला में जाकर 'स्थान' शब्द का अर्थ पहिले पढ लीजिये। तब उसकी नुक्ताचीनी कीजियेगा। सभी प्राणी किसी न किसी स्थान ही में रहते हैं और रहते आये है। आज आपके सामने यह कोई हौवा-कौवा की अनो
फिर चाहे वे प्राणी स्थलचारी हों या जलचारी,
ही में घूमने वाले क्यों न हों। सब के रहने केलिये
स्थान ही होता है। फिर 'स्थानक वासी' होने

द्वारिका नगरी के बाहर श्री कृष्णचन्द्र महाराज के बाग में बागवान की आज्ञा से श्री नेमिनाथ भगवान् ठहरे थे। तत्पश्चात् उन्हीं नेमिनाथ भगवान् के शिष्यों में से छः अणगार दो २ के तीन सिंघाड़े से श्रीकृष्ण चन्द्र महाराज की माता देवकी रानी के यहां बहरने गये थे। अब इसकी लोगों में बुद्धि हो तो सोचें कि श्रीकृष्णचन्द्र महाराज की आज्ञा होती तो छः अणगार देवकीजी के यहां बहरने क्यों जाते? ऐसे बहुत से प्रमाण उपलब्ध हैं। इससे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि मकान वाले की तथा मकान जिसके सुपुर्दगी में हो उसकी आज्ञा लेकर मकान में मुनि ठहर सकते हैं। और जिसकी आज्ञा है उसके घर का अन्न तक श्वे० स्था० जैन साधु उस मकान में ठहरेंगे, भोजन आदि नहीं लेंगे।

पुनः देखिये दयाजी! जैसे कि तुम्हारे गुरु कृपाचन्द्र सूरि ने सं० १९७८ का चातुर्मास ... केशरीसिंहजी के मकान में किया था, और तुम ... के ... कहिये

मकान था ...

... तुमने ... क्यों

क्योंकि ...

... नौकर ...

से ...

है ...

में ठहरे या किसी कोठी में, अथवा किसी पुस्तकालय में ठहरे या हवेली में, तब भी उन्हें किसी भी स्थान में ठहरने के कारण, ही; "स्थानकवासी" नाम से पुकारेंगे।

आगे दण्डीजी, लिखते है "ढूंढिये साधू लहसुन, कांदे, आदि अनन्त-काय, कन्दमूलों की चटनी वगैरह लेकर, खाते है।"

दण्डीजी ? पहले किसी सद्गुरु के पास जाकर शास्त्र अध्ययन तो कीजिये! आपके धर्म की आमना को तो समझिये!! देखिये; श्वे० स्था० साधु सचित कन्द मूल की शाक व चटनी आदि न कभी लेते ही है, और न कभी खाते ही हैं। परन्तु हां, अचित्त कन्द मूल की शाक वगैरह को ग्रहण करने में साधुओं के लिये कोई दोष नहीं है। जैसा कि दशवैकालिक सूत्र के तृतीय अध्याय की सातवीं गाथा के तीसरे चरण में स्वयं वीर भगवान् ने फर्माया है:—

"कन्दमूले य सच्चित्ते।"

अर्थात्—यदि कन्दमूल का सर्वथा जैनागमों में कहीं निषेध होता तो यहाँ "सच्चित्त" शब्द का उल्लेख कभी भी देखने को नहीं मिलता। इस से मन्द से मन्द बुद्धिवाला भी यह समझ जायगा, कि जैन-साधुओं को, अचित कन्दमूल की शाक चटनी आदि को खाने में शास्त्रीय रूप से कोई भी आपत्ति अथवा दोष नहीं है। फिर, सचित्त शाक आदि को तो छूने तक में श्वे० स्था० जैन साधू लोग पाप देखते हैं। तब उनका खाना तो कोसों दूर की बात रही।

आगे चल कर, दण्डीजी ने अपने ही प्रस्तुत विषय के विरोध में, कन्द मूल की शाक साधुओं को लेने की बात भी कहदी है, कि "साधु को यदि कभी कन्दमूल की कोई शाक, आदि मिल

की यह सहरा अकले श्वे० स्था० जैन साधुओं ही के सिर माथों पर क्यों लादा जाता है ! यह भी स्थानकवासी कहिय न ! वृथाजी ! बात तो दर असल में यह है कि हम लोग साधु होकर भी, बस्तियों में रहने का कारण ही स्थानकवासी कहलाते हैं !

। वृथाजी ! यदि इतने पर भी आपके दिल की तसल्ली न हुई हो तो जरा हमारे साथ आप और आइए ! और देखिए ! 'मन्दिरमार्गी' कहने से क्या एकमात्र सदा और सब काल एक मात्र मन्दिर ही का मार्ग आप लेते हैं ? क्या ये हमेशा मन्दिर ही की ओर जाते रहते हैं ! यदि ऐसा नहीं है तो फिर आप सरीखे कलाँय (!) पण्डित, अपनी इस दुर्लभ विद्या के बल उन्हें मन्दिर मार्गी क्यों कहते हैं ? यदि आप कहेंगे कि सब दुनियाँ ही उन्हें ऐसा कहती है। तब हम आप से फिर पूछेंगे कि महाराज ! दुनियाँ कह ही है, तो कहने दीजिये। फिर यदि आप दुनियाँ की बात कहने लगेंगे तो बताईये कि आपने दुनियाँ को अपने पीछे चलाने के लिये पुस्तक धारण किया है, या दुनियाँ के पीछे पीछे चलने के लिये आप ने अपने हाथों सोटा पकड़ा है। कहिये आप इन दोनों में से कौन है ? कोई भी मनुष्य साधु है, या असाधु अथवा गृहस्थी है या सन्यासी, उसके कामों ही से अकसर पहचान लिया जाता है। या यूँ कहो कि मनुष्य के कामों पर उसके अन्तःकरण, बुद्धि, व्यवसाय सुसंगति या कुसंगति की छाप लगी रहती है। तब तो आपकी सर्वेव करणी, और तरह तरह के कामों का अवलोकन कर, आपके न बताने पर भी, संसार आप की जाति को अवश्य पहचान जायगा, कि आप संसार के पीछे हैं, या संसार आपका अनुयायी है। अस्तु। जैसे यहाँ मार्गी का अर्थ, मार्ग में जाने वाला, या राहगीर या मुसाफिर न करते हुये, मतावलम्बी या सं प्रदाया, नुयायी ऐसा करेंगे वैसे ही श्वे० स्था० जैन साधु, चाहे कभी बाग

एक मात्र उनका चिर संघाती है । परन्तु आप अपनी इस बेलगाम जबान को ज़रा सँभाल कर बोल निकालने को कह दीजिये, नहीं तो इसके पापों का प्रायश्चित्त बेचारे सिर को करना पड़ता है । जैसे, किसी ने कहा भी है:--

ज़बान ! बड़ी तू बावरी, उगले झाड़-- झँखार ।
तू तो भीतर बैठती, जूते खाय कपार ॥

आगे चलकर, दण्डीजी इसी परिलेख में फिर यों लिखते हैं—
"ढूंढिये साधु तो प्रायः-करके माहेश्वरी, अग्रवाल, दिगम्बर, श्रावगी, आदि उत्तम जाति के बहोत घरों को बीच में छोड़कर, अपने परिचयवाले रागी भक्तों के घरों में गोचरी जाते हैं ।

प्रिय पाठको ! दण्डीजी का यह लिखना कितना असंगत और असत्य है । यह बात तो प्राय आप में से प्रत्यक सज्जन भली प्रकार जानता होगा, कि श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन साधु प्रत्येक उत्तम आचरण वाले के घर गोचरी के लिये जाते हैं । चाहे फिर वह घर किसी श्रावक, या ओसवाल का हो या माहेश्वरी या ब्राह्मण का हो, अथवा अग्रवाल, पोरवाल क्षत्रिय, आदिमें से किसीका भी न क्यों हो । इतने पर भी दण्डीजी को यदि हमारे कथन का विश्वास न बधे, तो हाथ कगन को आरसी की आवश्यकता ही क्या है । वे स्वय ही जाकर किसी तटस्थ के तीसरे आदमी से क्यों नहीं पूछ लेते । हमारा तो विश्वास है, आप दण्ड-धारियों को वहां से सीधा यही उत्तर मिलेगा कि श्वे० स्था० साधुओं को तो हमने उन घरों में अनेकों बार गोचरी के लिए जाते आते देखा है, पर इन

जावे, तो उसको निर्ममत्वभाव से ग्रहण करने में उसे कोई दोष नहीं है।"

धन्य दयाजी! जिधर भी चाहें, अपने स्वार्थ-को सिद्ध करने के लिये घूम आइये। चारों कोनों में आप ही का साम्राज्य है। आपतो आंखें बन्द करके जो चाहें सो उन वैद्यों की भाँति लूट किया करते आइये जो "मरणासन्न रोगियों" तक से धन छीन झपट कर उससे अपनी जेबों को लबालब भरना ही अपना कर्तव्य और एक मात्र अपना धर्म समझते हैं; और जिनका सिद्धान्त रहता है कि—

यस्य कस्य तरोर्मूलं येन केन समन्वितम्।
यस्मै कस्मै प्रदातव्यं यद्वा तद्वा भविष्यति॥

फिर, आपके यह काम, चाहे आपके भक्तों के लिए विघातक ही क्यों न हो!

पाठकों! मनुष्य अपनी ठगबाज़ी को सिद्ध करने के लिये सत्य को चाहे जितना भी छिपाना चाहे पर सत्य स्वयं प्रकाशमान् है लाख सर पटकने पर भी वह कभी छिप नहीं सकता। कभी न कभी, चाहे बरबसी, पुरुष अपने ही कारनामों द्वारा सत्य को उगल ही देता है। इसी प्रकार दयाजी ने पहले तो अचित कन्दमूल की शाक आदि का साधुओं के लिये निषेध बतला दिया, और फिर बेचारे दो कदम भी मुश्किल से चल पाये होंगे, कि झट अपने जबड़े की बेलगाम ज़बान को इधर से उधर उलट पलट कर उसी से कह दिया कि "लेने में कोई दोष नहीं।" दयाजी! साधु लोग तो किसी भी वस्तु के लेने देने में निर्ममत्व भाव ही को सदा और सर्वदा काम में लाते रहते हैं। जगत् के सम्पूर्ण कामों में यह निर्ममत्व भाव ही

एक मात्र उनका चिर संघाती है । परन्तु आप अपनी इन बेलगाम जबान को ज़रा सँभाल कर बोल निकालने को कह दीजिये; नहीं तो इसके पापों का प्रायश्चित्त बेचारे सिर को करना पडता है । जैसे, किसी ने कहा भी है:—

ज़बान । बड़ी तू बावरी, उगले झाड़- झँखार ।
तू तो भीतर बैठती; जूते खाय कपार ॥

आगे चलकर, दण्डीजी इसी परिलेख में फिर यों लिखते हैं— "ढूंढिये साधु तो प्रायः-करके माहेश्वरी, अग्रवाल, दिगम्बर, श्रावगी, आदि उत्तम जाति के बहोत घरों को बीच में छोडकर, अपने परिचयवाले रागी भक्तों के घरों में गोचरी जाते हैं ।

प्रिय पाठकों ! दण्डीजी का यह लिखना कितना असंगत और असत्य है । यह बात तो प्राय. आप में से प्रत्यक सज्जन भली प्रकार जानता होगा, कि श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन साधु प्रत्येक उत्तम आचरण वाले के घर गोचरी के लिये जाते हैं । चाहे फिर वह घर किसी श्रावक, या ओसवाल का हो या माहेश्वरी या ब्राह्मण का हो, अथवा अग्रवाल, पोरवाल क्षत्रिय, आदिमें से किसीका भी न क्यों हो । इतने पर भी दण्डीजी को यदि हमारे कथन का विश्वास न बधे, तो हाथ कंगन को आरसी की आवश्यकता ही क्या है । वे स्वयं ही जाकर किसी तटस्थ के तीसरे आदमी से क्यों नहीं पूछ लेते । हमारा तो विश्वास है, आप दण्ड-धारियों को वहां से सीधा यही उत्तर मिलेगा कि श्वे० स्था० साधुओं को तो हमने उन घरों में अनेकों बार गोचरी के लिए जाते आते देखा है, पर इन

अत्यन्त ही संयोजना-नामक दोष का सेवन करने के लिए कन्दमूल की शाक व बड़सुन, कांदे की चटनी आदि लेते हैं। यह सर्वथा जिनाज्ञा के विरुद्ध है।"

दण्डीजी को कुछ ही दूर पीछे तो, हम इस बात के लिये दो दो बातें कह ही आये हैं। परन्तु अभी उनका मनस्तोष, जैसा कि उनकी बार बार की पारवाशत कह रही है, नहीं हुआ। यही जान कर दो चार बातें उन्हें इनके सम्बन्ध में और नम्रता-पूर्वक कहे देते हैं। दण्डीजी! क्यों दुरंगी बातें चलाते हैं! महाराज! श्वे० स्था० साधु न तो स्वाद ही के लिये खाते हैं, न शरीर की पुष्टि का ही कोई ध्यान कभी उन्हें है, और न रोटियों के अधिक खाने ही के लिए वे अचित्त कन्दमूल की शाक व चटनी आदि का व्यवहार करते हैं। तब अपने शेष कर्मों का क्षय करने के लिए, जीवन के शेष दिनों में सूखी-सूखी समय पर जैसी भी मिलजायँ, रोटियों का संयम पूर्वक सेवन कर अपनी जबान के स्वाद के लिए संयोजना दोष की प्राप्ति उन्हें कैसे हो सकती है? विचार-वान पाठक इस बात को जरा ध्यान देकर सोचें समझें।

दण्डीजी की अक्ल उनके सोटे से शायद हटिया गई है, या उनके दण्डे के डरसे डर कर कहीं बकरी चरने चली गई है! अभी अभी थोड़ा ही पहले, दण्डीजी ने कन्दमूल की शाक आदि का ग्रहण करना साधुओं के लिए सदोष बतलाया था फिर लेना बतला दिया और अब तो लेना फिर जिनाज्ञा के सर्वथा विरुद्ध कह दिया। ये बिना पेंदे के लोटे की भाँति जिधर बस उधर हम' के सिद्धान्तानुसार पल पल में बिल-पुल होने की बातें कैसी! फिर अचित्त कन्दमूल की शाक, आदि को ग्रहण करने के लिए, साधुओं को भी भगवान् ने किसी भी सूत्र में निषेध नहीं बतलाया है

है। परन्तु दण्डी लोग, बिना ही किसी कारण के, अपनी दुराग्रह बुद्धि से पकडी हुई टेक को न छोड़ने के लिए भगवदाज्ञा के विरुद्ध, अपने मन-घडन्त विचारों को, भोली-भाली जनता के सामने, उसे अपनी माया-जाल में फंसाने के लिए, रखते रहते हैं और यों वे अचित कन्दमूल की शाक आदि को न ग्रहण करने की बात कह कर, उत्सूत्र—प्ररूपणा के दोष से भी दूषित होते जारहे हैं।

दण्डीजी को रह रह कर याद आती जाती है इस वार वे कहते हैं, "कन्दमूल की वस्तु लेकर, खाने का ठहराना अनन्त जीवों की घात का हेतु है।"

दण्डीजी का यह लिखना भी सिवाय उनके भव-भ्रमण के हेतु के और कुछ नहीं। क्यों कि, जब अचित कन्दमूल की शाक लेना अनन्त जीवों की घात का हेतु है, तब फिर वीर प्रभू ने सचित कन्दमूलों की बनी वस्तुओं ही का कोरा निषेध क्यों किया? यदि बात ऐसा ही थी, तो क्यों नहीं, उन्होंने सचित और अचित दोनों ही प्रकार के कन्दमूलों को वस्तुओं की निषेध कर दिया होता? स्व-रचित सूत्रों में केवल सचित कन्दमूलों की वस्तुओं हीं का निषेध किया, पर अचित का ज़रा भी कहीं कोई ज़िक्र तक नहीं किया। दण्डीजी! उठाइये दंडा! और कह दीजिये! कि "साधारण मनुष्यों की भांति भगवान् भी इस समय, इस जगह, भारी भूल कर गये!" यह तो आपके घर-आँगन ही की बात है। दण्डीजी! क्यों नहीं चुप्पी साधकर बैठे रहते! क्यों, जगत् को अपनी जड़ता का परिचय कराते हैं।

आगे चलते चलते, दण्डीजी फिर कह बैठते हैं, "ढूंढ़ियों के श्रावक समाज में प्रायः सैकड़ा पचानवे टका लोग कन्दमूल

जाने वाले होंगे और संवेगी श्रावकों ने भाया। सैकड़ों पचासवें टका लोगों ने कन्दमूल खाना छोड़ दिया।"

दयाजी! कहना भूल गये। कोई बात नहीं! चमड़े की समान ही तो बात में है। बात बिलकुल भी ही होगई। पर लाचारी है! आप भी क्या करें। जबान से एक बार निकल गई, सो निकल गई! इतने पर भी यदि आप न मानें और न सुनें, तो प्रमाण देकर बतलावें। अच्छा लीजिये! मिसाल सही! दयाजी! श्वे० स्था० जैन श्रावक समाज में साधु लोग हर जगह और हर समय, उन्हें इस बात का और सकारण समझाकर ठोस उपदेश देते रहते हैं, कि अकेले कन्दमूल ही क्या, हरियाली मात्र श्रावकों को कभी न खाना चाहिये। आदि आदि। जिसका प्रत्यक्ष और स्थायी परिणाम यह होता है, कि रोज के ऐसे उपदेशों की रगड़पट्टी से, ऊपर कही हुई बातों के दोषों का जीता जागता रूप उनके सामने खड़ा होता है। तब तो कन्दमूल ही क्या, सब्जी मात्र का अधिकांश श्रावक भाई सदा के लिये त्याग कर देते हैं। इसी प्रकार, रात्रि भोजन के विषय में भी ये बहुतायत से त्याग करते देखे, सुने जाते हैं। रात्रि भोजन के सम्बन्ध में श्वे० स्था० जैन श्रावक बन्धुओं का त्याग तो सराहनीय और उनके धर्मानुसार है ही, इस में कोई विशेष बात नहीं है। परन्तु उनके अन्यमती बन्धुओं का त्याग भी, इस सम्बन्ध में किसी कदर कम नहीं है, जो समय समय पर श्वे० स्था० जैन साधुओं के सदुपदेशों से लाभ उठाते रहते हैं। अब विपरीत इस के आप संवेगियों के श्रावक समाज में आप जैसी लोग जहां तहां भाया उन्हें यही उपदेश देते देखे और सुने जाते हैं, कि 'अमुक जगह अमुक मन्दिर गिर गया है, उसका जीर्णोद्धार करो; अमुक मन्दिर की पूजा की व्यवस्था ठीक नहीं होने से वहां के पुजारी ने

मन्दिर की अमुक अमुक चीज़ें गायब करदीं; उसकी पूजा का प्रवन्ध ठीक करो; सघ निकालो, यात्रा करो, आज की रथ—यात्रा में श्रावकों की ये ये बातें बडी ही दिलचस्पी की थी, आदि।"

पाठक-गण। अब न्याय-पूर्वक आप ही इस बात का निर्णय करें, कि श्वे० स्था० श्रावक-समाजमें कन्दमूल और सब्ज़ी के सेवक अधिक पाये जावेंगे, या सवेगियों का श्रावक समाज कन्दमूल और सब्ज़ी का अधिकाश रूप में उपयोग करते आपको मिलेगा?

दण्डीजी! यदि इच्छा हो तो हमारे प्रमाण की एक वानगी और भी चख लीजिये! देखिये, कुछ समय के पहले जब हम एक बार गोडवाड़ में विचरण कर रहे थे, तब वहां के अनेकों पुजेरों अर्थात् मन्दिरमार्गियों गृहस्थियों के घरों मे जहां तहां कांदे के भरे हुए टोकरों को हमने देखा था। उन मे से कई भाईयों को, समय असमय हमने वहुत कुछ कहा सुना भी था। कांदा का व्यापार न करने और उन का अपने भोजन आदि में व्यवहार न करने के लिए भी हमने उन्हें समझाया था परन्तु हमारे प्रश्न के उत्तर में उन्होंने नम्रता-पूर्वक यह कहा कि "महाराज मालवे के गृहस्थ यदि इनका उपयोग करना छोडदें, तो हम भी इनके व्यवहार का सदा के लिए वहिष्कार करदें।" इससे यही सिद्ध हुआ, कि सवेगियों के श्रावक समाज में कन्दमूल का जोरों से प्रचार और प्रसार है।

दण्डीजी! श्वे० स्था० जैन साधु लोग तो, समय पर जैसा तैसा सूखा-लूका आहार उन्हें मिल जाता है, उसी को खाकर अपने संयम का निर्वाह करते रहते हैं। यदि यह भी उन्हें न मिल पाया, तो केवल भुने हुए चने और गेंहू या जौ के आटे ही को पानी में घोलकर पी लेते हैं और उसी से अपने पेट की आग को शान्त कर देते है। इस बात को प्रायः सभी लोग जानते है। यदि यह भी कहीं नसीव न हो, तो उपवास व्रत आदि ही के ऊपर सन्तोष कर जाते

खाने वाले होंगे और संवेगी श्रावकों में प्रायः सैकड़ों पचासों टुका लोगों ने कन्दमूल खाना छोड़ दिया।"

दयाजी! कहना भूलगये। कोई बात नहीं! चमड़े की क़यास ही तो जगत में है। बात पिसफुस भी भी होगई। पर लाचारी है! आप भी क्या करें! ज़बान से एक बार निकल गई, सो निकल गई! इतने पर भी यदि आप न माने और न सुने, तो प्रमाण देकर बतलाव। अच्छा लीजिये प्रमाण सही, दयाजी! श्वे० स्था० जैन श्रावक समाज में साधु लोग हर जगह और हर समय, उन्हें इस बात का और सकारण सप्रमाण ठोंस उपदेश देते रहते हैं, कि अनन्त कन्दमूल ही क्या, हरियाली मात्र श्रावक को कभी न खाना चाहिये, आदि आदि। जिसका प्रत्यक्ष और स्थायी परिणाम यह होता है, कि रोज़ के ऐसे उपदेशों की रगड़पट्टी से, ऊपर कही हुए बातों के त्यागों का जीता जागता रूप उनके सामने आखड़ा होता है। तब तो कन्दमूल ही क्या, सब्जी मात्र का अधिकांश श्रावक भाई सदा के लिये त्याग कर देते हैं। इसी प्रकार, रात्रि भोजन के विषय में भी य बहुतायत से त्याग करते देखे, सुने जाते हैं। रात्रि भोजन के सम्बन्ध में श्वे० स्था० जैन श्रावक बन्धुओं का त्याग तो सराहनीय और उनके धर्मानुसार है ही, इस में कोई विचित्र बात नहीं है। परन्तु उनसे अन्यमती बन्धुओं का त्याग भी, इस सम्बन्ध में किसी क़दर कम नहीं है, जो समय समय पर श्वे० स्था० जैन साधुओं के सदुपदेशों से लाभ उठाते रहते हैं। अब विपरीत इस के आप संवेगियों के श्रावक समाज में आप दयाजी लोग जहां तहां प्रायः उन्हें यही उपदेश देते देखे और सुने जाते हैं, कि "अमुक जगह अमुक मन्दिर गिर गया है, उसका जीर्णोद्धार करो; फलाँ मन्दिर की पूजा की व्यवस्था ठीक नहीं होने से वहां के पुजारी से

विरोधी विशेषणों का एक ही स्थान पर एकीकरण करना, यह आपकी जड़ बुद्धि का—प्रदर्शन मात्र है। क्यों कि, जो निर्दोष है, वह हिंसा का हेतु एवं अधर्म को बढ़ाने वाला कभी नहीं हो सकता है। इसी तरह जिससे हिंसा का हेतु एव अधर्म होता हो, वह भी निर्दोष कभी नहीं ठहर सकता। उसे तो सामान्य, बुद्धिवाला भी सदोषी ही कहेगा। और उस सदोषी को, श्वे० स्था० जैन साधु, भगवदाज्ञानुसार लेना तो बहुत ही परे की बात रही, उसे कभी छूते तक नहीं हैं।

दण्डीजी का कहना है, कि" ढूंढ़िये साधु साध्वी अपनी पूजा मानता के लिए, अपने भक्तों को अपने दर्शन कराने के लिए, खास युक्ति-पूवक बैठकर, अपना फोटो उतरवाते हैं।"

दण्डीजी! आपका यह कथन भी ऊपर से नीचे तक एक दम झूठ से भरा हुआ है। क्योंकि, कोई भी श्वे० स्था० जैन साधु अपनी पूजा अथवा मानता के लिए व किसी को दर्शन कराने के लिये अपना फोटो नहीं खिंचवाते हैं। वे इस बात का घोर विरोध भी करते हैं। उनका तो कहना है, कि नकली वस्तु को कभी भी असली मानने वाला न तो साधु ही हो सकता है और न वह गृहस्थी श्रावक ही है। देखिये, पुस्तकों में यत्र तत्र जो चित्र दिये जाते हैं, उन में से प्रत्येक के ऊपर, अकसर "चित्र, परिचय के लिए है, वन्दने के लिए नहीं है, ऐसा लिखा रहता है। पाठकों! फोटो की पूजा, मानना आदि के लिए एक ओर तो, हमारे ये सिद्धान्त, और दूसरी ओर, दण्डीजी के द्वारा व्यर्थ के छिद्रान्वेषण की ऐसी कुतर्कनाएं! कहिये, यह उनकी धृष्टता नहीं तो और क्या है? चित्र या फोटो आदि के ऊपर, जो बात हमारी ओर से छपी या लिखी रहती है, बस, वही एक मात्र उत्तर संवेगियों की ओर के फ़ोटो सम्बन्धी सभी प्रश्नों को, निरा निर्मूल कर देने वाला है।

है। किन्तु यह निर्विवाद रूप से जग—जाहिर बात है कि अपनी जबान के स्वाद के लिए भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन व कभी भूल कर भी नहीं करते और नहीं करेंगे। विपरीत इसके, इन ढूंढियों को देखिये। ये अपनी ज़बान के स्वाद के लिए अचित्त कन्दमूल की शाक एवं चूरमा बाटी आदि जहाँ तक हो, गरमा गरम स्वाहा करते हैं। और यों वे आधाकर्मी अन्न को ग्रहण करने वाले बनते हैं। कहिये पाठको! स्वाद के लोभी अब आप इन संवेगियों को कहेंगे या श्वे० स्था० जैन साधुओं को?

देखिये, इन्हीं लोगों के माननीय ग्रन्थ 'सज्झाय माला' में जो भीमसिंह माणक के द्वारा प्रकाशित हुई है उस के भाग १ पृष्ठ-१६७ पर ऐसा कहा गया है, कि—

पैंडा देखी पड्यो काड़े, पड्या मान करावें।
साता म्हारे साथ करीने, पूरी ने वोसिरावे॥ १॥

प्रिय पाठको! ऐसे आधाकर्मी आहार का प्रायः नित्य सेवन कर, इन ढूंढियों की, फिर भी निर्दोष बन रहने की डींग मारना, कितना भयंकर पाप है! ढूंढीजी न बेचारी भोली भाली जनता को तो अपने चक्करों का चूस देना सीख ही लिया है; अब मालूम होता है अपने इसके के बल, ये भगवान् के न्याय पर भी, हाथा पाई करने की उधेड़-बुन में लगे हैं। ढूंढीजी आगे लिखते हैं कि'' कोई वस्तु निर्दोष होवे, तो भी लोक शंका करे और जीव हिंसा का हेतु होवे, अपयश बढ़े तो ऐसी वस्तु साधुको नहीं लेना चाहिये।"

पाठको! इन ढूंढियों की निरक्षरता को तो ज़रा देखिये! *जो वस्तु निर्दोष है, उस के साथ 'हिंसा का हेतु एवं अपयश वर्द्ध'* ऐसे विशेषण ये लगा रहे हैं! परन्तु ढूंढीजी! विद्वद्—संसार भली प्रकार जानता है, कि ऐसी दो असमेल बातों का, ऐसे दो

ाना की अपेक्षा सौवां भाग भी नहीं होता होगा। कहिये दण्डीजी! जिससे अपकाय आदि छः काय की जीवों की असंख्य रूप से हिंसा होती है, या नहीं? अतः पहले आप लोग अपनी ओर से फोटो नहीं उतरवाने की उद्घोषणा कर दें कि आगे अब कभी फोटो नहीं खिंचवाये जायंगे। पहले होना था सो हो गया, ऐसा प्रतिज्ञा-पत्र प्रकट हो जाने पर ही हम आपकी बात को सच्चा समझेंगे।

आगे चल कर दण्डीजी अपनी तान यों अलापते हैं—"ढूँढ़िये व तेरहपन्थी साधु अपने अपने भक्तों की चौमासे की विनन्ती फागण चैत वैशाख में पहले से ही मान लेते हैं, जिससे वे लोग साधु के ठहरने के और साधु की वन्दना करने को, आने वालों को ठहरने के लिए मकानों को लीपना, झाड़ना, पीताई करवाना, वगैरह से सफाई करवाने में त्रस स्थावर अनन्त जीवों की हिंसा करते हैं।"

दण्डीजी का यह लिखना भी उनकी समझ का दिवालियापन है। क्योंकि श्वे० स्था० जैन साधु के निमित्त कोई भी गृहस्थ मकान का लीपना, पोतना झाड़ना वगैरह कभी नहीं करते। जो भी ये काम किये जाते हैं व गृहस्थ अपने निजू सुविधा आदि के लिए करते या करवाते हैं। इस में गृहस्थियों का भी यही उद्देश्य रहता है कि सामायिक प्रतिक्रमण पोषध आदि सुगमता के साथ वहाँ बैठकर कर सकें और भली भाँति व्याख्यान आदि भी श्रवण करना बन जाय पर दण्डीजी! श्वे० स्था० श्रावक मकान आदि के झाड़ने पोतने आदि को भी पाप ही समझते हैं। उनके यहाँ यह अन्धेर नहीं कि वे इस आरम्भादि कार्य को धर्म ही समझ बैठते हों। वे तो पाप को पाप और धर्म को धर्म ही समझेंगे। दण्डीजी! "दीया तले अन्धेरा" वाले न्याय से आपने औरों का घर तो देख लिया अब जरा आप अपने घर के घर और अपने अनुयायियों को भी तो देख जाइए। देखिये आप स्वयं व आपके अनुयायी गृहस्थ वरघोड़ा, उजमणा, जलयात्रा, तीर्थयात्रा, उपाधान, पूजन आदि

आगे, उसी परिलेख में दयाजी जी फिर यों लिखते हैं:—"उस फोटो को धोने में और साफ करने में बहुत जल ढुलता है, जिससे अपकाय आदि छः काय के असंख्य अनन्त जीवों की हिंसा होती है।"

दयाजीजी का धोपड़ा तो खड़ा हुआ है, परन्तु उस पर अपने गुरु के एक दो हाथ फिरा कर, अनोखे अनोखे अनेकों प्रकार के राग, उसमें से निकालना तो वे खूब ही जानते हैं। दयाजी लोग, अपने सैकड़ों फोटो समय समय पर उतरवाते रहते हैं इस बात के लिये क्या मन्दिरमार्गी और क्या अन्यमती बन्धु सभी लोग भलीभांति जानते हैं। तब क्या दयाजियों के फोटो धोकर साफ करने में पानी नहीं ढुलता होगा? दयाजीजी! हम लोग तो कभी भूल चूक कर भी अपना फोटो निकलवाने के लिए कभी नहीं बैठते। पर स्वाभाविक रूप से-बैठे रहने पर कभी कोई, श्रावक या अन्यमती कोई भाई अथवा तक आगे पीछे से आकर और हम किसी ध्यान में लगे हों तब किसी के द्वारा एक दम एक सम्बन्ध के भीतर ही अन्दर, उस स्थान से जहां से हम तो उसे नहीं देख सकते; पर वह हमें देख सकता हो वहाँ से कोई फोटो खिंचवा ले तो इसमें हमारा कोई पाप ही क्या है? फिर हमारे उन इस भांति लिए हुए फोटो से कोई भी विचारशील पाठक अच्छी तरह यह अनुमान लगा सकता है कि सचेत होकर बैठने और फोटो निकलवाने में तथा इस प्रकार अज्ञानता में लिये हुए फोटो में आकाश पाताल का अन्तर होता है। फिर भी यदि (हमारे फोटो की अवश्य प्रतिष्ठा हो यह दावा होगी नहीं) आपके द्वारा सचेत बैठकर निकलवाये हुए फोटो को सदैव प्रधानता प्रतिष्ठित निकलेगी। आगे हमारी ओर से ध्वजा या चित्र या मूर्ति आदि को मानने के लिए सदैव मनाई रहती है। इतने पर भी किसी श्रावक से अज्ञानमयी भक्ति के वश हो पाप हो भी जाय वह आपके फोटो के निमित्त होते हुए

कोइक पुस्तक मँगववा, लखाव वा हो ! सूत्र बे चार ।
ईष्टम पीष्टम आशरो, खरच हो ! थसे आठ दश हजार ॥४॥
चोमासानी पेदाश ने गृहस्थी पासे हो ! राखे ज्ञानने नाम ।
अथवा राखे बेंक मां व्याजे हो ! फरे केई दाम ॥५॥

दण्डीजी ! धर्म ध्यान त्याग, तपस्या, व दर्शन आदिके लिए आए हुए श्रावक लोगों को जिमाने आदि में गृहस्थ अपना कर्तव्य अपने घर की शोभा और अतिथि सत्कार समझते हैं। फिर लोक व्यवहार भी तो कोई चीज़ होती है ! जब घर आये हुए अन्यमती भाई का सम्मान भी यथा शक्ति प्रत्येक गृहस्थ करता ही है, तब स्वधर्मी बन्धु का सत्कार तो वह खुशी खुशी करेहीगा ! इसमें कहने की बात ही कौन सी है। इसमें साधु के निमित्त कोई तनिक भी दोषापत्ति न है ही और न हो ही सकती है। इसका खुलासा यथा स्थान पहले ही कर चुके हैं।

दण्डी जी ! दीक्षा–महोत्सव में जो लोग आते हैं, उनके लिए भोजन बनवा कर उन्हें खिलाना इसे गृहस्थ अपना कर्त्तव्य अपने घर और ग्राम की शोभा और मनुष्य प्रति मनुष्य का प्रेम समझते है। परन्तु हां, वरघोड़ा निकालने में वाजित्र बजवाने में, भोजन आदि के बनवाने में आदि आदि कामों में त्रस स्थावर की जो हिंसा होती है, उसको वे हिंसा ही समझते हैं। साथ ही लोक में रह कर लोकाचार और लोकरंजन करना भी तो वे भलीभांति जानते हैं। तब क्या, गृहस्थ लोग सर्व त्यागी हैं, जो वे ऐसा नहीं कर सकते ?

आगे कुछ ही क़दम के चल चुकने पर दण्डीजी फिर लिखते हैं—"ढूंढिये, श्रावक श्राविका मुँह बांध कर स्थानक में इकट्ठे हो कर दया पालते हैं। उस रोज घर में बनी हुई ताज़ी रसोई नहीं

में अनेकों घड़े गरम पानी करने में, मन्दिर बनवाने में, उसके सदा स्वछने व पोंछन में, मूर्तियों पर फूलों के चढ़ाने में, भाँति भाँति की वनस्पति के चढ़ाने में, इसी प्रकार अन्याय अनेकों कार्यों में न मालूम कितने असंख्य त्रस और अनन्त काय जीवों की प्रत्यक्ष हिंसा करने में सहयोग देते हैं और उसमें भी विशेषता यह है कि प्रत्येक ऊपर के कामों में आप धर्म हो के नाम का ढिंढोरा पीटते हैं। दफ्तरीजी ! कहीं पता भी है इस अन्धेर का !

अब चातुर्मास की चर्चा के सम्बन्ध में भी दो बातें सुन लीजिये दफ्तरीजी ! चैत्र वैसाख के प्रथम चौमासे की विनन्ती तो स्था० जैन साधु लोग मान लेंगे परन्तु किसी बात का प्रबन्ध करने करवाने को मुंह से एक बात भी कभी न बोलेंगे। परन्तु अब आप अपना हिसाब देखिये ! दफ्तरी लोग तो पुढतियों से यहाँ तक सौदा पक्का करवाते हैं कि हमारे चौमासे में अमुक खर्च अमुक रूप से होगा। इतने के लिए तो फलाँ गाँव के भाई कह गये हैं। कुछ उनसे अधिक खर्च की हिम्मत करो तो चातुर्मास की विनन्ती के लिए फिर हम विचार करें। अगर विश्वास न हो तो उठाइये।दफ्तरी लोगों के द्वारा विरचित "नेमजरनामा" और खोलिये उसकी तेरहवीं ढाल ! पन्द्रह से लगा के बीसवीं तक गाथा को पढ़ जाइये !

'चौमासा नी विनती, सुर्ते हो ! मोसे स्वामी एम ।
आगेवान कहो कोण छे, बन्दोबस्त हो सर्वनो केम ॥१॥
अमुक गामना श्रावका कही गया हो वे चार हजार ।
कांईक अधिकुं तमे करो, पीछी पखउणना हो ! आवा समाचार
पदवी देवा पन्यासजी, करावचा हो ! साधु ने योग ।
सहिमा पधिहत चार छे, पे थण हो ! मजुरीमा लोक ॥२॥

कोइक पुस्तक मँगववा, लखावे वा हो ! सूत्र बे चार ।
ईष्टम पीष्टम आशरो खरच हो ! थसे आठ दश हजार ॥४॥
चोमासानी पेदाश ने गृहस्थी पासे हो ! राखे ज्ञानने नाम ।
अथवा राखे बेंक मां व्याजे हो ! फरे केई दाम ॥५॥

दण्डीजी ! धर्म ध्यान त्याग, तपस्या, व दर्शन आदि के लिए आए हुए श्रावक लोगों को जिमाने आदि में गृहस्थ अपना कर्तव्य अपने घर की शोभा और अतिथि सत्कार समझते हैं। फिर लोक व्यवहार भी तो कोई चीज़ होती है ! जब घर आये हुए अन्यमती भाई का सम्मान भी यथा शक्ति प्रत्येक गृहस्थ करता ही है, तब स्वधर्मी बन्धु का सत्कार तो वह खुशी खुशी करेहीगा ! इसमें कहने की बात ही कौन सी है। इसमें साधु के निमित्त कोई तनिक भी दोषापत्ति न है ही और न हो ही सकती है। इसका खुलासा यथा स्थान पहले ही कर चुके हैं।

दण्डी जी ! दीक्षा-महोत्सव में जो लोग आते हैं, उनके लिए भोजन बनवा कर उन्हें खिलाना इसे गृहस्थ अपना कर्त्तव्य अपने घर और ग्राम की शोभा और मनुष्य प्रति मनुष्य का प्रेम समझते हैं। परन्तु हां, वरघोड़ा निकालने में वाजित्र बजवाने में, भोजन आदि के बनवाने में आदि आदि कामों में त्रस स्थावर की जो हिंसा होती है, उसको वे हिंसा ही समझते हैं। साथ ही लोक में रह कर लोकाचार और लोकरंजन करना भी तो वे भलीभांति जानते हैं। तब क्या, गृहस्थ लोग सर्व त्यागी है, जो वे ऐसा नहीं कर सकते ?

आगे कुछ ही क़दम के चल चुकने पर दण्डीजी फिर लिखते हैं--"ढूंढ़िये, श्रावक श्राविका मुंह बांध कर स्थानक में इकट्ठे हो कर दया पालते हैं। उस रोज घर में बनी हुई ताज़ी रसोई नहीं

दुकानों से थोडी थोडी सात्विक भोजन सम्बन्धी सामग्री मगाकर खा लेते है। और यों उस दिन छः काय जीवों की विराधना नहीं करते; सब्जी हरे धान, बनस्पति आदि को नहीं छूते; स्त्री-संयोग नहीं करते। ऐसी संयमशीला.दया-वृत्ति को भी दण्डीजी हिंसा ही का हेतु समझते है। यह उनकी दोष-दृष्टि का फल और बुद्धि का भ्रम मात्र है।

आगे चल कर दण्डीजी मिठाई का जिक्र छेड़ते है, कि "हलवाई के भट्टीखाने में दिन में भी कीड़े, मकोडे, व रात्रि को पतिंगे वग़ैरह अनेक त्रस जीवों की हिंसा होती है, अयत्ना से अन-छना बासी जल व अनेकों रोज का जीवाकुल मैदा, खांड के रस वग़ैरह में मक्खी, मच्छर आदि की हिंसा का पार नहीं है, तथा, मलीनता, अशुद्धि तो प्रत्यक्ष ही हैं। इन सब प्रकार की हिंसाओं का पार नहीं है। ये सब हिंसाएँ मिठाई मोल मगवा कर खाने-वाले को लगती है।"

पाठको! जब मिठाई इस प्रकार अपार हिंसा-जन्य है, तो फिर गृहस्थों के घरों से, हलवाइयों के यहा से मोल लाये हुए घेवर गुलाब-जामुन, पेड़े कलाकन्द. आदि को दण्डी लोग क्यों बहर कर ले जाते है और खाते रहते है? क्या, तब दण्डीजी की मान्यता के अनुसार, ऐसी हिंसा जनक मिठाई को लीलते समय स्वयं दण्डी जी तो उस अपार हिंसा के बोध से अवश्य ही बाल बाल बचे रहते होंगे? शायद, उन मिठाईयों पर भी उनके दण्डे की कोई धाक जा बैठती होगी? नहीं नहीं! कहना भूल गये! कदाचित् आपके चटोरेपन की चाट में, आपकी अपनी मानी हुई बातों में से यह बात भी, "मीठा मीठा गप गप। और कड़ुवा कड़ुवा थू थू!!" के न्यायानुसार, आपके खुद के लिए लागू न पडती होगी! दण्डीजी क्यों मुँह खोल कर अपनी कलई खुलवाते हैं! क्यों, अपना मान पानी के मान बिकाते है।

आगे दयडीजी लिखते हैं "ढूंढियों के कोई साधु या साध्वी जब काल कर जाते हैं तब उनके मुर्दे को एक दो रोज तक रख छोड़ते हैं। आस पास के गाँव वालों को पत्र या तार आदि से सूचना देकर मुर्दे के दर्शन के लिए लोगों को बुलवाते हैं।"

दयडीजी का यह फर्माना भी उनकी गहरी अज्ञानता का प्रदर्शन मात्र कराने वाला है। क्योंकि एक या दो रोज तक मुर्दे को रख छोड़ने की जो बात वे कहते हैं तो ऐसा करने से सब से पहले तो उसमें बदबू फूटने लग जाती है, दूसरे उसमें चींटी मकोड़े आदि कीड़े लगते हैं, तीसरे उससे मनुष्यों का कोई मतलब भी तो सिद्ध नहीं होता पुन जीव का आह्वान भी तो नहीं कर सकते आदि। के हमने तो स्थे० स्था० साधु के किसी भी मुर्दे को ऐसे पड़ा रहते न किसी ने कभी देखा, और न कभी सुना ही पाया है। वह मुर्दे के दर्शनार्थ भी बाहर गाँव से लोगों को कभी न बुलवाया देखा, हो और न बुलवाते ही कोई हैं। और जो लोग तार या पत्र द्वारा बाहर गाँवों से आते हैं, वे लोग भी केवल उस समय और उन जीवित अवस्था वाले साधु साध्वियों के दर्शनार्थ आते हैं जो सन्थारा किए रहते हैं। ऐसी सा उस गाँव के अन्य श्रावकों के साथ मिल कर किसी साधु या साध्वी शव को बैठी सम पत्र और बाजे गाजों के साथ अग्नि संस्कार के ले जाते हैं। लोक-व्यवहार करने और लोकाचार में अपने बड़े की मृत्यु के पीछे भी उनके साथ प्रेम प्रकट करने आदि लौकिक रस्म को पूरी करने के बहाने वे लोग ऐसा करते हैं, परन्तु यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये, कि वे कभी भूल कर भी उसमें धर्म की गंध देखेंगे। स्थे० स्था० समाज के अनेकों विवेकशील सद्गृहस्थ तो साधु आदि के शव के दर्शन तक के लिए कभी घर से बाहर नहीं निकलते। क्योंकि वे विवेकशील पुरुष मूर्ति, फोटो, चित्र, चरण पादुका साधु का शव आदि समस्त वस्तुओं को एकसा समझते हैं। इतने पर

भी यदि कोई पुरुष लोकोत्तर धर्म बुद्धि की भावना हृदय में रख कर उनके दर्शन आदि करता हो तो उसे केवल 'महामिथ्यात्वी' ही कहना चाहिये।

कुछ ही नीचे चल करे दण्डीजी उसी परिलेख में कहते हैं— 'फोटो के दर्शन कर गुरु-गुण गाते हैं। यह बात अहमदाबाद से सं० १९२२ के पौष महीने में स्थानक वासी जैन नामक ढूंढियों के खास मासिक पत्र के पृष्ठ ३१ में प्रकट हुई है।

दण्डीजी! ऊपर की रचना से जान पड़ता है, दण्डी लोगों के किन्हीं ईर्षालु, अनुयायियों ने अपने हृदय के कमीनेपन का परिचय देते हुए किसी तुच्छ स्वार्थ सिद्धि के लिए ऐसा छपवा दिया होगा। क्योंकि अखबारों का काम तो किसी भी सच्चे या झूठे सम्वादों को केवल उन के सम्बाददाताओं के ऊपर विश्वास रख करके छापना मात्र होता है। ऐसी जगह यदि सम्पादक लोग यदा कदा अचानक और बारीक छान बीन अपने पत्रों के समाचारों की नहीं करते, तो जहां कुछ ही दिनों के लिए सम्वाददाताओं के दोनों हाथ घी में रहते हैं। वहाँ उन पत्रों के जीवन में प्रलयकाल की आँधी का असर होना आरम्भ हो जाता है। इस बात के प्रमाण में अनेकों पुरावे पेश किये जा सकते हैं। अस्तु। विवेकशील श्वे० स्था० गृहस्थ तो लोकोत्तर धर्म-बुध्दि की भावना से कभी भी किसी फोटो के दर्शन आदि नहीं करते हैं। और न कभी उनके आगे बैठ कर किसी प्रकार का गुरु-गुण कीर्तन ही वे करते देखे सुने जाते हैं

आगे चल कर उसी लेख-खण्ड में फिर दण्डीजी यों कहते हैं— "ढूंढिये साधुओंकी यादगारी के लिए छत्री घूमटी निर्वाण-मन्दिर आदि बने हुए मोजूद हैं। तथा दर्शन के लिए चरण, स्थापना व फोटो की स्थापना भी की है।)"

"परन्तु अब भी कोफी समय है। सुबह का भूला यदि शाम को भी अपने घर आजावे तो भी खैर कराही है। अतः यदि आगे के लिए हिंसा से आप बचना चाहें, तो गृहस्थियों को सूचित कर दें, कि कोई भी गृहस्थ भाव से हम संवेगियों को हलवाइयों के यहाँ की मिठाई कभी भूल कर भी न वहरावें नहीं देवें।" परन्तु जब तक जनाब आप अपनी जुबान के चटोरेपन से हलवाइयों के यहाँ की मिठाई खाना नहीं छोड़ेंगे, वहाँ तक खुद आप अपनी ही मान्यता के अनुसार अपार हिंसा से अपनी आत्मा को अधिकाधिक मैली करते रहेंगे।

आगे चल कर फिर दयालजी उसी लेख-वाक्य में यों फरमाते हैं—"सामायिक आदि व्रत वाले श्रावकों को हलवाई के यहाँ की वस्तुएँ मोल मंगवाकर खाना यह अनन्त हिंसा का पाप जिनाज्ञा की विराधना और मिथ्यात्व को बढ़ाने वाला, होने से सर्वथा अनुचित है।"

वाह! दयालजी ने यह खूब ही विचार कर लिखा! जब सामायिक आदि व्रत करने वालों को हलवाई के यहाँ की मिठाई का सेवन करने में अनन्त हिंसा का पाप माना गया है, तब तो क्या दयाले लोग, जो कि पंच महाव्रतों का पालन करने का कहने वाले हैं उनको मिठाई के खाने में अनन्त हिंसा का पाप नहीं लगता होगा? क्या, इन दयाली लोगों को पाप नहीं लगने की कहीं से कोई छूट हो गई है? और अनन्त हिंसा के पाप का सारा भार, इन सामायिक आदि व्रतों के करने वालों ही के सिर जो यदा कदा मिठाई का सेवन करते हैं, आ पड़ा है? वाह इन ढूंढियों की सूझ तो बड़ी ही अनोखी है। अपना खुद का बचाव करना तो खूब ही जानते हैं! पर समझदार लोग, ढूंढियों की इस चालाकी भरी चाल को समझने में जरा भी देर नहीं करेंगे।

दण्डीजी! आप ही के कथनानुसार सामायिक आदि व्रत रखने वालों को जब हलवाई के यहाँ की मिठाई के खाने में अनन्त हिंसा का पाप होता है, तब आप खुद और, आप की जाति के अन्य दण्डी लोग भी तो, मस्त होकर मिठाई का मज़ा चखते हैं। इतने पर भी अपने आपको पापों से मुक्त समझ बैठने की यह ऐंठ? दण्डीजी! ईश्वर को साक्षी करके और न्याय-बुद्धि से खुद आप ही, कहिए कि व्रतादि रखने वाले उन श्रावकों से भी कई गुना अधिक बढ़कर अनन्त हिंसा के पक्के हकदार बनने, जिनाज्ञा की विराधना करने और मिथ्यात्व के बढ़ाने आदि कार्यों मे आप दण्डियों का हाथ, निर्विवाद रूप से, ज़ोरों के साथ है या नहीं?

दण्डीजी का वह लेख-खण्ड अभी तक खतम नहीं होने पाया। उसमें कुछ ही नीचे चलकर, आप फिर यों अपनी सम्मति प्रकट करते हैं—"कई व्रतधारी श्रावक, श्राविका चौदह नियमों को धारण करने वाले और अन्य भी विवेक वाले बहुत से श्रावक हलवाई के यहाँ की मिठाई को खाने का त्याग करते हैं।"

दण्डीजी! अपनी जिह्वा को वश मे करने के लिए मीठा-मात्र को खाने के त्याग तो, गृहस्थों में कोई बिरले ही कभी कभी करते हैं, परन्तु दण्डीजी! आप मिठाई को इस प्रकार हिंसा-जनक समझ कर फिर भी उसका त्याग नहीं करते, यह बात, मिठाई के प्रति आपके कितने भारी ममत्व और मूर्खता को प्रकट करने वाली है। भला, जब श्रावक और श्राविकाएँ, जो साधारण व्रतों को धारण करने वाले होते हैं, वे तक मिठाई का त्याग कर देते हैं, तब आप दण्डी लोग सर्व महाव्रतों के धारी होने का संसार में दावा करने वाले होकर भी मिठाई खाने की ममता नहीं छोड़ेंगे, मिठाई खाने का त्याग नहीं करते, यही एक बड़े भारी अफसोस की बात है।

आगे स्वामीजी लिखते हैं “ढूंढियों के कोई साधु या साध्वी जब काल कर जाते हैं तब उनके मुर्दे को एक दो रोज तक रख छोड़ते हैं। आस पास के गाँव वालों को पत्र या तार आदि से सूचना देकर मुर्दे के दर्शन के लिए लोगों को बुलवाते हैं।”

स्वामीजी का यह फर्माना भी उनकी गहरी अज्ञानता का प्रदर्शन मात्र करानेवाला है। क्योंकि एक या दो रोज तक मुर्दे को रख छोड़ने की जो बात वे कहते हैं सो ऐसा करने से सब से पहले तो उसमें बदबू छूटने लग जाती है, दूसरे उसमें चींटी मकोड़े आदि कीड़े आते हैं, तीसरे उससे मनुष्यों का कोई मतलब भी तो सिद्ध नहीं होता पुन जीव का आह्वान भी तो नहीं कर सकते आदि। इसलिये तो स्थे० स्था० साधु के किसी भी मुर्दे को ऐसे पड़ा रहते न किसी ने कभी देखा, और न कभी सुना ही पाया है। उस मुर्दे के दर्शनार्थ भी बाहर गाँव से लोगों को कभी न बुलवाते देखा, हो और न बुलवाते ही कोई हैं। और जो लोग तार या पत्र द्वारा बाहर गाँवों से आते हैं, वे लोग भी केवल उस समय और उन जीवित अवस्था वाले साधु व साध्वियों के दर्शनार्थ आते हैं जो चम्पावास किये रहते हैं। यही लोग उस गाँव वाले अन्य लोगों के साथ मिल कर उस साधु या साध्वी के शव को ऐसी सज धज और गाजे बाजे के साथ अग्नि संस्कार के लिये ले जाते हैं। शोक-प्रदर्शन करने और लोकाचार में अपने बड़े की मृत्यु के पीछे भी उनके साथ प्रेम प्रकट करने आदि लौकिक रीति को पूर्ण करने के इरादों से लोग ऐसा करते हैं, परन्तु हाँ यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये, कि वे कभी भूल कर भी इसमें धर्म की भावना रक्खेंगे। स्थे० स्था० समाज के अनुयायी विवेकवान सद्गृहस्थ तो वे साधु आदि के शव के दर्शन तक के लिए कभी घर से बाहर न निकलेंगे। क्योंकि वे विवेकशील पुरुष मूर्ति, कोई चित्र अथवा साधु का शव आदि समस्त वस्तुओं को एकसा समझते हैं। इनमें धर्म

दण्डीजी पन्नवणाजी सूत्रमें मनुष्य के मुर्दे में दोही घड़ी के बाद असंख्य जीव पैदा हो जाना लिखा है। यह विषय सूत्रीय होने के कारण क्या आप और क्या हम सभी को सब काल में और सर्वत्र माननीय है फिर जैसे श्वे० स्था० साधु शव के लिए लोग चकडोल बनाने और शव को श्मशान तक ले जाने में लगता है। हमें एक बात की और याद आ गई। अन्तिम समय में अकसर देखा सुना जाता है कि जो जिस अवस्था और धार्मिक आत्मा का व्यक्ति होता है उसे ठीक वैसे ही कपड़े नये खरीद कर पहनाये जाते हैं। उस समय पास के रक्खे हुए घरेलू कपड़ों को चाहे वह फिर एक दम नये ही क्यों न हों नहीं पहनाते। हम श्वे० स्था० साधु-समाज के लोगों में कभी कभी इसके विपरीत भी देखा जाता है। परन्तु दण्डीजी! यह सब होते हुए भी हमारे यहाँ तो शव को सफेद वस्त्र ही पहनाते हैं और आपके यहां दण्डी लोगों के शवों को पीला वस्त्र पहनाया जाता है। अस्तु हमारे ऊपर के अनुभव के अनुसार पीला वस्त्र तत्काल ही रंगा कर लाने में, कुछ न कुछ समय तो अवश्य लग ही जावेगा। यों अन्तिम क्रिया में श्वे० स्था० साधुओं की अपेक्षा आप दण्डियों ही की अन्तिम क्रिया में अधिक समय लग जाता है। फिर दोनों के यहाँ दाग भी तो लकड़ी ही से दिया जाता है, जलदाग या भूमि दाग तो होता ही नहीं है। इसमें भी कुछ समय लग ही जाता होगा। इन सब रस्मों को पूरा करने में दो घड़ी से तो कितना ही समय अधिक लग जाता है। तब दण्डीजी कहिये श्वे० स्था० साधु ही के शव में दो घड़ी के बाद असंख्य जीव उत्पन्न हो जावेंगे या उससे भी अधिक दण्डियों के शव में?

दण्डीजी! जैसी हिंसा पीतवसनधारी दण्डी साधु के मुर्दे को जलाने में होती है, वैसे ही श्वे० स्था० साधु के मुर्दे में भी होती है समान क्रिया का कार्य होते हुए भी एक प्रश्न घड़ना, यह केवल 'बैठा

— दृण्डीजी ! मालूम होता है आपके पीले चश्मों ने लोकाशाहकी आँखों पर भी अपना असर डाल दिया है। आपकी आँखों को अब पीलिया रोग हो गया है। इसलिये कोई सफेद वस्तु भी पीली और सत्य व सीधी सादी बात भी असत्य व टेढ़ी-मेढ़ी नजर आने लगी है, शीघ्र ही किसी सद्वैद्य की शरण लेकर अञ्जन-औषध से आराम पा जायेंगे। दृण्डीजी ! किसी गाँवमें छत्री, घूमटी आदि बनायी गई तो इस से क्या आपका मन्दिर बनाना सिद्ध हो गया, कदापि नहीं। क्योंकि स्थे० स्था० विवेकवान् गृहस्थ पहिले तो धन और धर्म को गंवाने वाला ऐसा कोई विपरीत कार्य कभी भूल कर करेंगे ही नहीं। और यदि किसी ने अज्ञानवश ममत्व भाव के आवेश में आकर ऐसा विपरीत काम करभी लिया तो वह केवल उसकी लोकाचार बुद्धिका काम है। इतने पर भी वह स्तूप उस व्यक्ति विशेष का एक स्मारक मात्र ही समझा जाता है। वहाँ जाकर कोई भी स्थे० स्था० गृहस्थ लोकोत्तर धर्म बुद्धि से सिर नहीं झुकाता। ऐसा ही भावना आपकी तथा आपके अनुयायी भाइयों की मन्दिर उनकी मूर्तियों, फोटो, आदि के सम्बन्ध में जिस दिन हो जायगी उसी दिन जगत् आपको कुछ रास्ते पर आया देख पावेगा। इसके पहले आपके सुधार की कोई आशा नहीं की जा सकती।

दृण्डीजी ने फोटो के दर्शन के लिए लिखकर व्यर्थ ही में अपना सिर खपाया और अपनी अविवेकता प्रकट की। क्योंकि लौकिक बुद्धि से दर्शन शब्द का अर्थ देखना होता है। अतः जिसके आँखें होंगी वह अवश्य फोटो ही क्या जगत की सम्पूर्ण वस्तुओं का जो दिख सकती हैं देखेगा या उनका दर्शन करेगा। फिर फोटो ही के दर्शन करने या देखने में ऐसी कौनसी आश्चर्यजनक और बड़ी बात समा गई थी जिसे लिख कर दृण्डीजी अपने मन पण्डित बन बैठे हैं। और इसी में अपनी सिद्धि समझ गये। यह दण्डियों की निरी मूर्खता नहीं तो और क्या है ?

दण्डीजी पन्नवणाजी सूत्रमें मनुष्य के मुर्दे में दोही घड़ी के बाद असंख्य जीव पैदा हो जाना लिखा है। यह विषय सूत्रीय होने के कारण क्या आप और क्या हम सभी को सब काल में और सर्वत्र माननीय है फिर जैसे श्वे० स्था० साधु शव के लिए लोग चकडोल बनाने और शव को श्मशान तक ले जाने में लगता है। हमें एक बात की और याद आ गई। अन्तिम समय में अकसर देखा सुना जाता है कि जो जिस अवस्था और धार्मिक आस्था का व्यक्ति होता है उसे ठीक वैसे ही कपड़े नये खरीद कर पहनाये जाते हैं। उस समय पास के रक्खे हुए घरेलू कपड़ों को चाहे वह फिर एक दम नये ही क्यों न हों नहीं पहनाते। हम श्वे० स्था० साधु-समाज के लोगों में कभी कभी इसके विपरीत भी देखा जाता है। परन्तु दण्डीजी! यह सब होते हुए भी हमारे यहाँ तो शव को सफेद वस्त्र ही पहनाते हैं और आपके यहां दण्डी लोगों के शवों को पीला वस्त्र पहनाया जाता है। अस्तु हमारे ऊपर के अनुभव के अनुसार पीला वस्त्र तत्काल ही रंगा कर लाने में, कुछ न कुछ समय तो अवश्य लग ही जावेगा। यों अन्तिम क्रिया में श्वे० स्था० साधुओं की अपेक्षा आप दण्डियों ही की अन्तिम क्रिया में अधिक समय लग जाता है। फिर दोनों के यहाँ दाग भी तो लकड़ी ही से दिया जाता है, जलदाग या भूमि दाग तो होता ही नहीं है। इसमें भी कुछ समय लग ही जाता होगा। इन सब रस्मों को पूरा करने में दो घड़ी से तो कितना ही समय अधिक लग जाता है। तब दण्डीजी कहिये श्वे० स्था० साधु ही के शव में दो घड़ी के बाद असंख्य जीव उत्पन्न हो जावेंगे या उससे भी अधिक दण्डियों के शव में?

दण्डीजी! जैसी हिंसा पीतवसनधारी दण्डी साधु के मुर्दे को जलाने में होती है, वैसे ही श्वे० स्था० साधु के मुर्दे में भी होती है समान क्रिया का कार्य होते हुए भी एक प्रश्न घड़ना, यह केवल "बैठा

बोलिया क्यों करें, इधर के तोले उधर करें" इस कथन के अनुसार आप की युक्ति के निकम्मेपन को जग-जाहिर करना मात्र है।

आगे चल कर कुछ ही नीचे उतर कर दयाजी फिर यहाँ कहते हैं—"दया भगवती के नाम से स्नान करने का त्याग करवाते हैं जिससे हैं किये साधु साध्वी का मुर्दा जला कर मुद्दत है किये श्रावक स्नान नहीं करते।

दयाजी! आँखों की गवाही देकर किसी बात को, कलम के पर चलाते हैं लिखते हैं या आँखें बन्द करके मुँह से टटोलते हुए ही जो कुछ भी मन में आता है, लिख मारते हैं? महाराज! मुर्दा जला कर स्नान नहीं करना, ऐसा त्याग तो किसी भी श्वे० स्था० साधु ने कभी भी किसी श्रावक को नहीं कराया। यही क्यों? श्वे० स्था० के किसी माननीय ग्रन्थ में भी तो ऐसा वक्तव्य कहीं नहीं पाया जाता। फिर मन-घड़न्त विचारों को यों ही झूठ-मूठ ही शब्दों का रूप देना। कागज़ों को व्यर्थ के और थोथे तथा गन्दे विचारों में यों ही काला पीला करना! यह तो मानो इन बैठे-ठाले व्यक्तियों को इनके पेट की ज्वाला का बुझाने वाला एक व्यवसाय ही मिल गया है! दयाजी! बलिहारी है, आपकी ऐसी समझ की!

पाठको! यह तो प्रकट ही है कि मरने बाद सूतक लगता है लोग इसीसे स्नान करते हैं। फिर दण्डी लोगों में से किसी का स्वर्गवास हो जाने पर उसी आश्रम में रहने वाले अन्य दण्डी लोग स्नान करते हैं या नहीं? यदि कहोगे कि हाँ करते हैं, महाव्रतधारी ब्रह्मचारी साधुओं को स्नान करना, सूत्रों के द्वारा जहाँ तहाँ भगवन्तों ने निषेध बताया है। देखिये दशवैकालिक सूत्र के छटे अध्याय की तिरसठवीं गाथा में यों लिखा हुआ है—

तम्हा ते न सिणायन्ति सीएण उसिणेण वा।
जावज्जीव वयं घोरं, असिणाणमहिट्ठगा ॥६३॥

यदि इसी आज्ञा के अनुसार दण्डी लोग स्नान न करते हों तो क्या उनको सूतक नहीं लगता है ? हृदय पर हाथ रख कर कुछ समय तक इस प्रहेलिका को सुलझाने का ज़रा प्रयत्न करें।

कुछ ही आगे बढ़, स्नान नहीं करने की बाबत दण्डीजी ने इन्द्र का प्रसंग उस लेख-खण्ड में चलाया है। यहां भी दण्डीजी की समझ का साठियाना ही हो सकता है। क्योंकि जब दण्डी लोगों की ओर के इस सम्बन्ध के सम्पूर्ण प्रश्नों का निराकरण यथोचित रूप से श्वे० स्था० साधुओं की ओर से एक ही उत्तर के द्वारा कर दिया जाता है कि "मुर्दे को जलाने के बाद स्नान नहीं करने के के त्याग से हमारी ओर से न तो हमने कभी करवाये ही हैं और न कोई कभी करवाता ही है" तब भी बार बार पीसे हुए ही को पीसते रहना, यह उनकी मूढ़ता नहीं तो और क्या हो सकती है।

दण्डीजी लिखते हैं 'इन्द्रादिदेव भगवान् के शरीर का अग्नि-सस्कार खास धर्म-बुद्धि से भगवान् की भक्ति के लिए कहते हैं।

दण्डीजी को ऐसे ठोस गपोड़ें मारना तो खूब ही आता है, पाठको! अग्नि-संस्कार करने कराने में भला कौनसा धर्म है। अग्निके आरम्भ में छः ही कायाके त्रस और स्थावर जीवों का नाश होता है इतने पर भी उसे धर्म का रूप देना यही तो बड़ा भारी अधर्म है। पाठको! अग्नि-संस्कार का मुख्य उद्देश्य तो केवल इतना ही है कि जो उष्णता-प्रधान देश होते हैं उनमें कोई वस्तु बहुत जल्दी सड़ घुस जाती है और तब वह अपने आस पास के हवा और पानी को भी खराब कर देती है परन्तु उसके यहां जला देने पर उसके रोगोत्पादक परमाणुओं का भी नाश हो जाता है। यही कारण है कि हमारे देश में जहां खेती बहुतायत से होती है गर्मी की भी काफी ज़रूरत पड़ती है, और गर्मी उसी क़दर पड़ती

भी है। तब यहां के पूर्वजों ने खास कर हवा, पानी को साफ़ रखने और रोग के परमाणुओं को हवा आदि के साथ प्रसरण न होने देने के लिए ही अग्नि संस्कार की परिपाटी चलाई है परन्तु जिन देशों में ईंधन की न्यूनता है और जहां जलाने के साधनों का सुभीता भी नहीं होता, वहाँ अक्सर मुर्दे को ज़मीन में गाड़ने की प्रथा का प्रचलन है। परन्तु कहीं कहीं गर्म देशों में जहाँ जल की विपुलता होती है, जल दागनी दिया जाता है। अस्तु बस इसे० जा० और पूजेरों में यही तो अन्तर होता है। हिंसा को भी धर्म का जामा पहना दिया जाय यह बड़े ही अचम्भे की बात है। तो फिर क्या बकरे आदि के वध करने में भी धर्म ही कहना होगा।

आगे चल कर दफ्तरीजी उसी परिच्छेद में कहते हैं—"इन्द्रादि देव यहां से नन्दीश्वर द्वीप में जाकर वहां के शाश्वत चैत्यों (सिद्धायतनों) में शाश्वत जिन प्रतिमा को वन्दन पूजन, भक्ति भाव से जिन गुण गाते हुए अट्ठाई महोत्सव करते हैं। यह अधिकार खास ढूंढियों के छपवाये जम्बूद्वीप पन्नत्ति सूत्र में ऋषभदेव भगवान के निर्वाण अधिकार जीवाभिगम् सूत्र में तथा स्थानांग सूत्र के चौथे ठाणे में नन्दीश्वर। द्वीप के वर्णन अधिकार में खुलासा लिखा है।"

पाठको! दफ्तरीजी के कुछ स्वभाव ही में एक हेर फेर हो गया है कि जो भी कुछ ये कहते सुनते या लिखते लिखवाते हैं, सबके तले में मारे की बुद्धि की परछाईं पराये की उधार ली हुई बुद्धि शक्ति की झाँई भली भाँति झलकती रहती है। परन्तु पाठक दफ्तरीजी बनाते हैं। निज व दूसरे के पुर्दमनीय पक्ष की। दफ्तरीजी इस जगह भारी भूल कर जाते हैं। वर्ना यह भली भाँति जान लेना चाहिए कि जगत् में काठी कांच का मूल्य मोती माणी जनता में

तभी तक माना और वह मानती है। जब तक कि उन्हें अपने शरीर का जरा भी कुछ मोह रहता है परन्तु ज्यों ही उन्हें सद्गुरुओं की कृपा से आत्म-बल का परिचय प्राप्त हो जाता है। उन्हें उनके आत्मबल का अनुभव करा दिया जाता है। उसी समय बड़े से बड़े लाठीराज की दुर्दमनीय शक्ति निरी निकम्मी और न कुछ बन जाती है। उस दम उसकी सारी हस्ती मिट्टी में मिल जाती है। पाठको! यों दण्डीजी परायों की बुद्धि के मोहताज़ बन कर 'बात का बतगड़' और राई का पर्वत' बना डालते हैं। ऐसा करना दण्डीजी के लिए स्वाभाविक ही है। क्यों कि बात जब तक एक मुख रहती है उसका क्षेत्रफल छोटा होता है फिर जैसे २ वह एकसे दूसरे, दूसरे से, तीसरे और इसी प्रकार आगे आगे वह अनेकों मुखों को अपना क्षेत्र बनाती जाती है, उसका क्षेत्रफल भी उसी क़दर स्वभावतः बढ़ ही जाता है। और अन्त में कोई बात जो पहले राईके रूपमें थी कुछ दिन बाद पर्वत बन लोगोंकी आंखों आड़ करने लगती है। पाठको! दण्डीजी यहां भी वही बात का बतंगड़ पैदा कर रहे हैं जिन आर्ष ग्रन्थों का दण्डीजी ने ऊपर नाम लिया है और उनकी ओट में लुक छिप कर जिन अनेकों अनोखी बातों को मदारी के पिटारे की भांति कन्धे पर लटकाई हुई अपनी झोली में से बाहर निकाल जनता के सम्मुख रक्खी हैं उनमें से सिर्फ महोत्सव मनाते हैं इसके अतिरिक्त और किसी भी बात का जरा भी कोई उल्लेख नहीं पाया जाता। दण्डीजी! स्वावलम्बन का मार्ग पकड़िये। यों भाड़े की बुद्धि से कब तक जीवन बसर करते रहेंगे।

दण्डीजी लिखते हैं कि "ढूंढिये श्रावक कहें कि हम लोग यह सब कार्य संसार खाते करते हैं किन्तु धर्म-बुद्धि से नहीं?

दण्डीजी का यह लिखना भी अज्ञान से परिपूर्ण है? क्योंकि श्वे० स्था० श्रावक जिस किसी कार्य के करने में जो हिंसा होती है

देते थे हिंसा ही कह कर पुकारते थे। हिंसा को धर्म से भूल कर भी न कहेंगे। फिर मिथ्यात्वी का लक्षण भी तो यही है कि वह हिंसा का धर्म और धर्म को हिंसाके रूपमें देखता व कहता है। तपस्यों के महोत्सव में मण्डपादि का बनवाना ध्वजा पताकादि का लगवाना साधुओं का फोटो उतरवाना, मूर्ति का महोत्सव मनाना उनके निमित्त छत्री या घूमटी आदि स्मारक बनवाना आदि आदि कार्य जो श्रावकवर्ग करते हैं। इनके लिए श्वे० स्था० साधुओं के द्वारा उन्हें कभी भी कोई उपदेश नहीं दिया जाता। श्रावकवर्ग जो भी कुछ इस विषय में करते करवाते हैं केवल अपने नगर की शोभा और लोकाचार को देख कर ही लोक-रंजन के लिए करते करवाते हैं परन्तु इन कामों के मूल में जहां भी कहीं हिंसा होती है, उसे वे सदा हिंसा ही कहते हैं। धर्म बुद्धि लाकर मोहवश हिंसा में धर्म है। ऐसा वे कभी भूले भटके भी नहीं कहते। बालक बालिकाओं को विद्यादान, अनाथों के रक्षण का प्रबन्ध पिंजरापोल की रोक और उनकी रक्षा, गरीबों को निर्दय कर्मदान, बीड़ी सिगरेट की बन्दी मादक द्रव्यों का कुमार निषेध, सत्य शील, संयम दया अहिंसा इन अंगों का एकान्त पालन आदिके सम्बन्ध में तो स्वयं श्वे० स्था० साधु तो आगे होकर इन्हें यथोचित रूप से उपदेश देते हैं। क्योंकि इन कामों की नींवपर परोपकार का महल चुना जाता है। हमारा अनुमान है कि इस बात में तो क्या दूसरी लोगों के अनुयायी और क्या श्वे० स्था० श्रावक सभी एक मत होंगे। यही क्यों? सारे संसार के लोगों की इन कामों के करने कराने में सम्मति होगी और ऐसे परोपकारी कार्यों को करने कराने के लिए किसी को बाध्य भी नहीं किया जाता है परन्तु हां समय समय पर इनकी शुभ मात्र शिक्षा दी जाती है। फिर लोग स्वयं ही इनके द्वारा अपने और अपने राष्ट्र का अकथनीय हित देख इन कामों की शुरूआत करने में

लगते हैं। अपना अपना हित सभी को प्यारा है। जब उन्हें इन कामों में लोक और परलोक के सुधार का पता लग जाता है तब इनके याद दिलाने की भी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। वे उस समय अपने आप होते रहते हैं।

श्रावक लोग, धर्म किया करने के लिए उपाश्रय बनवाने में शास्त्रों के छपवाने में दीक्षा महोत्सव के भोजनादि का आरम्भ करने आदि में ऐसे अन्य कई कामों में जो हिंसा होती है उसे हिंसा ही कहते हैं। श्रावकवर्ग सम्पूर्ण प्रकार की हिंसाओं से बच नहीं सकते, क्योंकि वे संसारी हैं। इसी लिए अहिंसा के पुजारी महात्मा गांधीजी भी कहते हैं—"संसारी मनुष्य एक क्षण भी बाह्य हिंसा किये बिना जी नहीं सकता। खाते-पीते, उठते-बैठते, तमाम क्रियाओं में इच्छा से या अनिच्छा से कुछ न कुछ हिंसा वह करता ही रहता है। यदि इस हिंसा से छूट जाने का वह महान् प्रयास करता हो उसकी भावना में केवल अनुकम्पा हो, वह सूक्ष्म जन्तु का भी नाश न चाहता हो और उसे बचाने का यथाशक्ति प्रयास करता हो तो समझना चाहिए कि वह अहिंसा का पुजारी है। उसकी प्रवृत्ति में निरन्तर संयम की वृद्धि होती रहेगी, उसकी करुणा निरन्तर बढ़ती रहेगी। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि कोई भी देहधारी बाह्य हिंसा से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता।

आत्म-कथा (गान्धीजी) भाग २

अस्तु, हिंसा को वह श्वे० स्था० श्रावक वर्ग त्रिकाल में भी धर्म नहीं कहेगा। इसी तरह से दण्डी लोग भी मन्दिरों के बनवाने मूर्त्तियों पर फूल वनस्पति आदि के चढ़ाने, मूर्त्तियों के लिए गर्म जल करने, जल-यात्रा कर घोड़ा तीर्थयात्रा, ढोलकी, झांझर, ताली आदि के बजाने, आरती करने, आदि आदि कामों में जो

हिंसा होती है उसको यदि हिंसा कह दें और यदि स्वीकार करलें तो फिर हमारा तो पूरा पूरा विश्वास है कि इसके प्रेम समाज में वाद विवाद का कोई प्रश्न नाम को भी खड़ा नहीं रह सकता। यह तो हुई वाद विवाद के मिटने मिटाने की बात। और लाखों करोड़ों की सम्पत्ति जो आज व्यय ही धर्मके नाम पर पापों को कमाने के लिए बरबादी पानी के रूप में हो रही है, यह सब आप तो फ़ौरन। यों सहज ही में रक्षित धर्म और धनका अनेकों का य भलो में सदुपयोग हो सकता है, जिससे लोक सच्चे और परलोक बने। इतना ही नहीं, आज अनकों प्रकार के धर्मों के नाम पर जो पापों का सुसगठ प्रवाह बह चला है जिससे हमारा नाश तो अवश्यम्भावी है ही, परन्तु हमारी सन्तानों के जीवन और कर्म की जड़ भी खोखली होती जा रही है, उन्हें भी इसके द्वारा सहज ही में सुमार्ग पर लाया जा सकता है। क्या हम आशा करें, कि जो भावनाशील मनुष्य जीव और सत्य प्रेमी हैं, वे अब से आगे कभी हिंसा को धर्म मानने के मिथ्यात्व में भूलकर भी न फँसेंगे? भगवान् उन्हें परम सुन्दर सत्य और शिव या कल्याण के मार्ग पर आरूढ़ करें।

। ॥ दयाजी लिखते हैं कि "दूंढिये साधु कहें कि तपस्या के पूरे का महोत्सव आदि ऐसे हिंसा के काम करने का हम नहीं कहते। यह भी मायाचारी असत्य झूंठ है।"))))

दयाजी! जीवन के सार काम केवल भाड़े की बुद्धि से ही मत निकालिए। एक बार जो हम आपसे कह चुके हैं कि आर म्भादि कार्य करने के लिए इवे० तथा साधु किसी भी गृहस्थ को भूलकर भी कभी नहीं कहते, उसी बात को आप भवन मिथ्यात्व और समझ तथा स्मरण शक्ति की कमजोरी से बार बार दुहराते, कुछ भी लाज नहीं आते। दयाजी फिर फरमाते हैं कि ढूंढिये साधु जिन मन्दिरों में आने की सौगन्द करवाते हैं। दयाजी का यह

कथन भी मायाचार से ओत प्रोत हो रहा है। पाठको ! श्वे० स्था० साधु किसी भी श्रावक गृहस्थ को कभी मसजिद तक में जाने का त्याग नहीं करवाते है। तो फिर जिन-मन्दिर में प्रवेश करने का त्याग तो वे उन्हें करवाही कैसे सकते हैं? आप विचार पूर्वक इसको सोचें समझें और दण्डीजीके हृदयके कमीनापनका अनुमान लगावें। जो गृहस्थ हैं वे चाहे जहां जा सकते हैं और समय पर उन्हें शत्रु मित्र तथा भली व बुरी सभी जगह आवश्यकता पडने से जाना भी पडता है। लौकिक स्वार्थ-सिद्धि के लिए गृहस्थ से सारे त्याग नहीं बन सकते। फिर श्वे० स्था० गृहस्थ के लिए जिन-मन्दिर के त्याग करवाने की बात का लिखना नितान्त झूठ और दण्डीजीके लिए बडी ही शर्म की बात है।

आगे चलकर उसी परिलेख में दण्डीजी फिर कहते हैं— तपस्या का पूर मुर्दा-महोत्सव आदि ऐसे हिंसा के कार्य करने की ढूंढिये साधु मनाई कर दें, सौगन्द दिलवादें तो कभी न होने पावें।

दण्डीजी का यह लिखना भी नितान्त हास्यास्पद और अज्ञान मूलक है। क्या तपस्या का पूर भी हिंसा जन्य हो सकता है? नहीं कभी नहीं! क्योंकि तपस्या के पूर का मतलब तो केवल इतना ही है कि यदि किसी तपस्वी ने साठ दिन की तपस्या की तो साठवां दिन तपस्या के पूर का दिन है। अर्थात् साठवें दिन तपस्या की पूर्ति होती है। इसको हिंसा-जनक बतलाना और कहना यह जिनाज्ञा के बाहर की बात है। फिर साधु के मुर्दे के महोत्सव मनाने के लिए हम अभी अभी थोड़े ही पहिले विस्तार-पूर्वक कह आए हैं कि श्वे० स्था० साधु अपनी जबान से एक अक्षर भी नहीं निकालते। जो लोग ऐसा करते हैं वे भी केवल उस व्यक्ति विशेष के स्मारक रूप में लोकाचार और स्वनाम की शोभा का अनुमान कर लोक-रंजन के लिए ही करते हैं।

यदि इस प्रकार करने से हिंसा को दोष आता हो तो फिर दण्डी लोगों के मुर्दों को जलाने की शपथ दण्डी लोग अपने गृहस्थों को क्यों नहीं करवा देते हैं ? क्या दण्डी लोग अहिंसा-प्रेमी चाहे फिर वे नाम ही के हों या काम के, नहीं हैं सो सौगन्ध दिलाने को स्व० श्या० साधुओं के प्रति कह रहे हैं ? दण्डीजी ! पहले अपना घर बुहारो, फिर दूसरों के घर की ओर निगाह डालो । "पर उप देश कुशल बहुतेरे" और—

"रसिकन के रसिया बनें, उपदेशक जी आप ।
औरों को कहते फिरें, पशिका-गण के पाप ॥"

इन कथनों के अनुसार न बनो । पहले निजकी करणी और चरित्र को सोचो । तब यदि परायों की समालोचना के लिए आपमें कभी कलम उठाई भी तो अपने निज के आदर्श-बल की धाक उस पर बैठेगी निज के चरित्र को बिना आदर्श रूप दिये जो परायों की नुक्ताचीनी होती है वह केवल भ्रम-चक्र कराने वाली ही होती है । फिर यह जगत प्रति-ध्वनि मय है । जैसे जैसे काम मनुष्य यहाँ करता है उन्हीं की गूँज उसे सर्वत्र भासती है। अस्तु ! दण्डीजी ! कल तो कदाचित् आप और बढ़ कर यह भी प्रस्ताव कर बैठेंगे कि "जितने भी गृहस्थी हैं यदि भोजन का बिलकुल त्याग कर दें या सौगन्ध ले लें तो हिंसा के अनेक काम आसानी से आपों आप रुक जावेंगे । परन्तु हमारा तो-विश्वास है जनता आपके इस विचार को कभी कानी आँखों भी न दखेगी ।

दण्डीजी ! बोलशाहट में आकर ऐरी-गैरी पचकल्याणी मुंह से न उगल जाया करें । आपकी लेखनी के इन नये नये अनहोने आविष्कारों को देख कर आपकी बुद्धिपर तरस आती है । साधारण से साधारण बुद्धि-वाला पुरुष भी आपके इन अट-सट विचारों का अवलोकन कर आपकी मूर्खता पर हँसने लग जाता है । अस्तु । दण्डीजी ! जो कुछ भी

क़लम के घाट काला पीला आपके हाथों निकले क्या ही अच्छा हो कि उसमें पहले शास्त्र सन्तवाणी और निजू अनुभव की सम्मति आप ले लिया करें

आगे चल कर दण्डीजी वहीं लिखते हैं-"आने वालों की भोजन-भक्ति वगैरह र ार सम्भाल करने वालों को तुम तो बड़े भक्त हो इत्यादि प्रशंसा करते हैं, दण्डीजीकी बुद्धि अबतो बड़ी भोथरी होगई है। महाराज! इसे शीघ्रही शास्त्रावलोकन और सत्सगतिको सानपर चढ़वाइये।अन्यथा सारा गुड़ गोबर हो जायगा। दण्डीजो यहाँ तक तो हमारी आमना का आप को ज्ञान नहीं है। और चले हैं भाड़े की बुद्धि के वलसे अपने दण्डे की धाक बैठाने सारे जगत के ऊपर! दण्डीजी! श्वे० स्था० साधु आरम्भादि कार्य की कभी भूल कर भो कोई प्रसशा नहीं करते। व्यवहार में भक्ति शब्द सेवा या सेवा-शुश्रूषा या आदर-सत्कार का बोधक होता। विश्वास न होतो उठाइये दण्डा और चलेजाइये किसी प्राथमिक पाठशाला के विद्यार्थी के पास पढ़ने के लिए! एक मिनट से भी कम समय में वह आपकी इस सम्बन्ध की शंका का समाधान करदेगा! अस्तु। बाहर गॉव से आए हुओं को सार-संभाल करने चाहे भक्ति कहो या शुश्रूषा या आदर-सत्कार सब एक ही बातें हैं। अतएव आनेवालों की सेवा करने वालों को "तुम तो बड़े भक्त हो, (अर्थात सेवक हो सेवा-शुश्रूषा करने बाले हो सार सभांल करने वाले हो) या आये हुओं की सेवा करने की तुम्हारे में बड़ी ही दिलचस्पी है ऐसा कहने मात्र से कौनसी दोषापत्ति आजाती है? जगत की समझसे तो इस में कोई भी दोषापत्ति नहीं है पर दण्डीजी की बुध्दि में कुछ भ्रम हो गया है। जब से दण्डे को उसने अपने हाथ में धारण करना स्वीकार किया है उसी दिन से इन्होंने "सत्यं शिवं सुन्दरम्' के दर्शन करना अपनी आँखो से भुला दिया है। जगत में देखा भी ऐसा ही जाता है। जब मनुष्य दाँत और आँत दोनो, का काम केवल आँत ही से निकालना चाहता है तब उसके दाँत अपना यों अप-

मान होवे वेश अपने आप जितना भी जल्दी होता है गिर पड़ने की चेष्टा करते हैं। अस्तु। दण्डीजी आँखें ता बेचारी निकम्मा बन ही बैठी हैं। तब उनकी बुध्दि मरमाती फिरे तो बेचारी उस बुध्दि का भी क्या दोष है। परन्तु हाँ-

> चन्दन पड्यो चमार घर नित उठ छीले चाम।
> रोवे चन्दन सिर धुने पड्या नीच से काम॥
>
> —कबीर

इस उक्ति के नाते दण्डीजी से पाले पड़जाने के कारण वह बुध्दि बेचारी रोती धुनती अवश्य है। अस्तु। फिर दण्डीजी! सेवा धर्म है भी तो महान् कठिन। हृदय में शुभ सेवा के भावों का उदय होना परम सौभाग्यके लक्षण माने गए हैं। औरों को महा भागी पुरुष अपने आत्मो द्धार और निजके सम्मान के लिए परायों की सेवा में रहता है वही सच्चा कर्म योगी कहलाता है। इसलिये सूत्रों में भी तो कहा गया है कि जिसने साधु, साध्वी श्रावक और श्राविका रूप इन चार तीर्थों की सेवा की है जिसने इन्हें साता पहुँचाई है, तीर्थंकर भगवानों ने उस महा भागा पुरुष की दिल खोल कर प्रशंसा की है। तब फिर मान वाले भावकों की सेवा—भक्ति करने वाले को यदि किसी इने० स्था० साधु ने 'भक्त' कह दिया तो उसमें दोष ही कौनसा होगया। आपका उसमें कौनसा मान—अपमान होगया।

देखिये, दण्डीजी! इसी शुभ सेवा भाव के पवित्र उद्देश्य को लेकर, आज जगत् भर के कौने कौने में बालचर (Scout) और स्वयंसेवक (Volunteer) दलों की स्थापना हो रही है। इतने पर भी यदि आपका आत्म सन्तोष न हो, स्वयंसेवक बनने बनाने और उनकी प्रशंसा समय असमय पर करने कराने से किसी भी प्रकार के मत पक्षन्त शास्त्र की आड़, आपकी आँखों के सामने आती हो तो आप अपनी ओर से इस बात को अवश्य जाहिर

करवादें जिससे आप दण्डियों की विशाल विद्वत्ताका भी लोगों को भान भली भांति हो जायगा और किसी काम में पाप की परछाईं को देखते हुए भी लोगों को सुमार्ग पर न लाने के कारण जिस दून पाप के भागी आप बनते, उससे बाल बाल आप बच जावेंगे।

दण्डीजी लिखते हैं कि "तीन रोज के दही में बहुत रोज के बाजार के चूर्ण में तथा आटा, मैदा, मसाला, कच्ची खाड, मेवा, घृत आदि अनेक वस्तुओं में कालमान उपरान्त उनमें त्रस जीवों की उत्पत्ति हो जाती है।"

दण्डीजी ने यह लिख कर अपनी ज़बान के चटोरपन को छिपाने की तो खूब ही बारीकी की है। दण्डीजी! "तीन रोज के दही में" ऐसा यदि न कहते तो गरमागरम मालपुओं के साथ दही खाना आपका कतई बन्द हो गया होता! इसलिए खोज खाज कर के 'तीन दिन' के विशेषण का आविष्कार दही के साथ जोड़ने के लिए आपको करना पड़ा। फिर तीन रोज का दही, बिलकुल खट्टा, चूस भी तो बन जाता है और वह ज़बान को अधिक जायकेदार नहीं जान पड़ता। बस यही कारण है कि तीन रोज के दही में त्रस जीवों की पैदायश आपने बताई है। दो या एक रोज के दही की बात कह बैठते। तब तो दण्डीजी के सिर-कन्धों न मालुम कौनसी कठिनाई का वज्र आ टूटता! दण्डीजी! यह तो आपने अपने खोपड़े को अपने दण्डे से घिस घिसाकर तैयार की हुई रसायन का स्वाद चखाया। अब ज़रा ससार की किसी रसायनशाला में चल कर आपकी इस रसायन को तुलना, वहां की उसी जाति की रसायन से भी कर लेने की तक़लीफ फर्मायें देखिये, जीव-विशाल शास्त्र और रसायन शास्त्र आदि का नियम है कि जब किसी भी वस्तु के स्वाद में या रग में या रूप में कोई अन्तर पड जाता है, तब उसमें कुछ ही देर के बाद भिन्न भिन्न प्रकार के जीवाणुओं

पैदा हो जाते हैं। फिर दयाजी! आपके गृहस्थों के घरों में बहुतसी चीजें ऐसी होती हैं जो काम उपरान्त भी रक्खी ही रहती हैं। उनमें लटें, सकेरे आदि जीव-जन्तु उत्पन्न हो जाते हैं। वर्षा में आटे के थोड़े दिन रक्खा रहने पर, उसकी भी यही दशा हो जाती है परन्तु गृहस्थ उन वस्तुओं में से जीव जन्तुओं को निकाल और अलग कर अपने भोजनादि के काम में फिर से उन्हें लाते हैं। उस आटे की फिर से रोटियां भी बनाई ही जाती हैं। वही रोटियां आप दयाओं को भी बहराई जाती हैं। हमने यह भी कहीं देखा सुना नहीं कि आटे में साधारण रूप में लटें पड़ जाने पर उसे फेंक दिया जाता है या उस आटे की रोटियां आप दयाओं को नहीं बहराई जाती हैं। फिर दयाजी! लटें अण्डों से पैदा होती हैं और लटों के अण्डे आटे के बारीक दानों से बिलकुल मिलते जुलते होते हैं बड़ी २ लटें जो साधारणतः आंखों से दिख पड़ती हैं वे तो आटे को साफ करते समय बाहर निकाल दी जाती हैं, पर दयाजी! उनके अण्डों का उद्धार तो आप अपने पेट ही से पूछियेगा। अब और उदाहरण देने की कोई आवश्यकता अभी मालूम नहीं होती। समय पर ऐसे पचासों उदाहरण पेश किए जा सकते हैं। क्या अब भी आप विचार नहीं करेंगे कि आपके द्वारा औरों के दोष ढूंढने और निकालने के लिए कहीं या वैसे ही दोषों को छिपाने में किस कदर का भारी अन्तर आप दिखा देते हैं। दयाजी अब तो इन कूटनीति की बातों से बाज आइये।

दयाजियों के द्वारा ऐसी ही मनमानी और मरजानी बातों का बिना सोचे समझे केवल धार्मिक नाम की ख्याती के लिए प्रकट करते रहना उनकी निरी अज्ञानता का पोषक है। अपनी इसी अज्ञान दशा में मस्त रहने के कारण वे सर्वज्ञ आगम के विरुद्ध

झूठी झूठी बातों को लिखते लिखाते रहते हैं। और यों सच्चे आत्मार्थियों की भर पेट निन्दा कर, लोगों को बहकाने का दिनरात प्रयत्न से करते रहते हैं। परन्तु "सांच को आंच कहां? इनके यों सर पटक पटक कर मर जाने परभी लोग सत्य की सुराह को छोड़ इनकी ऐसी भूल भुलैयां में नहीं आते। अब शिक्षा का प्रचार बढ़ चलने से लोग इन दुन्डियों के मायाचार मिथ्यात्व और छल छन्दों को भली प्रकार रोज रोज अधिकाधिक रूप से समझते जा रहे हैं फिर भी मोक्षाभिलाषी सरल हृदयी पुरुषों को इन मायावी और दानवी प्रकृति के पुरुषों के छल छन्दों से बचते रहने का सतत प्रयत्न करते रहना चाहिये।

दण्डीजी लिखते हैं "भगवती, ज्ञाताजी, उपाशकदशा, अन्तगढ़दशा, अनुत्तरोववाई, प्रश्न व्याकरण, उत्तराध्ययन, ओघ निर्युक्ति, प्रवचन-सारोद्धार आदि बहुत से शास्त्रों में साधु को गोचरी जाने के समय अपने पात्रों को ढंकने के लिए झोली के ऊपर वस्त्र के पड़ले रखने को कहा है।"

दण्डीजीका यह लिखना प्रत्यक्ष झूठ है अथसे इति तक झूठ से भरा हुआ है। क्योंकि भगवती, ज्ञाताजी, उपाशकदशा, अन्तगढ़दशा अनुत्तरोवाई प्रश्न व्याकरण, उत्तराध्ययन आदि बत्तीस ही सूत्रों में कहीं भी गोचरी की झोली पर ढकने के लिये भगवंतों ने पड़ला रखने का नहीं फरमाया है। और झोली के चारों कोनों के पल्लों को एकत्रित करके पकड़ने पर अपने आपही उन पल्लों का पड़ला बन जाता है। तब ऊपर से दूसरा कपड़ा (पड़ला) ढाँकने की कोई आवश्यकता भी नहीं रह जाती।

प्रवचन-सारोद्धार और ओघ-निर्युक्ति ये ग्रन्थ शास्त्रों में नहीं गिनने चाहिये थे। क्योंकि ये अल्पज्ञों के बनाये हुए हैं। परन्तु दण्डीजी ने इन्हें शास्त्रों की श्रेणी में रखकर इन्हें भी शास्त्रों के नामसे पुकारा है। दण्डीजी की ये ही तो अल्प-बुद्धि और बौखलाहट का बातें हैं।

चाहिए थी कि "चद्दर से ही गोचरी की झोली को ढकने के लिए भगवन्तों ने फरमाया है।" परन्तु दण्डीजी अपनी इस दौड़ से भी दौड़ कर कब तक बच सकते थे। जब तक सूत्रों के ज्ञाता किसी विद्वान् की उनसे मुठभेड़ न होती दण्डीजी की यह दम-भरी दुकान शरीर तभी तक भोली भाली जनता के सामने खुली रहती! परन्तु अन्त में कभी न कभी तो एक दिन अवश्य ही ऐसा आता कि जब "मुल्ला की दौड़ मसजिद तक" काज़ी की दौड़ कुरान तक" और दण्डीजी की दौड उनकी दुरंगीचाल तक" इन उक्तियों के नाते किसी विद्वान् से पाला पड़ते ही चट वे सूत्रों के बन्धन से बांधे जाकर औंधे सिर लटका दिये जाते!

दण्डीजी! अब वह ज़माना गया कि जिन दिनों साधुओं के पास से रोटियां छीन-झपट कर अन्य भिक्षुक या भिखमंगे लोग खा जाते थे और यही कारण था कि उन दिनों चादरमें छिपाकर गोचरी लाने की अन्धरूढ़ी दण्डियों ने चलाई थी। पर आजका ज़माना अब वह ज़माना नहीं है अतः दण्डियो! अब तो अपनी इस अन्धरूढ़ी टेक को अपने खोपड़े में से निकाल दो और उसी अन्ध-परम्परा की चाल को बिना पाये के इधर उधर के प्रमाणों के द्वारा सिद्ध करने के लिए, भगवती, ज्ञाताजी आदि सूत्र रूप भगवद्वाणी का झूठा ही नामोल्लेख मत करो।

फिर भी दण्डीजी गोचरी को तो चादर से ढक लेते हैं, परन्तु त्रपणी वगैरह को जिसमें दाल शाक, खीर वगैरह लाते हैं न तो झोली ही में रखते हैं और न उसे चादर से ही ढांकते हैं तब क्या दण्डीजी! शाक, दाल, खीर आदि ये गोचरी में नहीं गिने जाते हैं? कदाचित् आपकी समझ में ऐसा ही होगा। यही कारण है कि आप त्रपणी को हाथ में लटकाए हुए ही लाते हैं। इस भांति गरम जल के पात्र को भी आप खुला ही अक्सर लाते हैं किसी वस्त्र विशेष से उसे नहीं ढकते। तब क्या दण्डीजी! भगवन्तों ने आप लोगों को

ऐसा ही फरमा दिया है कि सिर्फ गोचरी जिसमें भी आपकी दाल शरीफ से रोटी, पूड़ी, लड्डू चावल, वगैरह ही शामिल हैं, उनको वस्त्र के पल्ले से ढांक कर लाना चाहिए और साग, शाक, खीर, रायता, आम-रस और गरम-जल के पात्रों को बिना किसी वस्त्र के पल्लों के बिना ढांके ही ले आना चाहिये। इसकी भी ऐसा प्रमाण तो किसी भी सूत्र में कहीं भी नहीं पाया जाता है। बिना ही किसी प्रकार के शास्त्रीय प्रमाणों के शास्त्र सम्मत धर्म की अवहेलना करते हुए अपने सुभीते के लिए कुछ का कुछ मान कर करते रहना केवल अपनी मनमानी और मन-पसन्द मन्तव्यों की फर्माइश मात्र है।

थोड़े नीचे चलकर दण्डीजी इसी परिच्छेद में फिर यों फर्माते हैं— "ढके बिना खुली झोली में आहार, पानी लेकर आते हैं। तब कभी उसमें हवा से सचित्त रज आदि गिर जाती है। अकस्मात् वर्षा की जल बूंदें भी कभी उसमें गिर पड़ती हैं और अधिक हवा के जोर से इमली, नीम, बड़ आदि के पत्र, पुष्प, फल वगैरह भी उसमें गिर पड़ते हैं।"

दण्डीजी! आपके इस प्रकार का दोषारोपण हमारे ऊपर करने से हमें एक बात की याद आ गई। अक्सर गांवों के लोग गांवों की सीमा ही के आस पास व झाड़ों आदि में टट्टी फरागत को जाया करते हैं। लोगों की रफ्तार भी वहां कभी ज्यादा और कभी कमती रूप से ज्यादा कमती होती ही रहती है। वह लोग कमर से नीचे के भाग को खुला कर टट्टी जाते आते हुए तो रहते हैं परन्तु हां शर्म के मारे या तो वे सिर को नीचा कर लेते हैं या आंखें बन्द कर गर्दन को नीचे की ओर झुकाए बैठे रहते हैं, और तब वे मन में समझ लेते हैं कि हमारे ऐसा कर लेने से संसार हमें देखता भालता नहीं है। पर बात दर असल में ऐसी नहीं होती। वह बिलकुल इसकी उल्टी होती है। संसार उनके कामों को तो

ज़रूर देखता है, परन्तु वे संसार की ओर न देखने का बहाना किए बैठे रहते हैं। पाठको! हमारे ऊपर लगाए हुए ऊपर के दोषारोपण में भी दण्डीजी की यही चाल अथ से इति तक पूरी २ घटित होती है। सज्जनो! दण्डीजी का कहना बिलकुल औंधा है। श्वे० स्था० जब कभी भी कोई आहार पानी लाते हैं, झोली ही में पात्रों को रख कर लाते हैं और उस झोली को चारों कोनों के चारों पल्लों से हाथ में ऊपर उठाये रहते हैं। झोली के भीतर का आहार पानी उसके चारों ओर के वस्त्र से पूरा पूरा ढका रहता है। वह कभी भी और किसी भी हालत में जरा भी खुला हुआ नहीं रहता और न संसार ही को वह खुला हुआ कभी नजर आता है। इस बात को क्या बच्चा और क्या बूढ़ा सभी और सब ठौर के लोग भली भांति से जानते हैं। पहले तो आहार पानी की झोली को इस प्रकार सम्भाल कर लाया जाता है कि उसके ऊपर सचित रज वर्षा के जल की बूंदें, इमली, बड़, नीम आदि के पत्ते, फूल, फल, वगैरह किसी भी हालत में गिर ही नहीं सकते। इतनी सम्भाल के रखते हुए भी कदाचित कभी गिर भी जाय तो वे झोली के ऊपर ऊपर ही रह जायगे पर आहार पानी में तो किसी प्रकार भी गिरने नहीं पावेंगे। परन्तु पाठकों! "जिसे पीलिया रोग हो जाता है, सारा संसार तब उसे पीला ही पीला नजर आता है।" और "सावन के अन्धे को सर्वत्र और सब काल फिर चाहे वह मरु-भूमि में भयंकर ग्रीष्म के झोके ही क्यों न खा रही हो, हरा ही हरा दीख पड़ता है" इन उक्तियों की सचाई के अनुसार बेचारे दण्डीजी भी अपने अनुभव की आपबीती बात संसार को बता रहे और कह रहे हैं! वह कैसे? सो देखिये! दण्डी लोग त्रपणी और पानी का पात्र खुल्लम खुल्ला हाथ ही में लाते हैं। उनमें दण्डीजी के कथनानुसार सचित रज और वर्षा के जलकी बूंदें आदि आदि अवश्यही और कितनीही बार गिर पड़े होंगे और समय असमय आज भी गिरते रहते होंगे।

रज आदि के अचानक होने वाले आक्रमणों से रक्षा करते हैं। यहां उन्होंने सन्तों की सत्संगती के प्रभाव से, अपनी वृत्तियों को भी एकान्त रूप से अहिंसा-मय और प्रेम-पूर्ण बना लिया है। एक बार, जहां, ये आक्रमण-कारी जल-बूंदों को उनके सन्मित्र बनकर, उनके अपने रूप को अपने रूप में मिला लेते हैं, तो कभी कहीं दूसरी बार, सचित रज आदि के वारों को प्रेम-पूर्वक अपने सर-कन्धों झेल लेते हैं, और उन्हें झोली रूप किले के अन्दर जाने से बाहर ही बाहर रोके रहते हैं। कहिये पाठकों! सन्तों का समागम और सत्संगति का प्रभाव जड़ और चेतन सभी पर, कैसा विलक्षण जादू अपना डालता है, और उनके जीवन को किस कदर प्रेम-पूर्ण और अहिंसामय बना देता है। यों दण्डीजी! झोली के अन्दर का आहार-पानी उन गंदले छींटों से बाल बाल बच जावेगा। बात रही अब झोली की। सो यदि ऐसा अवसर, आजाय, तो, झोली को धो डाली जावेगी। पर पूरी पूरी खराबी तो दण्डियों! इसमें आप ही की है। क्योंकि, शाक, खीर, दही, आदि को तरपणी, और जल के पात्रों को आप ही लोग अक्सर खुल्लमखुल्ला लाया करते हैं। और यों रास्ते में कहीं पर, कोई गृहस्थ झूंठा या मैला पानी, मकान के ऊपर से, अचानक फेंकता हो, या ऊपर मोरी आदि में पेशाब करता हो, या करता हो, तो उसके छींटे, आपके खुले हुए पात्रों में प्रवेश कर, उनमें के पदार्थों में, क्षीर-नीर के न्याय से घुल-मिल जाते हैं। बताइये, दण्डीजी! बात सच है या झूंठ? और यदि सच है, तो कौनसी रसायन-क्रिया के द्वारा अब आप उन पात्रों के अन्दर पदार्थों को शोधेंगे! अतः दण्डीजी! जल, तरपणी, आदि पात्रों को झोली के अन्दर ही रख कर लाया करें। क्यों, सर्वज्ञ शासन की अवहेलना कर के, अधोगति के जान बूझ कर अधिकारी बनते हैं।

कुछ ही दूर चल कर दण्डीजी उसी लेख खण्ड में फिर यों कहते हैं—"कभी लोग मुर्दे को लेजाते होवें, तो उसकी छाया आहार पानी पर गिर जाती है। आकाश में चील, कौवे आदि यदि उड़ते हुए विष्टा करदें, तो उसके छींटे भी आहार पानी पर गिर जाते हैं।"

आदि के अचानक होने वाले आक्रमणों से रक्षा करते हैं। वहां उन्होंने न्तों की सत्संगती के प्रभाव से, अपनी वृत्तियों को भी एकान्त रूप से हिंसा-मय और प्रेम-पूर्ण बना लिया है। एक बार, जहां, ये आक्रमण- री जल-बूंदों की उनके सन्मित्र बनकर, उनके अपने रूप को अपने प में मिला लेते हैं, तो कभी कहीं दूसरी बार, सचित रज आदि के वारों ो प्रेम-पूर्वक अपने सर-कन्धों झेल लेते हैं; और उन्हें झोली रूप क़िले के अन्दर जाने से बाहर ही बाहर रोके रहते हैं। कहिये पाठकों! सन्तों का समागम और सत्संगति का प्रभाव जड़ और चेतन सभी पर, कैसा विचित्र जादू अपना डालता है, और उनके जीवन को किस क़दर प्रेम-पूर्ण और अहिंसामय बना देता है! यों दण्डीजी! झोली के अन्दर का आहार-पानी उन गंदले छींटों से बाल बाल बच जावेगा। बात रही अब झोली की। सो यदि ऐसा अवसर आजाय तो झोली को धो डाली जावेगी। पर पूरी पूरी खराबी तो दण्डियों! इसमें आप ही की है। क्योंकि, शाक, खीर, दही, आदि की तपणी और जल के पात्रों को आप ही लोग अक्सर खुल्लमखुल्ला लाया करते हैं। और यों रास्ते में कहीं पर, कोई गृहस्थ झूंठा या मैला पानी, मकान के ऊपर से, अचानक फेंकता हो, या ऊपर मोरी आदि में पेशाब करता हो, कै करता हो, तो उसके छींटे, आपके खुले हुए पात्रों में प्रवेश कर, उनमें के पदार्थों में, क्षीर-नीर के न्याय से घुल-मिल जाते हैं। बताइये, दण्डीजी! बात सच है या झूंठ? और यदि सच है, तो कौनसी रसायन क्रिया के द्वारा अब आप उन पात्रों के अन्दर पदार्थों को शोधेंगे! अतः दण्डीजी! जल, तपणी, आदि पात्रों को झोली के अन्दर ही रख कर लाया करें। क्यों, सर्वज्ञ शासन की अवहेलना कर के, अधोगति के जान बूझ कर अधिकारी बनते हैं।

कुछ ही दूर चल कर दण्डीजी इसी लेख-खण्ड में फिर यों कहते हैं—"कभी लोग मुर्दे को लेजाते होवें, तो उसकी छाया आहार पानी पर गिर जाती है। आकाश में चील, कौवे आदि यदि उड़ते हुए विष्टा करदें, तो उसके छींटे भी आहार पानी पर गिर जाते हैं।"

आदि जो भी समय पर मिल जाती है, रखली जाती है। और तीसरा पात्र, पानी के लिए सुरक्षित (Reserved) रक्खा रहता है। पाठकों! अब बताइये, दण्डीजी के द्वारा, श्वे० स्था० साधुओं के लिए 'मणियारे' शब्द का उपयोग, कहाँ तक युक्ति युक्त और न्याय-संगत है? पाठकों! अब दण्डियों के पात्रों की दूकान का भी जरा अवलोकन कर जाइये। भैरव के भोपों को तो सभी लोगों ने प्रायः देखा होगा। वह जिस प्रकार अपनी झोलीमें से अपने खप्पर को निकाल कर, 'अलख' जगाता हुआ आटा मांगता है, और लेता है। ठीक उसी प्रकार क्या दण्डी लोग भैरव के भोपे के समान कन्धे पर टलकाई हुई अपनी झोलोमें से एक के बाद एक कई पात्रों को निकाल कर, 'धर्म-लाभ' की अलाप लगाते हुए, रोटी वगैरह नहीं ग्रहण करते हैं?

आगे चल कर, उस परिलेख के अन्त में दण्डीजी, लिखते हैं,— "कभी कुत्ता, बिल्ली आदि खाने के लोभ से झपटा मार देते हैं। दाल कढ़ी, खीर, घृत वगैरह झोली में ढुल जावें झोली बिगड़ जावे, तो रास्ते में लोग देख कर हंसी करते "जिनशासन की हिलना होती है।"

दण्डीजी! श्वे० स्था० साधु को गोचरी की झोली में आहार पानी के पात्र ढंके होते हैं। इस लिए भोजन आदि पर कुत्ते व बिल्ली आदि झपाटे नहीं लगा सकते। परन्तु हाँ दण्डी लोगों के शाक, दाल दूध और जल आदि के पात्र तो खुले हुए, हाथ ही में रहते हैं। अतः उन पात्रों में तृषित कुत्ता या भूखी बिल्ली या उड़ती चील, आदि अवश्य ही मुंह डाल सकते हैं, या उन पर झपटा मार सकते हैं। फिर दण्डीजी! हमारी झोली में तो कढ़ी, दाल, आदि कभी ढुलती नहीं। क्यों कि, पात्र का पेंदा कोई गोल तो नहीं! फिर, वे रक्खे भी एक दूसरे पर या एक दूसरे में ऐसे जाते हैं, कि उनके लुढ़कने की कदापि कोई सम्भावना नहीं होती। इतने पर भी किसी आकस्मिक कारण से कभी कोई शाक आदि ढुल भी गई तोभी दर्शक-उसे देख कर हमारी हँसी कभी नहीं उड़ावेंगे। क्योंकि वे जानते हैं कि श्वे० स्था० साधु हमेशा इसी तरह झोली के अन्दर रख कर आहार पानी लाया करते हैं। अस्तु वे उसे एक मामूली बात जानकर तरह दे देंगे। किन्तु, ऐसाही मौका जब कभी दण्डी लोगों पर आ बीतता है, तब उन्हें देख कर लोगों को स्वाभाविक

किया था। उसमें, उन्होंने पूछा है, कि क्या, भगवन्! रात दिन सदैव और सब काल सूक्ष्म जल बरसता रहता है? इसके उत्तर में भगवान् ने यों कहा, कि हाँ दिन रात सदैव और सब काल थोड़ा बहुत सूक्ष्म जल बरसता रहता है। इस पर, गोतम स्वामी ने फिर पूछा कि हे भगवन्! क्या उस पानी से नदी, तालाब, कूए आदि जलाशय भर जाते हैं? इस पर, भगवान् ने फर्माया कि कोई भी जलाशय उससे नहीं भरते हैं। क्यों कि, वह तो पड़ते ही पड़ते, तत्काल ही आकाश में विध्वंस हो जाता है। (फिर वाष्प बन कर वायु के भीतर मिल जाता है)। वह सूत्र पाठ यों है—

"अत्थिणं भंते सया समियं सुहुमे सिणेह कायं पवडइ। हन्ता अत्थि। चिरंपि दीहकालं चिट्ठइ। तहाणं से वि! नो इकट्ठे समट्ठे"

—भगवती सूत्र, प्रथम शतक, उद्देश छठी।

दण्डीजी! सिर्फ शाम सवेरे और सूर्य की गर्मी के अभाव ही में सूक्ष्म जल का गिरना, यों लिखना आपका प्रत्यक्ष मूर्खता से भरा पूरा है। भगवती सूत्र के लेखानुसार तो रात और दिन, चौबीसों घन्टे सूक्ष्म जल की वृष्टि होती रहती है। पर हाँ, सूर्य के उदय हो जाने पर, उसकी गर्मी के कारण, वही सूक्ष्म जल, जो अत्यन्त नन्हें, नन्हे जल सीकर के रूप में रहता है, अधिक समय तक अपने इस रूप में नहीं रह सकता। आकाश से जमीन पर गिरते, गिरते, बीच ही में, वह तत्काल विध्वंश हो जाता है। वह पुनः वाष्प बनकर वायु में मिल जाता है। अतः दण्डी लोगों ने जो सिर पर कम्बल ओढ़ने का रिवाज निकाला है, वह सूर्योदय के बाद उन्हें नहीं ओढ़े रहना चाहिये। सूर्योदय के पश्चात् भी सिर पर कम्बल ओढ़े रहना, यह दृष्टियों में केवल उनकी अक्ल के अभाव और उनके शरीर की कमजोरी को बताने वाला है। दण्डी जी! भगवती सूत्र की ओट इस सम्बन्ध में लेकर व्यर्थ ही मुंह क्यों फांकते हैं। सीधा यही क्यों नहीं कह देते, कि प्रात काल की ठन्डक से बचने के लिये सूर्योदय के पश्चात भी, दन्डी लोग सिर पर कम्बल ओढ़े रहते हैं? भला, अपने शरीर के थोड़े से और तुच्छ सुख साधन के लिये, सूत्रों के पाठ की उत्सूत्र-प्ररूपणा कर, दिन दहाड़े ही सिर पर

॥ ॐ ॥

णमो णाणस्स

जाहिर उद्घोषणा नं० ३ का उत्तर

शरीर शुद्धि का निर्णय

प्रिय पाठको ! दण्डी मणि सागरने जो जाहिर उद्घोषणा नं० ३ लिखा है वह मिथ्या, भ्रम पूर्ण और द्वेश से लबालब भरा होने से क्रमशः उसका उत्तर भी दे देना हम ठीक समझते हैं।

दण्डीजी ! शास्त्रों में (सूत्रो में) चार प्रकार का आहार पानी रात्री में रखने का क़तई निषेध है। उसी के अनुसार श्वे० स्था० जैन मुनि कहते हैं और सूत्रानुसार उनका कथन यथातथ्य है। यदि तुम्हारे चक्षु हों तो प्रश्न व्याकरण का संवराधिकार देखो। भगवान् वहां क्या फरमाते हैं।

"जंपि य समणस्स सुविहियस्स उ रोगायके बहुप्पगारंमि समुप्पन्ने वायाहिकपित्तसिंभियतिरित्तकुविय तहसणिवायजाए वा उदयपत्ते उज्जलबलविउलकरवडप्पगाढदुक्खे असुहकडुयफरुसचण्डफलविवागे महभए जीवियतकरणे सव्वसरीरपरितावणकरणे न कप्पई तारिसेवि तह अप्पणो परस्स व उसहभेसज्जं भत्तपाणं च तंपि सण्णिहिकय।"

अर्थात्—भगवान् की आज्ञा में विचरने वाले साधु यदि कभी कर्म वश सुख से रहित विस्तीर्ण रूप अत्यन्त दुखदाई महा भयंकर जीवन का अन्त करने वाले ज्वर, शूल, कफ, पित्त, वाय, विरेचन (दस्त) व्याधि आदि कई प्रकार की पीड़ा से दुःखी हों तो भी वे रात्रि में अपने पास औषध, आहार, पानी कुछ भी न रक्खें, रखना अकल्पनीय है। अर्थात् रखने की बिलकुल मुमानियत है।

तब फिर दयाळीजी सोचिये कि ऐसी भयंकर वेदना के समय और दस्त की बीमारी में भी रात्रि को जल रखना मना है तो निरोग हालत में रात्रि के समय पास में जल रखने की आज्ञा होना कैसे संभव है ? अतएव आप अपनी बुद्धि ठिकाने रख शांतता से कार्य करो तो ठीक हो।

आगे चल कर दयाळीजी लिखते हैं कि अब जल स्नान पीने के वास्ते रात्रि में रखने का निषेध है किन्तु शुचि के लिए जल रखने का निषेध नहीं।

यदि दयाळीजी उपरोक्त मन घड़न्त गप्प आप न हांके तो पंडित माने कौन ? क्योंकि उनके माननीय बत्तीस सूत्रों में तो कहीं भी रात्रि को शुचि के लिये जल रखने का विधान नहीं है। पाठको ! यदि इसका प्रमाण होता तो क्या दयाळीजी वह प्रमाण लिखते हिचकिचाते? दयाळीजी को योग्य था कि इस प्रश्न के निपटारे के लिये कोई शास्त्रीय प्रमाण उद्धृत कर पाठकों के सम्मुख रखते जिससे उनका कहना ठीक मालूम होता। पर दयाळीजी प्रमाण दें तो भी कहां से ? बत्तीस सूत्रों में तो कहीं भी इसका है नहं । हां, दयाळीजी ! मुंह से चाहे जो कह दें क्योंकि वाचाल हैं। यदि एकाध भी प्रमाण मिल जाता तब तो कस्तूर की तरह पेट फुला कर पांच चार पेज भर देते या उनकी देख रेख में बत्तीस सूत्र लिखे जाते या मुद्रित किये जाते तो निस्संदेह उसमें इस विषय को घुसाये बिना वे नहीं मानते। पर क्या करें। हाथ से बाजी निकल गई, अतएव दयाळीजी का रात्रि में जल रखने का लिखना मिथ्या और नितान्त सूत्र विरुद्ध ठहरा।

आगे चल कर दयाळीजी ने श्वे० स्था० आम्नाय की ओर से प्रकाशित निशीथ सूत्र का प्रमाण दिया है कि शुचि नहीं करने वाले को दण्ड आता है।

दण्डीजी का यह लिखना निरी निर्विवेकता का है क्योंकि कौन ऐसा अघोरी है जो टट्टी फिर कर शुचि नहीं करता होगा ? श्वे० स्था० जैन मुनि का तो खास ध्येय ही यह है कि वे शुचि किये बिना शास्त्राध्ययन नहीं करते और इसी मन्तव्य पर वे आज तक डटे हैं। फिर क्या दण्डीजी ख्वाब देखने लगे कि श्वे० स्था० जैन मुनि शुचि नहीं करते (या उनकी गुदा सु घने गए) जिससे दण्डीजी ने शुचि नहीं करने का आरोप लिख दिया। सच पूछा जाय तो दण्डीजी को बुद्धि का अजीर्ण हो गया है नहीं तो वे ऐसी उटपटांग व असत्य बातें लिख कर पेज काले नहीं करते।

आगे चल कर दण्डीजी ने बतलाया है कि दिन में शुचि के लिये जल रखने की मर्यादा है तो फिर रात्रि में रखने में कोई दोष नहीं।

वाह ! दण्डीजी ! वाह !! सूझी तो खूब ही दूर की। भगवान् से भी बढ कर आपकी पूजा होनी चाहिये। आप तो भगवान् से उच्च पद पाने की लालसा में डूब पडे। पाठकों ! क्या भगवान् सर्वज्ञ ज्ञानी को इस बात का ज्ञान नहीं था कि वे प्रश्नव्याकरण में रात को बुखार दस्त आदि मरणान्त कष्ट में तो जल रखने की मनाई नहीं करते ? फिर प्रश्न व्याकरण में निषेध लिख निशीथ सूत्र में जल रखने की भगवान् कैसे आज्ञा दे सकते हैं ? कभी नहीं, दण्डीजी का लिखना सरासर मिथ्या है।

महोदयो ! निशीथ सूत्र में शुचि के कथन में जो कुछ कहा है उसका अभिप्राय यह है कि साधु को प्रथम तो रात्रि मे टट्टी जाने का काम ही बहुत कम पड़ता है यदि अकस्मात् किसी समय पड़ भी जाय तो रात्रि के समय शारीरिक शुचि के लिये जो विधि शास्त्रों में बतलाई गई है उसी विधि के साथ रात्रि में शरीर को शुद्ध करते हैं। तदपि सूर्योदय होते ही साथ वाला दूसरा साधु शुचि के लिये जल ला देता है फिर उस जल से अपने शरीर को शुद्ध कर लेते हैं। यदि शरीर को

शुरू किए बिना ही सूत्र का पठन पाठन करे तो उसके लिए दण्ड विधि है यह हमें और तुम्हें सभी को माननीय है।

आगे चल कर दयाळीजी ने लिखा है कि—"यदि (स्थानकवासी साधु) कहें कि पहिले के साधु शरीर शुचि के लिये रात्रि में जल नहीं रखते थे इसलिये अब भी रखना उचित नहीं।"

यह भी दयाळीजी का लिखना नितान्त मिथ्या है क्योंकि जैसा दयाळीजी ने लिखा वैसा जैन श्वे० स्था० मुनि कभी नहीं कहते हैं क्योंकि पहिले के साधु भी सूत्रानुसार रात को जल नहीं रखते थे और अब भी सूत्रानुसार रात में जल नहीं रखते हैं।

आगे चल कर दयाळीजी ने इसी पैरे में लिखा है कि—"पहिले के साधु २-४ दिन में अन्न खाते और जंगल में रहते उनके ऊंट, बकरी की मींगणी की तरह पाखाना होता वह भी निर्लेप बहुत दिनों में होता था।

दयाळीजी! तुम्हारी कल्पना कितनी हास्यास्पद है? क्योंकि टट्टी फिरने पर तो गुदा निर्लेप रह ही नहीं सकती किसी अनपढ़ बच्चे से भी पूछिये। महोदयो! अन्न जो अन्न खावेगा चाहे वह जंगल में ही क्यों न रहता हो दो या चार चार रोज बाद ही क्यों न खाता हो पर अन्न खाते थे तो टट्टी भी जाते ही थे। फिर टट्टी मींगणी की तरह ही निकलती हो पर गुदा पर कुछ न कुछ लेप तो अवश्य लगता ही था। फिर गुदा निर्लेप होने की कल्पना कितनी असंगत है!

यह कभी नहीं हो सकता कि जंगल में रहने वाले ध्यानी तपस्वी साधु की जठराग्नि बहुत तीव्र होने से पाखाना नहीं होता हो। प्रत्युत जठराग्नि की प्रबलता से बहुत जल्द पाचन हो कर जल्द २ पाखाना होता होगा और यह भी नहीं कि आसन एवम् क्रिया के योग से पाखाना ही नहीं होता हो तो कहिए दयाळीजी! तपस्वी और ध्यानी साधु जंगल व पहाड़ों में रहने वाले अकस्मात् रात को टट्टी होने पर

किस प्रकार शुचि करते होंगे ? क्योंकि उनके पास रात्रि में जल तो रहता ही नहीं था। गांव में गए भी उन्हें दो २ तीन २ दिन हो जाते थे फिर जल कहां से आता ? पाठक ! दण्डीजी केवल अज्ञता के वश रात में उनको जंगल पेशाब का काम नहीं पड़ता ऐसा लिख कर भोलों को भरमाने का प्रयास करते हैं पर क्या कोई मान सकता है ? ध्यानी साधु अन्न खाने पर अकस्मात् रात्रि को टट्टी नहीं फिरे या पेशाब नहीं करें यह कोई विचार शील व्यक्ति सच मान सकता है ? नहीं, कोई नहीं मान सकता। पेशाव तो रात्रि को कई वक्त जानेका अवसर आता है और टट्टी भी कभी २ रात्रि को अकस्मात् आने का मौका हो ही जाता है।

पाठको ! इससे यह बात सिद्ध हुई कि जंगल पहाड़ों में रहने वाले जैन साधु रात को जल नही रखते थे और यह बात दण्डीजी भी आगे जाकर इसी उद्घोषणा के इसी पेरे मे स्वीकार भी करते हैं। अतएव जंगल में रहने वाले साधु टट्टी फिरने पर जिस प्रकार रात्रि के व्यतीत होते ही सूर्योदय होने पर शुचि कर लेते थे उसी प्रकार अब भी पहिले साधुओं की तरह श्वे० स्था० जैन मुनि शुचि कर लेते हैं।

आगे चल कर दण्डीजी ने उसी पैरे में लिखा है कि—"स्वाद के लोभ मे दिन भरमें तीन २ बार अच्छे २ पक्वान और दूध दही, घृत, खीर, बड़े, पकौड़ी, रायता आदि गरिष्ठ पदार्थ अधिक खाकर १०–५ बार खूब गहरा जल पीते हुए शरीर को पुष्ट करते हैं।"

यह भी दण्डीजी का लिखना नितान्त मिथ्या एवम् द्वेष जनक है क्योंकि श्वेताम्बर स्था० जैन मुनि न तो स्वाद के लोभ से प्रमाण से अधिक तीन २ चार २ बार भोजन खाते हैं और न प्रमाण से अधिक जल पीते हैं इसके ज्वलन्त उदाहरण एक नहीं अनेक हैं।

देखिये ! श्वे० स्था० जैन मुनियों में बहुत से मुनि महिने महिने, दो २ महिने ढाई २ महिने की तपस्या करते हैं। कोई एकान्तर वेले २

और कोई कोई तो छाछ पीकर ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं। इसी प्रकार साध्वियों में भी तपस्या होती है। किन्तु तुम दण्डियों में ऐसी तपस्या करने वाला तो कोई विरला ही निकलता है। स्वयं सिद्ध है कि स्वाद के लोभ से पक्वानादि खूब खाकर अपनी तोंद बढ़ाने में प्रथम नम्बर तो दण्डी जी को ही प्राप्त हुआ है।

फिर भी देखिये श्वे० स्था० जैन मुनि जब विहार करते हैं तो साथ में गृहस्थ लोगों को भोजन के निमित्त नहीं रखते हैं। जैसा मार्ग में रूखा सूखा समय पर मिलता है उसी को खाकर मार्ग तय करते हैं। और दण्डी लोगतो प्रायः कर आदमी साथ रखते उनसे नैमित्तिक अपक्व भोजन बहर कर खा लेते जिसका प्रमाण ब्रमोपणा नम्बर २ के उत्तर में लिख चुके हैं। अब कहिए कौन स्वाद के लोभ से तोंद बढ़ानेके लिए अच्छे २ भोजन खाने में अग्रसर हैं। पाठक स्वयं ही तिष्कर्ष निकालें।

आगे चल कर दण्डीजी इसी पेरेमें लिखते हैं कि 'गरीष्ठ भोजन खाकर उनके मुट्ठे भैंस की तरह गुणाकार मल आवे जैसी पतली दस्त होती है।

दण्डीजी तो मलद्वार के आचार्य ही निकले श्वे०स्था० जैन मुनि के पाखाना फिरने पर माड़ लेकर टट्टी साफ करने जाने वाले की नाई आपने अनुभव सिद्ध बात लिख मारी। अस्तु, दण्डीजी ! आप तो इस विषय के पण्डित हो हैं क्या आप कह सकते हैं कि पतली दस्त होने पर गुदा को कष्ट नहीं होता और मुट्ठे जैसा मल निकलने पर गुदा को बहुत कष्ट होता है ? तो क्या दण्डीजी की गुदा से बहुत परिश्रम करने पर रेंग २ कर मल निकलता है जिससे श्वे० स्था० जैन मुनि को पतली दस्त होना लिख मारा ?

आगे चल कर दण्डीजीन उसी पेरे में लिखा है कि— "शीतकाल में ५—७ बार रात्रि में पेशाब करना पड़ता है ऐसी दशा में (श्वे०स्था०) साधु अपने शरीर के लिए रात्रि को जल नहीं रखते हैं।"

दण्डीजी ! यह तुम्हारा लिखना थोथा है। क्या दिन में पेशाब रुक जाता है जिससे रात को ५ ७ बार पेशाब आता है ? और आता है तो क्या श्वे० स्था० जैन मुनियो के ही ? क्या दण्डी लोगों के पेशाब नही उतरता या अन्य द्वार से उतरता है ? अस्तु। इस विषय पर विशेष उल्लेख समय पर करेंगे। पर हम दण्डो लोगों से पूछते हैं कि क्या दण्डी लोग पेशाब करने के बाद पुरुष चिन्ह को जल से धोते हैं ? कभी नहीं क्योंकि दिन रात मे कई वक्त पेशाब करते हैं पर पुरुष चिन्ह धोने का खुलासा हमने दण्डी लोगों व उनके अनुयायियो से आज तक नहीं सुना और वास्तव में पूछा जाय तो दण्डी लोग पेशाब करके पुरुष चिन्ह को धोते भी नहो फिर शुचि किससे करते होंगे ? शायद पेशाब निकलने वाले छिद्र पर रेती की मालिश करते होंगे और उसी से शुचि मानते होंगे। क्या दण्डोजी ! तुम्हारे कथनानुसार तो जल के बिना पुरुष चिन्ह का अशुचि में रहना सिद्ध हुआ। यदि हाथ धो लेने पर शुचि होगई ऐसा मान लोगे तो तुम्हारी मूर्खता सिद्ध होगी क्योंकि केवल हाथ धोलेना अधुरी शुचि है जैसे पाखाना जाने पर हाथ और गुदा दोनों को जल से धोने पर शुचि होती है और इस बात को आवाल वृद्ध सभी जानते और मानते हैं फिर दण्डी लोग केवल हाथ धोकर शुचि मान ले यह उनकी बड़ी भारी भूल है।

महोदयो ! दण्डी लोग शुचि २ चिल्लाते हैं पर शुचि करते नहीं यह उनकी अज्ञानता है। करना कुछ और लिखना कुछ यह मायावी लोगों का काम है।

हा एक बात और कहना रह गई, दण्डी लोगों के पच प्रतिक्रमण सूत्र के पृष्ठ ४८० पर दण्डी लोगो के लिए अनिष्ट मूत्र पीना लिखा है तो यह बड़ी मुसालेदार बात है कि पेट में पेशाब गए बाद शुचि किस प्रकार करते होंगे ? महोदयो ! इस विषय पर यहा विशेष उल्लेख न कर आगे इसकी चर्चा की जायगी।

दयाजी! पहिले के तपस्वी, ध्यानी ज्ञानी साधुओं का अनुकरण करना यही चारित्र का मूल मंत्र है। और उसी का अनुकरण करने के लिये मनको पचन्ने रखे गए और आज भी पूर्वजों का अनुकरण करने के लिये सैकड़ों इतिहास तैयार हो रहे हैं। वे इतिहास पूर्वजों के सदश शूर, वीर, धीर होने का उपदेश दे रहे हैं। कौन ऐसा मतिमन्द है जो अपने पूर्वजों का अनुकरण न करता हो यदि कोई आज पहिले के तपस्वी ध्यानी ज्ञानी पूर्वज साधुओं का अनुकरण नहीं करेगा तो उस चारित्री (साधु) कौन कहेगा ? जिस प्रकार पहिले के साधु श्वेत वस्त्र पहनते थे उसी का अनुकरण कर आज भी सूत्रों में श्वेत वस्त्र पहिनने का उल्लेख है। उसी प्रकार पंच महाव्रत छट्ठा रात्रि भोजन निवृत्ति व्रत आदि सभी कुछ साधु की क्रिया पहिले जैसी अभी भी करने का जगह २ उल्लेख है तो फिर कहिए दयाजी! पूर्वजों का अनुकरण करने में ऐसा कौन मूर्खों का सरदार है जो दोष कह बैठेगा ? जिसको कुछ भी ज्ञान एवम् ऐतिहासिक जानकारी होगी वह तो पूर्वजों के अनुकरण में कभी दोष न कहेगा।

जिनागमों में अनेक जगह पहिले जैसे साधु का अनुकरण नहीं करे तो उसे पापी और कुलिंगी साधु कहा है।

दयाजी! पहिले के साधु स्त्री को नहीं छूते थे इसी प्रकार उनका अनुकरण करने वाले साधु स्त्री का स्पर्श नहीं करते हैं। बस इसीको अनुकरण कहते और इसी प्रकार अनुकरण करने वाले को साधु कहते हैं। अतएव अनुकरण करने में ही चारित्र है। तात्पर्य यह है कि पहिले के तपस्वी ज्ञानी, ध्यानी साधु रात्रि को जल नहीं रखते थे उसी प्रकार अब भी साधु सूत्रानुसार जल नहीं रखते हैं।

दयाजी! जैन सूत्रों में जैन मुनियों के लिये रात्रि को चारों ही प्रकार के आहार खाना या अपने पास में रखना मना है और इसी आज्ञा को दृढ़ मूल करने के लिए भगवान् ने दूसरी बार भी आज्ञा

प्रतिपादन की कि चारों ही प्रकार के आहारों में से किंचित्मात्र भी अ
जल रात को जैन मुनि अपने पास नहीं रक्खे। इन दोनों आज्ञाओं
रात का खान पान और पास रखना भी निषेध हो चुका। दण्डी
किस आधार पर रात को अपने पास जल रखते हैं यह नहीं स
आता, यह उनका केवल हठाग्रह है।

यदि दण्डी लोग कहेंगे कि रात को जल पीने के लिये र
निषेध है किन्तु शुचि के लिये रखने का निषेध नहीं है। यह भी
लोगों की हठ बुद्धि है। क्योंकि सूत्र में सर्वथा प्रकार से अपने
अर्थात् काम मे लाना मना किया है तो फिर शुचि के लिये जल
बाकी कहां से रह गया? रात को खाना पीना नहीं और पास भी
नहीं इन दोनों स्पष्ट आज्ञाओं से ज्ञात होता है कि कोई मुनि श
पर ममत्व ला असह्य कष्ट होने पर प्रासुक अन्न जल देख
स्वल्प दोष को समझ सेवन करले पौष्टिक पाक या औषधादि
लेपादि का उपयोग कर लेवे, जल पी लेवे, या धाने धाने के का
लेवे इसलिये भगवान् ने खाने पीनेकी वस्तु मात्र रातको पास रख
उसे अपने काम मे लाने को सर्वथा मनाई की है।

महोदयो! भगवान् की इस प्रकार आज्ञा होने पर श
विशुद्ध चारित्री साधु अन्न जल रात में पास रख कर भोग में
ही नहीं किन्तु वे अपने पास रखने की मन करके भी बाञ्छा नह
और न ऐसे मुनि विहारादि करते समय वनादिक में नदी तल
सचित जल पीने को इच्छा ही करेंगे। इनके विरुद्ध भगवद्
विराधक उत्सूत्र भाषी कुलिंगी साधुओं के लिये तो कहना ही
वे तो अन्न जल औषधि आदि रात में अपने पास रख भी
कष्टादि के समय जल एवम् औषधि रात को भोग भी ले तथ
करते समय मार्ग में नदी तालावों का कच्चा जल पी भी लें तो ऐसे
के सामने प्रभु आज्ञा करे भी तो क्या?

आगे चल कर दण्डीजी ने उसी पैरे में लिखा है कि "चून
हुआ पानी पीने से जबान, कण्ठ, कलेजा फट जाता है।"

वाह! दयवीजी! खूब लिखा, भला चूना वाला हुआ पानी पीने से जबान, कण्ठ, कलेजा फट जाता है तो चूने वाले जल से गुदा धोने पर गुदा नहीं फट जाती होगी? अस्तु।

इस विषय पर विशेष लिखना उचित नहीं समझते। पाठक इसके भाव इतने ही पर से ताड़ जावें। दयवीजी! भगवदाज्ञा के विरुद्ध रात को जल औषधादि अपने पास रखने वाले साधु रात को वमन होने पर मुंह भी साफ करलें तो इसमें आश्चर्य ही कौन सा है? क्योंकि जो लोग प्रभु आज्ञा के विरुद्ध रात में अपने पास जल रखने में किंचित् मात्र भी नहीं हिचकिचाते उन्हें रात में पास रखे हुये पानी से कै किये हुए मुंह को धो लेने में क्या आपत्ति रहेगी? इसलिये साधु को रात में जल अपने पास नहीं रखना ऐसा लिखना और कहना जैन मुनियों का शास्त्र सम्मत है।

आगे चल कर दयवीजी लिखते हैं कि आचार्य ने चौविहार उपवास करने वाले साधु को कभी कै हो जाने पर बार २ थूक २ कर मुंह साफ कर लेना लिखा यह भी दयवीजी का लिखना अज्ञानताका है क्योंकि उल्टी (वमन) किया हुआ अशुद्ध आहार ओष्ठ आदि के बाहर और भीतर लगा हुआ रहता है वह किससे साफ किया जाय? थूक देने से तो साफ नहीं होगा क्योंकि जैसे विष्टा से गुदा भर जाती है वैसे ही उल्टी से मुंह भर जाता है वह कपड़े आदि से पूछने पर ही साफ होगा न कि थूक देने से। इसलिये दयवी लोगों का मुंह और श्वे० स्था० जैन मुनियों की गुदा इन दोनों की पवित्रता रूप कार्य एकसा होने के कारण जैसे रात को उल्टी वाले मुंह को वस्त्र रुंई आदि से साफ कर दिन उगे बाद जल से साफ कर लेना योग्य समझते हैं इसी प्रकार जैन मुनि के रात में टट्टी का काम पड़ने पर वे वस्त्र राख आदि से साफ कर लेते हैं और दिन उगे बाद दूसरा साफ करना साधु प्रासुक जल लाकर विशुद्ध करता

देता है इसलिये भगवदाज्ञा के विरुद्ध रात में जल पास रखना उचित नहीं है।

आगे चल कर दण्डीजी ने लिखा है कि "काठियावाड़, दक्षिण वगैरह देशों में फिरने वाले कई (स्थानकवासी) साधु रात को जल रखने लग गए हैं।"

इस प्रकार का दण्डीजी का लिखना बिलकुल मिथ्या है। क्योंकि जिनाज्ञा के पालक मुनि तो कोई भी रात में पानी पास रखना तो क्या, पास रखने की इच्छा भी नहीं करते हैं।

आगे चल कर दण्डीजी ने रिखरामजी महाराज के बनाये हुए सत्यार्थ-सागर की पृष्ठ ४३७ से ४४० तक की नक़ल लिखी है वह भी युक्ति युक्त नहीं है। क्योंकि चारों ही प्रकार के आहार को रात में अपने पास रखने के लिये भगवान् ने जैन मुनियों को निषेध किया है अतएव रिखरामजी का लेख सूत्र विरुद्ध होने से असमंजससा एवम् अमान नीय है। ऐसे लेखों को हम प्रमाण भूत नहीं मानते हैं और उनके लेख में कुतर्कें दी उनका उत्तर हम पहिले लिख चुके हैं इसलिये यहां फिर पिष्ट पेषण करना ठीक नहीं समझते हैं।

आगे चल कर दण्डीजी ने कनीरामजी कृत जैन धर्म ज्ञान प्रदीप का उदाहरण दिया, यह भी दण्डीजी की निरक्षरता का सूचक है क्यों-कि कनीरामजी कृत पुस्तक का जो प्रमाण दिया है उसमें रात में पानी रखने का लेश मात्र भी कथन नहीं है। उसमें तो कनीरामजी ने केवल १४ स्थान के जीवों का कथन किया है न कि रात को जल रखने का। फिर दण्डीजी ने इसे प्रमाण रूप में पेश कर जनता को भुलावे में डालने का अक्षम्य अपराध किया है।

आगे चल कर दण्डीजी ने लिखा है कि "इन लोगो का रात्री में जल नहीं रखना यह जिस तरह अनुचित है उसी तरह रखना भी बुरा है क्योंकि वर्तमानिक इनका धोवण प्राय जीवाकुल है।"

यह भी दण्डीजी का लिखना महा मिथ्या है क्योंकि भगवान् की आज्ञानुसार रात में पास जल रखना नहीं यह उचित है किन्तु भगव दाज्ञा के विरुद्ध रात को पास जल रखना अनुचित है। यह अनपढ़ जन भी जान सकता है कि जो भगवान की आज्ञा का पालन करते हैं वही उचित है अतएव दण्डीजी का लिखना अनुचित हुआ। इसका विशेष खुलासा इसी घोषणा में प्रथम लिखा जा चुका है। अब धोवण जीवाकुल लिखा यह भी दण्डीजी का लिखना सूत्रानुसार विरुद्ध है क्योंकि सूत्रों में जैन मुनियों को धोवण पीने का भगवान् ने हुक्म दिया है और धोवण कितने प्रकार का होता है यह भी बतलाया है, तो फिर दण्डीजी! यदि धोवण जीवाकुल होता तो सर्वज्ञ भगवान् धोवण पीने की आज्ञा क्यों देते? अस्तु, इसका विशेष खु लासा आदिर उद्घोषणा नं० २ के उत्तर में सविस्तर हो चुका है अतएव पाठक वहां देख कर दण्डीजी का झूठ को परख लें।

आगे चल कर दण्डीजी ने उसी पैरे में चूना डाला हुआ पानी रात में रखने का लिखा यह भी दण्डीजी के लिये विचारणीय है क्योंकि जैसा दण्डीजी ने पहिले चून के पानी से कण्ठ कलेजा आदि को व्याधि होना लिखा है उसी मुआफिक क्या मुंह को व्याधि नहीं होगी?

आगे चल कर दण्डीजी ने लिखा है कि "रात्रि में कितना २ जल रखना आदि० इसका कोई वचन प्रमाण सूत्र में नहीं है इसलिये रखना योग्य नहीं" यह भी अनसमझ की बात है।

यह लिखना दण्डीजी का सरासर अज्ञानता का है क्योंकि कौन ऐसा श्वे० स्था० जैन मुनि होगा जो भला सूत्र में पानी रात को रखने का निषेध होने पर भी जल रखने का वचन और प्रमाण मांगेगा? जब सर्वथा रखना ही निषेध हो चुका तो फिर वचन और प्रमाण किसके लिये मांगा जाय?

आगे चल कर दण्डीजी ने उसी पैरे में बतलाया है कि "जितने

जल से तृषा शांत हो सके उतना जल पीकर अपनी तृषा शांत करले इसका कोई वजन और प्रमाण नहीं इसी तरह से जितने जल से शुचि होसके उतना जल रात्री मे रख ले।"

महोदयो! इस प्रकार लिख कर दण्डीजी काला अक्षर भैंस बराबर वाली कहावत चरितार्थ कर रहे हैं। क्योंकि उनको उनके माननीय सिद्धान्तों का भी बोध नहीं है। देखिये, दण्डी लोगों के माननीय और उन्हीं की ओर से प्रकाशित व्यवहार सूत्र के पृष्ठ पर जो भी दिन में शुचि के लिये तीन पसली ही पानी लेना लिखा है तो फिर इन दण्डी लोगों के माननीय सिद्धान्त को त्याग शुचि के लिये कितना जल होना चाहिये, अन्य प्रमाण की क्या आवश्यकता रही? अतएव शुचि के लिए जल का प्रमाण नहीं ऐसा लिखना दण्डीजी का नितान्त मिथ्या है।

आगे चल कर दण्डीजी ने लिखा है कि "रात्रि में जल रखने पर भी जल ढुलने पर या बहुत दस्त लगने पर अशुचि रहना पड़ता है यह भी श्वे० स्था०) साधुओं की अनसमझ की बात है।"

फिर भी दण्डीजी का उक्त कथन अनभिज्ञसा है क्योंकि जो प्रश्न सिद्धान्तों से बाधित हो चुका उसीको बार २ दुहराना पहिले दर्जे की नादानी है। जब जल रात को रखना ही शास्त्र सम्मत नहीं तो फिर ढुलने का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है? यह तो हम पहिले ही बतला चुके हैं कि रात बीतने पर सूर्योदय होवे ही शुचि कर लेना मुनि का खास मन्तव्य है, बिना शुचि किए शास्त्र का एक अक्षर भी पढ़ना उचित नहीं है और जो जैन मुनि नाम धरा कर सूत्र के विरुद्ध रात को पास में जल रखते हैं उनके लिये तो यह प्रश्न सहज ही खड़ा हो सकता है कि रात को रखा हुआ जल ढुलने पर क्या करते होंगे? इसी सवाल को हल करने के लिये दण्डीजी ने आगे चल कर उसी पैरे में लिखा है कि —

"साधु साध्वी और संवेगी साधु साध्वी हमेशा रोजीना आहार

पानी लाते हैं परन्तु सब ढुल कर सब पात्रे खाली होगए ऐसा आज तक देखने में और सुनने में कभी नहीं आया।

दयड़ीजी! लिखने के प्रथम स्कूल जाकर कमसे कम इतना तो अवश्य सीख लें कि कैसा दृष्टान्त कहां पर सम्बन्धित होता है! पात्रे ढुलने का दृष्टान्त आहार (भोजन) ढुलने पर लगाना मूर्खता नहीं तो और क्या है? कहीं भोजन भी झोली में ढुल सकता है! यदि झोली के पात्र झोली में टेढ़े भी हो जायं तो पात्र से निकल कर भोजन झोली में रुक सकता है और पानी ढुलने पर तो न पात्र में बच सकता है और न झोली में रुक सकता है! इसी प्रकार दयड़ी लोगों का रात्री को रखा हुआ जल पात्र फूटने पर या औंधा होने पर नहीं बच सकता है। सैकड़ों मनुष्य यह जानते और मानते हैं कि घट फूटने पर उसमें पानी नहीं रुक सकता। इसलिए दयड़ी लोग वैसे समय जल ढुल जाने पर रात को शौच क्रिया से निवृत्ति हो सुबह शुचि कर सकते हैं। वैसे ही श्वे० स्था० जैन मुनि प्रातःकाल शुचि क्रिया कर सकते हैं।

आगे चल कर दयड़ीजी लिखते हैं कि—"साधुपने से पीछे भ्रष्ट हो जावे उनको देख कर कोई भी दूसरे दीक्षा न लें यह नहीं होसकता।"

दयड़ीजी! यह लिखना तुम्हारी अनभिज्ञता सिद्ध करता है और वर्तमान समय के प्रतिकूल भी है। क्योंकि देखिये, दयड़ी लोग भी और श्वे० स्था० भी उन साधु वृत्ति से पतितों की कथा सुन कर चकित हो चौंक जाते हैं और दीक्षा देने में बड़ी सावधानी रखते हैं। अखबार वाले भी पुकार कर कह रहे हैं कि जैसे वैसे को एक दम दीक्षा न दी जाय। ऐसा होने का सिर्फ यही मतलब है कि बिना वैराग्य के दीक्षा लेने वाले कुछ समय पश्चात् ही संयम की कठोर वृत्ति पाल नहीं सकते और पतित होजाते हैं और इसीलिये वर्तमान समय को लक्ष रख दीक्षा लेने वाले और देने वाले दोनों संकोच करते रहते हैं। अतएव "दूसरे दीक्षा न लें यह नहीं हो सकता" ऐसा दयड़ीजी का लिखना नितान्त मिथ्या

है। और देखिये दराडीजी! व्यापारी लोग भी जिस प्रकार व्यापार मे घाटा हो जाने पर उस व्यापार को बन्द कर देते हैं तो फिर जिसने व्यापार करनेके त्यागही कर लिये वह चाहे लाख घाटा हो या नफा कभी व्यापार नहीं कर सकता। अतएव "घाटा लगने पर व्यापार नहीं छोड़ सकता।" ऐसा लिखना दराडीजी का भ्रम पूर्ण है।

आगे चल कर दराडीजी ने उसी पैरे मे घाटा लगने पर व्यापार नहीं छोड़ सकता इसी दृष्टान्त को लेकर लिखा है कि—"साधु के सब जल ढुल जाने का किसी तरह से मान लिया जावे तो भी उसको देख कर" (श्वे० स्था०) साधु हमेशा रात्रि को कभी जल न रक्खें और दस्त लगने पर जान बूझकर अशुचि रहें यह कितनी भारी अज्ञानता है।"

सज्जनों! इस प्रकार दराडीजी का लिखना महा अज्ञानता का द्योतक है और उनको अनन्त ससार परिभ्रमण करने का जल प्राप्त होने वाला है विशेष लाभ कुछ नहीं क्योंकि व्यापारी को व्यापार के त्याग होने पर वह घाटा लगे या कमाई हो, उस व्यापार को कभी नहीं करेगा और जिस जाति में ठेठ से जिस व्यापार का करना कतई निषेध किया है उसका वह व्यापार कभी नहीं कर सकता इसलिये जिस प्रकार व्यापारी व्यापारके लाभ हानि की पर्वाह न कर त्याग होनेसे वह व्यापार नहीं कर सकता इसी प्रकार जैन साधु समुदाय रात्रि में अपने पास पानी रखने का त्याग होने से चाहे मरणांत कष्ट क्यों न हो चाहे और कुछ विपद् क्यों न आती हो रात्रि में पास में जल नहीं रक्खेंगे। फिर भी देखिये—"जैन साधुने जबसे साधु वृत्ति ली तबही से रात्रि को पास में जल रखने का त्याग है इसलिये जैन श्वे० सर्व साधु समुदाय को रात्रि में अपने पास पानी रखना मना हो चुका फिर वह रात्रि में पानी रक्खेगे ही कैसे? और जब रक्खेंगे ही नहीं तब ढुलेगा क्यों कर? अतएव 'जल ढुल जाने को देख कर" आदि २ दराडीजी का लिखना सरासर सूत्र विरुद्ध है और नितान्त मिथ्या है। कोई भी श्वे० स्था० जैन मुनि

ऐसे नहीं हैं कि अस बुझ बाम का देखकर रात में जल नहीं रखते हों। वे तो केवल भगवान की आज्ञानुसार ही रात्रि को पास में जल नहीं रखते हैं। और न श्वे० स्था० मुनि अशुचि ही रखते हैं। केवल; बरडी जी का लिखना ही महा अज्ञानता का है क्योंकि श्वे० स्था० जैन मुनि तो शुचि कर पवित्र ही रहते हैं जिसका विस्तृत खुलासा प्रथम कर चुके हैं।

आगे चलकर बरडीजी ने उसी पैरे में लिखा है कि (श्वे० स्था०) साधुओं का रात्रि में दस्त होने पर उनकी शुचि के लिये फजर में जल लाकर शुचि करवाने की दूसरे साधु व्यवस्था नहीं करते।"

महोदयो! बरडीजी कोरे लिफाफे हैं। असत्य बात कहने की इन्हें बान सी है। ये मिथ्या बात लिख कर संसार में अपना नाम प्रसिद्ध करना चाहते हैं नहीं तो ऐसी असंगत बातें लिख कर मनुष्य कर्त्तव्य पर कुठाराघात नहीं करते। जिन्हें झूठ बोलने और झूठ लिखने की आदत है वे अपनी आदत से कैसे बाज आ सकते हैं? परन्तु विद्वानों की दृष्टि में वे बहिष्कृत और गपोड़ी समझे जाते हैं। क्योंकि स्था० सम्प्रदाय मात्र तो अकस्मात् रात को दस्त लगने पर दूसरे साथ वाले मुनि द्वारा जल मंगवा कर सूर्योदय होते ही शुचि होने की व्यवस्था कर लेते हैं।

१२—आगे चल कर बरडीजी ने लिखा है कि—" (श्वे० स्था० साधु) कहते हैं कि ठाणांग सूत्र के पांचवें ठाणे के ३ रे उद्देशे में पाँच प्रकार की शुचि लिखी है उस मुजब हम को अब रात्रि में दस्त लगे तब शुचि कर लेते हैं।

बरडीजी! तुम्हारा यह लेख मिथ्याभाषी होने का सबूत दे रहा है क्योंकि 'उस मुजब हमको रात्रि में दस्त लगे तो शुचि कर लेते हैं।" ऐसा कोई भी श्वे० स्था० जैन मुनि नहीं कहता है और न इनकी रचित पुस्तकों में कहीं ऐसा प्रमाण है, फिर बरडीजी ने ऐसा अनुचित गपोड़ बाम का प्रयास कैसे किया? ठाणांग सूत्र जी में मट्टी, जल अग्नि,

मंत्र, ब्रह्मचर्य ये पांच प्रकार की शुचि लिखी हैं उसको लोग व्यवहार में ला ही रहे हैं। मट्टी (धूल) से टट्टी फिरने पर गुदा साफ हो ही नहीं सकती। कौन ऐसा महामूढ़ है जो कि धूल से गुदा का शुचि होना कहना या लिखता हो। हां, यह बात तो जग प्रसिद्ध है कि जल से गुदा की शुचि होती है और इसी तरह श्वे० स्था० जैन मुनि भी जल से शुचि करते हैं। मिट्टी से तो लोग वर्तन आदि की शुद्धि करते हैं। फिर दण्डीजी का लेख सरासर मिथ्या ठहरा न ? अतएव दण्डीजी का मिथ्या लेख प्रपचों से भरा हुआ है।

१३—आगे चल कर दण्डीजी लिखते है कि.—"(श्वे० स्था०) कहते हैं कि बृहत्कल्पसूत्र में और व्यवहारसूत्र मे मूत्र लेने का लिखा है। इसलिये हम भी कभी काम पड़ जावे तो उससे अपना काम कर लेते हैं।"

दण्डीजी ! झूंठ की संख्या बढ़ाते ही जाते हो। क्योंकि "हम भी कभी काम पड़ जावे तो उससे काम कर लेते हैं।" ऐसा श्वे० स्था० जैन साधु न तो कहते हैं और न उनके प्रकाशित ग्रन्थों में कहीं ऐसा उल्लेख है।

महोदयो ! दण्डी के सफेद झूंठों को गिनती लगाइये। इन्होंने झूठी २ बातों से पोथा लिख ही डाला है। किसी कवि ने कहा है कि— "मापेसु कति कृष्णा विचिच्यन्ते" अर्थात् उड़दों न से काले उड़द निकाल दो। बस इसी तरह दण्डीजी के लेख का हाल समझिये।

आगे चल कर दण्डीजी ने उसी पैरे में बताया है कि "कष्ट वाले रोगी का जीव वैद्य ने अपवित्र वस्तु खिला कर बचा लिया।"

दण्डीजी ! ये घृणा की बातें तुम्हे अत्यन्त पसन्द हैं। पर हम तो इन्हे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। क्या दण्डी लोगों में मरणान्त कष्ट पड़ने पर मूत्र पीकर व्याधि मिटा लेते हैं ? क्या आपमें मूत्र पीना मना

है ? अगर मना होता तो उसकी स्तुति यहां नहीं हो जाती। क्या आप के पंचप्रतिक्रमणसूत्र के पृष्ठ पर सर्व अनिष्ट जाति का मूत्र पी लेना नहीं लिखा है ? क्या आपने आपका माननीय पंचप्रतिक्रमणसूत्र देखा है ? सच पूछो तो यह अमोरियों का कृत्य है। भगवान् ऐसा काम किसी से स्वप्न में भी न करवावे। रोग में वैद्य कभी मांस खाना बता दे तो क्या सब ब्राह्मण, बनिये मांस खावेंगे ? कभी नहीं। दण्डीजी का लेख ही गन्दा और अपवित्र है।

आगे चल कर दण्डीजी उसी पैरे में लिखते हैं कि—"मूत्र को शुद्ध समझ कर दवा लगाने पर मूत्र से व्यवहार करते हैं।

दण्डीजी ! स्वयं जिस बात के मानने वाले हो उसे दूसरों पर डाल कर अनुचित लाभ उठाना चाहते हो, यह तुम्हारी अज्ञानता है। क्यों कि मूत्र को शुद्ध समझ कर उसका व्यवहार करना तो तुम्हीं ही दण्डी लोगों को मुबारिक है। कारण कि तुम्हीं लोगों ने सर्व जाति के अनिष्ट मूत्र को शुद्ध समझा होगा तभी तो उसको पीने के लिये पौषध व्रत में स्वीकार कर रखा है यह तुम्हारे लिये कितनी लज्जास्पद और घृणास्पद बात है ?

१४—आगे चल कर दण्डीजी लिखते हैं कि—"मूत्र का उपयोग करलें तो उसमें कोई पाप नहीं है।"

दण्डीजी ! यह लेख तुम्हारा कूट नीति से लबालब भरा हुआ है। क्योंकि "मूत्र का उपयोग कर लें तो उसमें कोई दोष नहीं है" ऐसा न तो हम कहते हैं और न हमारी रचित पुस्तकों में ही कथित है। न जानें फिर दण्डीजी ने यह विचित्र गप्प कहां से हांकी ? क्या दण्डीजी के कपाल में गप्पों का खजाना भरा है ? या अनिष्ट जाति के मूत्र पीने की बात को दबाने के लिए दूसरों को मिथ्या बातें कह २ कर आप ओट में छिपना चाहते हैं ? लेकिन ऐसा कभी नहीं हो सकेगा और सच बात अवश्य प्रकट होगी।

आगे चल कर दण्डीजी ने उसी पैरे में लिखा है कि—"भर पेट अन्न खाने वाले को रात्रि में दस्त लगना। महान् कारण नहीं, किंतु स्वाभाविक नियम की बात है।"

महोदयो! दण्डीजी वैद्य भी बन गए। वैद्यक के ग्रन्थ ढूंढ २ कर क्या ही पते की बात बताई है। अगर सभी भर पेट खाना खाना न छोड़ेंगे तो दस्त से नदी बहने लग जायगी और दण्डीजी को वृथा ही तकलीफ होगी। अतएव पर उपकारार्थ उनने सच्चो औषधि बताई है। पाठक कभी भर पेट अन्न न खावे।

दण्डीजी! मूर्ख भी कहते हुए शरमायगा कि भर पेट खाने वाले के लिये रात में दस्त लगना स्वाभाविक नियम सा ही है? पर आप नहीं हिचकिचाये। आपको तो पोथा भरना और नाम पानाथा न? बिना गप्प छोड़े गप्पीनाथ को कभी चैन पड सकती है? पर ऐसे मूर्ख ससार में कम हैं, जो ऐसी असत्य बातों पर ध्यान दें।

फिर देखिये। श्वे० स्था० जैन मुनि तो सायंकाल को अनोदरी करते हैं अर्थात् भूख से पहिले ही कम खाते हैं। जिससे रात्रि को दस्त होने की आशका ही नहीं रहती। पर दण्डी लोग तो नैमित्तिक स्वादिष्ट भोजन की चाट पर खुब डाट २ कर खाते होंगे जिससे उन्हें रात्रि में दस्त लगने की आशका अवश्य बनी रहती होगी और दण्डीजी ने स्वयं तो आपने अनुभव भी कर लिया होगा। तभी तो आपने स्वाभाविक नि.म वाली बात बताई है। अस्तु।

दण्डीजी! मूत पीना तुम्हारे यहा लिखा है तो क्या जठराग्नि पानी से प्रदीप्त नहीं हो सकती, इसलिये मूत्र का व्यवहार कर उसे प्रदीप्त करना चाहते हो? या और कोई अन्य कारण है? परन्तु चाहे जो हो, यह कार्य है सर्वथा जिनाज्ञा विरुद्ध, जैनागम विरुद्ध, और ससार के व्यवहारके भी प्रत्यक्ष विरुद्ध है। कौनसा ऐसा शास्त्र है जिसमें मूत्र पीना व्यवहार शुद्ध समझा गया हो? अतएव जैनागमों को लज्जित करने

बाजे मूत पीनेके घृणित व्यवहार को निन्दनीय और अनुचित समझकर ढूंढकी लोग यदि इस त्यागेंगे तो उत्तरदाता अपना प्रयत्न सफल समझेगा।

१५—आगे चल कर ढ़ढ़ीजी लिखते हैं कि—"(श्वे० स्था०) श्रावक श्राविका को रात्रि में दस्त का कारण बन जावे तो अनुचित व्यवहार कर लेते हैं।"

ऐसा लिखना ढूंढ़ीजी का ओत प्रोत मिथ्या है क्योंकि कोई भी श्रावक श्राविका दस्त होने पर अनुचित व्यवहार नहीं करते। बस ढूंढ़ीजी का लिखना ही धृष्टता का है।

ढूंढीजी ! श्वे०स्था० जैन श्रावक श्राविका तो अनुचित व्यवहार नहीं करते हैं पर ढूंढो लोग मूत्र पीने का सप्रमाण अनुचित व्यवहार करते हैं। क्या यह धर्म है ? गन्दा व्यवहार करने से धर्म कभी नहीं हो सकता। प्रत्युत ढूंढो लोगों की बुद्धि मलीन हो जाती है और जैन शासन की अवहेलना रूप महान् अधर्म पैदा होता है। ऐसा अघोरी अधर्म परित्याग करना ही अच्छे आदमियों का काम है।

आगे चल कर ढूंढीजी ने साधु गुण परीक्षा के दृष्टान्त को लिख कर खण्डन करने का साहस किया है। यह भी ढूंढीजी की भारी चंचलता है। क्योंकि जो दृष्टान्त उस पुस्तकमें दिया है वह अकाट्य है। यदि ढूंढीजी के बाप भी परलोक से आकर उस दृष्टान्त को काटना चाहें तो नहीं कट सकता है।

१७—आगे चल कर ढूंढोजी ने बताया है कि "कभी ब्राह्मण को वैसा कारण बन जाए तो गांव में गए बाद शुचि हो "

ढूंढीजी ! यह ठीक है। जैसे ब्राह्मण अटवी जंगल में जल के अभाव में दस्त होने पर अशुचि रहता है और फिर जहां जल मिलता है वहां जाकर शुचि होता है। उसी प्रकार जैनमुनि भी सूर्योदय होने पर जल से शुचि अवश्य कर लेते हैं। ढूंढीजी को इसके लिए भ्रम भी आर

श्यकता नहीं इस विषयमें दण्डीजीने काले कागज करजो अपनी नाक ऊंची रखना चाही है, वह निरर्थक है। प्रायश्चित्त विधि तो दण्डीजी के बत्तीस सूत्रों की तरह हमारे यहाँ भी है। क्योंकि ३२ सूत्र तो तुम्हें और हमे एक से मान्य हैं। फिर दण्डीजी को लिखते शर्म नहीं आई कि—'प्रायश्चित्त की विधि भी .... के शास्त्रों में नहीं है।" अतएव ऐसा लिखना दण्डीजी का नितान्त मिथ्या है।

आगे चल कर दण्डीजी ने उसी पैरे में लिखा है कि—"मत्र ब्राह्मण समाज हमेशा ही जल बिना शौच करने को कभी स्वीकार नहीं कर सकता।"

अरे अविवेकी दण्डीजी! जल के अभाव मार्ग में तो जितने और जिनको दस्त होंगे वे उसी प्रकार अपना मार्ग तय करके जल के पास आकर शुचि करेंगे और हे मूढमते! जल बिना शुचि होना कौन मूढमति मानता है? हां, तुम्हारे यहाँ भले ही जल बिना शुचि मानी हो। और अगर यह बात सच हो तो तुम्हारा यह अवश्य लज्जनीय और घृणित व्यवहार है।

आगे चल कर दण्डी ने उसी पैरे में लिखा है कि—"अटवी, युद्ध, दुष्काल वगैरह आफत काल में किसी ने अपने प्राण बचाने के लिये मरे हुए मनुष्य का मास खाकर व खून पीकर अपना जी बचा लिया वा किसी ने कुत्ते कौवे आदि को खा लिए।"

दण्डीजी! ऐसा लिख कर तुम ससार भर के हास्य पात्र बन बैठे। क्योंकि उत्तम ब्राह्मण, बनिये तो दुष्काल युद्ध या आफत कैसी भी क्यों न हो पर मॉस कभी नहीं खा सकते और न खून पी सकते हैं। प्राणों की परवाह करके मास व खून का आहार करना सच्चे मनुष्य का कर्तव्य नहीं है और कौए कुत्ते का मांस तो मास भक्षी मनुष्य भी नहीं खा सकता तो शाकाहारी ब्राह्मण, बनियों को मास व खून खाते पीते

लिख कर ढूंढ़ीजी ने स्वयं अपने हाथ से अपने मुँह पर कालिमा पोत ली है।

फिर भी ढूंढ़ीजी ज़रा सोचिये! पाखाना होने पर मांस, खून खाने पीने का दृष्टान्त देना, यही तुम्हारी निरी निर्विवेकता है। क्योंकि खाना, पीना तो अपने आधीन है पर दस्त होना अपने आधीन नहीं है। दस्त तो न मालूम कब और कहां लग जाय। और मांस खाना व खून पीना न पीना अपने आधीन है। जबरन मुंह में आकर गिरता नहीं है। अतएव चाहे जैसा क्यों न प्राणांत कष्ट हो। उत्तम मनुष्य ब्राह्मण, बनिये तो मांस व खून कभी नहीं खा पी सकते। इसीलिए ढूंढ़ीजी का लेख ही ढूंढ़ीजी को एवम् संसार भर को निगुरा बनने को प्रोत्साहित करता है। अतः ढूंढ़ीजी का लिखना बड़ी मूर्खता का है। बस, इसी पर से ढूंढ़ी लोगों का शुचि नहीं करना लिखना, सरासर मिथ्या साबित होता है।

देखो! जल के अभाव में दस्त लगने पर व कुछ देर तक जल का योग न मिले वहां तक शास्त्रोक्त विधि की शुचि न रहने में ही ढूंढ़ी लोग झूठी २ बातें लिख कर अपनी विद्वत्ता दिखाने में अग्रसर बन बैठते हैं। पर ढूंढ़ी लोगों के माननीय मत के प्रमाण से मूत्र पीने को ढूंढ़ी लोगों में जो चाल पड़ी हुई है उसकी शुचि अर्थात् पेट में मूत्र गए बाद मुंह और पेट की शुचि ढूंढ़ी किस प्रकार करते होंगे? भला दस्त लगने पर और जहां तक जल न मिले वहां तक शास्त्रोक्त विधि से शुचि के साथ रहने में ही ढूंढ़ी लोग दूसरों की झूठी टीका कर आप पवित्र होने की चेष्टा करते हैं। किन्तु जल के अभाव में थोड़ी देर वैसे ही शास्त्रोक्त विधि न रहना उतना बुरा नहीं है जितना कि ढूंढ़ी लोगों का मूत्र पीने जैसा घृणित, पतित, महा खराब व्यवहार करना।

मृगापिचन आज भी ढूंढ़ी फिर कर गुदा को
पारखून पत्थर से साफ कर लेते हैं। इसी तरह और भी बहुत से मनुष्य

जल के अभाव में मिट्टी, ढेला, कपड़ा, कागज आदि से गुदा साफ कर लेते हैं यह प्रसिद्ध बात है ? उन लोगों के लिये दण्डी लोग क्यों न कलम उठाते ? उठावें भी तो किस तरह ? स्वयं भी तो पवित्र रहना नहीं जानते। मिट्टी, ढेला, कपड़ा, कागज से गुदा साफ कर फिर पानी से साफ कर लेना उतना अपवित्र और घृणित व्यवहार नहीं है जितना मूत पीकर पेट व मुह को अपवित्र बनाना। इसके लिये तो दण्डी लोगों को चुल्लू भर पानी में डूब मरना चाहिये। दण्डीजी! तुम स्वयं ऐसा अपवित्र व्यवहार करते हो और तुमसे बढ़ कर पवित्र रहने वालों की तुम टीका करते हो, यह तुम्हारी धृष्टता नहीं तो और क्या है ?

देखिये, पानी न मिलने पर गुदा तो फिर भी साफ हो सकती है पर पेट में मूत गए बाद पेट व मुंह का साफ करना बड़ा जटिल कार्य है। दण्डीजी! गुदा द्वार से मल निकलता है इसलिये वह तो अपवित्र ही है पर पवित्र मुंह मूत पीकर अपवित्र करना सिर्फ दण्डियों की मूर्खता का द्योतक ही है। चतुर मनुष्य ऐसे पतितों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं।

आगे चल कर दण्डीजी लिखते हैं कि—"सैकड़ो साधु साध्वियों को रात्रि में दस्त होने का हजारों बार काम पड़ चुका है।"

दण्डीजी! तुम्हारे इस लेख से तो प्रतीत होता है कि जहा श्वे० स्था० जैन मुनि दस्त फिरने जाते थे आप वहां स्वयं झाड़ू लेकर खड़े रहे थे। क्योंकि बिना अनुभव के ऐसा नहीं कह सकते। अस्तु, दण्डीजी! श्वे० स्था० जैन मुनि तो सूखा रूखा समय पर जो मिल जाता है वही प्रमाण से खाकर अपना संयम समय बिताते हैं। अतः इन्हें रात में दस्त जाने का प्रायः कार्य ही नहीं पड़ता। अगर शरीर दण्ड से रात को दस्त का काम पड़ भी जाय तो जैसे दण्डी लोग प्रमाण से रखा हुआ जल ढुल जाय या एक या दो बार की दस्त से पानी

खतम हो जाय तो रात व्यतीत कर सूर्योदय होने पर शुचि कर लेते हैं, इसी प्रकार श्वे० स्था० जैन मुनि भी शुचि कर लेते हैं।

आगे चल कर दयडीजी ने उसी पैरे में लिखा है कि— 'बिना जल दस्त होने पर अपना काम चलाने का मान्य करते हैं।"

दयडीजी! यह लिखना मिथ्या है। क्योंकि कोई भी श्वे० स्था० जैन मुनि तुम्हारे लेखानुसार न तो ऐसा करता है और न ऐसा कहता ही है। फिर तुम केवल अपने वचन का दुरुपयोग कर धृष्टता करते हो और चाहे जो लिख मारते हो, यह तुम्हारी अज्ञानता है।

फिर भी आगे चल कर दयडीजी उसी पैरे में लिखते हैं— जल से शुचि करते नहीं।

दयडीजी! श्वे० स्था० जैन मुनि दस्त लगने पर बिना शुचि किये न तो उपदेश ही देते हैं और न आहारादि लेने को जाते हैं, जैसा कि हम पहिले ही लिख चुके हैं। पर दयडीजी को तो झूठ भर कर पाथा रचना था न, वे सत्यका खयाल क्यों करें? हाँ ऐसी बातें लिखते हुए वे किसी श्वे० स्था० के प्रमाणित ग्रंथों का प्रमाण रखते तो अवश्य सच समझा जाता। जैसा प्रमाण दयडी लोगों के मूत पीने का हम उन्हीं के प्रमाण भूत ग्रंथों का रखते हैं। पर ऐसा सबूत वे श्वे० स्था० मुनि के बारे में कहां से लावें? क्योंकि श्वे० स्था० मुनि कभी अशुचि रखते ही नहीं। वास्तव में पूछा जाय तो अपारी सिवाय अशुचि में रहने वाला तुम सा कोई दृष्टिगत नहीं होता। अतएव ऐसा अनुचित व्यवहार त्याग कर शांति मार्ग का पाठ यदि आप सीखो तो कल्याण हो।

रात्रि में जल न रखने से २१ दोषों की प्राप्ति रूप प्रलाप का उत्तर

दयडीजी लिखते हैं कि—"रात्रि में जल न रखने से दस्त लगने पर अशुचि रहती है" यह लिखना तुम्हारा नितान्त मिथ्या है। क्योंकि जैन मुनि अशुचि से कदापि नहीं रह सकते। रात्रि में शुचि के लिये

सोया ही पड़ा रहेगा। अतएव सूर्योदय के समय गृहस्थों के घरों में वहू, वहिन, वेटी आदि सोते पड़ी रहे, ऐसा लिखना दण्डीजी का सर्वथा मिथ्या है। दण्डीजी! सूर्योदय के समय कल्पनीय वस्तुए जो साधुओं के लिये आवश्यकीय हों, ला सकते हैं और भगवान् ने भी ऐसी आज्ञा दी है। किसी भी सूत्र में सूर्योदय के समय नहीं जाना, ऐसा विधान नहीं है। इसलिये सूर्योदय के समय याचना करने में दण्डीजी ने जो दोष दिखाया, यह उनकी अज्ञानता और सूत्र के कम ज्ञान का द्योतक है। सूर्योदय के समय कोई दोप नहीं लगता। परन्तु दोप कहने वाले स्वयं दण्डीजी दूषित होते हैं और वे भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध कह कर अनन्त ससार परिभ्रमण करने का सामान जुटाते है ॥५॥

आगे चल कर दण्डीजी ने उसी पैरे में लिखा है। कि – "सूर्योदय के समय बहुत श्रावक श्राविका सामायक प्रतिक्रमण आदि अपने २ नित्य कर्तव्य में वैठे होते।"

दण्डीजी! यह लिख कर तो तुमने अपने पैरों पर ही कुल्हाड़ी चलाई है। क्योंकि पहिले तो लिख दिया कि—"वहू, वहिन, वेटी सोई पडी हों और अव लिखते हो कि सामायक प्रतिक्रमण कर रही हों।" धन्य है तुम्हारी प्रखर जड वुद्धि को कि कुछ देर पहिले लिखी वात भी तुम्हें याद नहीं रहती। सच है—"मिथ्या भाषी एक झूठ के छिपाने के लिये दस झूठ वोलता है। अस्तु। अव गप्पोंसे लोग वहकेंगे नहीं, अव तो सत्य की कसौटी पर कसने से ही सच झूंठ की परीक्षा कर लोग असली भेद को पायगे।

फिर देखिये! सामायक आदि पिछली रात को ही कितने ही कर लेते हैं और सूर्योदय से ही घर कार्य में लग जाते हैं। अतएव उस समय धोवन, गर्म जल आदि सुगमता से प्राप्त हो सकता है और गृहस्थ को पश्चात्ताप का अवसर नही प्राप्त होता है। थोडी देर के लिये मान भी लिया जाय कि सामायक करने वैठे हों तो क्या सारा घर एक

दयाजी ! सूर्योदय होते ही जल लेकर तो अभी निकल सकता है जब कि सूर्योदय के पहले ही रात में गृहस्थ के घर आ पहुँचे । श्वे० स्था० जैन मुनि तो ऐसे समय गृहस्थ के घर आकर याचना तो कभी करते ही नहीं पर जो ऐसा करते हैं उनकी अनुमोदना भी नहीं करते । प्रत्युत ऐसा करने वाले को गृहस्थ ही समझते हैं । अतएव सूर्योदय होते ही जल लेकर निकलना सर्वथा मिथ्या है । और गृहस्थों का सन्देह भी उन्हीं पर हो सकता है जो रात को टट्टी फिरने चले जावें और अंधेरे २ में वापस आ जावें । जैन श्वे० स्था० मुनि के तो आहार विहार आदि सभी कार्य सूर्य की साक्षी में होते हैं । इसलिये उन पर शंका आ ही नहीं सकती । शंका आती है तो सिर्फ ढूंढियों पर, जो भगवान की आज्ञा न मान रात को ही टट्टी फिरने चले जाते और रात में ही वापस आ जाते हैं ॥४॥

दयाजी ! ऐसी निर्मूल और मिथ्या शंकाएं कर श्वे० स्था० जैन मुनियों की अवहेलना कर रहे हो और उन पर मिथ्या दोषारोपण कर रहे हो यह तुम्हारे लिये अधोगति का रास्ता खुल रहा है, जिस पर चल कर कि तुम्हें भव भ्रमण करना पड़ेगा ॥५॥

दयाजी ! मिथ्या बातें लिख कर दूसरों की हंसी नहीं होसकती । अगर हाथी हो तो सूर्य पर धूल फेंक देखो । सूर्य का कुछ नहीं बिगड़ेगा, बिगड़ेगा तुम्हारा ही । इसी प्रकार मिथ्या बातें लिखने से तुम्हारी और तुम्हारे अन्य ढूंढियों की ही प्रतीत उठ जावगी । इसलिये सावधानी से भगवत् वचन पर अमल करो ॥६॥

दयाजी ! सूर्योदय होने पर ही पशु पक्षी अपने २ स्थान व घासलों को त्याग चुगने के लिये जाते हैं और मनुष्य भी सूर्योदय के समय शौचादि क्रिया से निवृत्त हो इष्ट देव को याद करते हैं, स्त्रियां भी अपने २ गृह कार्य में प्रवृत्त होती हैं, दान पुण्य करने वाले दान पुण्यादि करने लगते हैं । ऐसे आनन्द दायी समय में ऐसा कौन प्रमादी होगा जो

सोया ही पड़ा रहेगा। अतएव सूर्योदय के समय गृहस्थों के घरों में बहू, बहिन, बेटी आदि सोते पडी रहे, ऐसा लिखना दण्डीजी का सर्वथा मिथ्या है। दण्डीजी! सूर्योदय के समय कल्पनीय वस्तुए जो साधुओं के लिये आवश्यकीय हों, ला सकते हैं और भगवान् ने भी ऐसी आज्ञा दी है। किसी भी सूत्र में सूर्योदय के समय नहीं जाना, ऐसा विधान नहीं है। इसलिये सूर्योदय के समय याचना करने में दण्डीजी ने जो दोष दिखाया, यह उनकी अज्ञानता और सूत्र के कम ज्ञान का द्योतक है। सूर्योदय के समय कोई दोष नहीं लगता। परन्तु दोष कहने वाले स्वयं दण्डीजी दूषित होते हैं और वे भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध कह कर अनन्त ससार परिभ्रमण करने का सामान जुटाते हैं ॥७॥

आगे चल कर दण्डीजी ने उसी पैरे में लिखा है कि—"सूर्योदय के समय बहुत श्रावक श्राविका सामायक प्रतिक्रमण आदि अपने २ नित्य कर्तव्य में बैठे होवे।"

दण्डीजी! यह लिख कर तो तुमने अपने पैरो पर ही कुल्हाडी चलाई है। क्योंकि पहिले तो लिख दिया कि—"बहू, बहिन, बेटी सोई पडी हों और अब लिखते हो कि सामायक प्रतिक्रमण कर रही हों।" धन्य है तुम्हारी प्रखर जड बुद्धि को कि कुछ देर पहिले लिखी बात भी तुम्हे याद नहीं रहती। सच है—"मिथ्या भाषी एक झूठ के छिपाने के लिये दस झूठ बोलता है। अस्तु। अब गप्पोंसे लोग बहकेंगे नहीं, अब तो सत्य की कसौटी पर कसने से ही सच झूठ की परीक्षा कर लोग असली भेद को पायगे।

फिर देखिये! सामायक आदि पिछली रात को ही कितने ही कर लेते हैं और सूर्योदय से ही घर कार्य में लग जाते हैं। अतएव उस समय धोवन, गर्म जल आदि सुगमता से प्राप्त हो सकता है और गृहस्थ को पश्चात्ताप का अवसर नही प्राप्त होता है। थोडी देर के लिये मान भी लिया जाय कि सामायक करने बैठे हों तो क्या सारा घर एक

ही वक्त सामायक करने बैठ सकता है ? नहीं, जो खुला होगा वही बहरा देगा। फिर पश्चात्ताप का कारण महा रहेगा। हाँ, शायद दण्डियों के अनुयायी गृहस्थ दण्डियों को न बहरा कर पश्चात्ताप ही करते हों तो मालूम नहीं ॥८॥

दण्डीजी ! सूर्योदय होते ही गृहकार्य में गृहस्थ लगें, इसमें तो कुछ नवीनता है नहीं, पर कई जगह तो प्रातः घड़ी भर रात रहते ही मनुष्य अपने गृह कार्य व झाड़ बुहार में लग जाते हैं। इसलिये प्रासुक गर्म जल एवम् भोजन आदि निर्दोष प्राप्त हो सक्ते हैं। ऐसा कौन पहरी प्रमादी है, जो सूर्योदय होने पर भी सोता पड़ा रहता है और अपने गृह कार्य धन्दे में प्रवृत्त नहीं होता ? अतएव सूर्योदय होते ही शुद्ध जल का नहीं मिलना ऐसा दण्डीजी का लिखना व कहना मिथ्या मिथ्या है ॥९॥

दण्डीजी ! चूल्हे पर का हो या मट्टी पर का हो या अन्य का हो, चाहे जैसा हो, जो जल अच्छी तरह अचित्त हुआ होगा उसे ही श्वे० जा० मुनि ग्रहण करते हैं और करते रहेंगे। इसके अतिरिक्त कच्चा जल लेंगे भी नहीं और उसे छूएंगे भी नहीं। इसका विस्तृत वर्णन प्रथम किया गया है ॥१०॥

दण्डीजी ! श्रावक श्राविका साधु के निमित्त भोजन गर्म जल व आहार कभी नहीं करते। वे अपने घरोंमें सदैवानुसार अपने कार्य के लिये जो करते हैं, वही बहराते हैं और उसीको साधु ग्रहण करते हैं। हां आधा कर्मी तो क्या पर आत्मा कर्मी और सब पता आदि दोष के सेवन कर्ता तो दण्डी लोग ही हैं। इसमें कोई सन्देह है नहीं। क्योंकि प्रथम सप्रमाण लिखा जा चुका है ॥११॥

दण्डीजी ! प्रमाण से खाने वाले और ऊनोदरी रखने वाले श्वे० स्था० जैन मुनि तो प्रातःकाल का प्रतिक्रमण और प्रतिलेखना आदि बड़े शांत चित्त के साथ करते हैं। हां, आधाकर्मी, गरिष्ठ स्वादिष्ट भोजन और चरके बड़े पकौड़े खाने वाले दण्डी लोगों को सुबह ही बड़े जोर

की हाजत होती होगी और उसमें प्रतिक्रमण स्वाध्याय आदि में शांति से रहती होगी, तो हम नहीं कह सकते ॥१२॥

दण्डोजी! रात्रि में दस्त लगे और जैनागमानुसार शौच कर लेवें तो विष्टा से लिप्त शरीर कभी नहीं रह सकता और न कोई दूसरा वस्त्र ही खराब होता है। इसका विशेष खुलासा पहिले किया जा चुका है अतएव पिष्टपेषण की आवश्यकता नहीं। दण्डीजी! इस प्रकार जैनागमों का उड्डाह करके और जैन साधुओं को निन्दा करके क्यों अनन्त संसारी बन रहे हो, जरा परभव से तो डरो। ऐसी मिथ्या निन्दा करने वाले परभव में परिभ्रमण रूप विडम्बना की फांसी मे कुछ कम नहीं फसेंगे ॥१३॥

दण्डोजी! जिस प्रकार दण्डो लोगों के रात के परिमित रखे जल के ढुल जाने या दस्तों के लगने से खर्च हो जाने बाद प्रातःकाल वर्षादि शुरू हो जाय और घरों में जाकर पानो लाना न कल्पे और दस्त की हाजत बडे जोर से हो आई हो, उस समय जिस तरह दण्डी लोग समय बिताते हैं, उसी तरह श्वे० स्था० जैन मुनि आगमानुसार विधि कर समय बिताते हैं। पर व्यर्थ ही निन्दा कर आत्मा को कलुषित नहीं करते ॥१४॥

दण्डीजी! हम यह अवश्य मानते हैं कि शौचादि किये बिना शास्त्र स्वाध्याय, प्रतिक्रमण, व्याख्यान आदि किसी को भी कोई कार्य नहीं करना चाहिये और उसी अनुसार श्वे० स्था० जैन मुनि कोई कार्य तब तक नही करता है जब तक कि वह शुचि न हो जाय ॥१५॥

फिर भगवान् की आज्ञा उल्लघन ही कैसे हो सकती है? ॥१६॥

वे रात्रिमें आलस्य, भय, शुचिके लिये मात्रा इकट्ठा नहीं करते हैं। श्वे०स्था० के किसी भी ग्रन्थ में मात्रा इकट्ठा करने का उल्लेख नहीं है। तदपि दण्डीजी ने लिख मारा, यह उनकी धृष्टता है और भोले लोगों को अपनी माया में फसाने का प्रपंच है ॥१७॥

आगे चल कर दयाळीजी ने पत्थर, काष्ठ बाँस आदि के टुकड़ों से शुचि कर लेना भी लिखा परन्तु ऐसा लिखना दयाळीजी का सर्वथा मिथ्या है। क्योंकि श्वे० स्था० जैन मुनि पत्थर काष्ठ बाँस आदि के टुकड़े से शुचि कर लेना सर्वथा शास्त्र विरुद्ध समझते हैं। और ऐसा करने वाला दण्ड पाता है। जरा आँखें खोल कर सूत्र देखो। यदि स्वप्न में ऐसा समझकर तो नहीं लिख मारा ? या पक्षान्धता के मारे पत्थर काष्ठ बाँस के टुकड़ों से शुचि करना मिथ्या लिख दिया है? ऐसा लिख कर तो दयाळीजी ने अपने मुंह पर आप ही कालिमा पोतने का प्रयत्न किया है।

दयाळीजी ! श्वे० स्था० जैन मुनि तो सूत्र विरुद्ध और लोक विरुद्ध कोई भी काम नहीं करते हैं। हाँ, जो कहीं करते पाये जाते हैं तो सिर्फ दयाळी ही। इसकी फिर कभी समालोचना समय मिलने पर की जायगी ॥१८॥

आगे चल कर दयाळीजी ने लिखा है कि— “दूसरा अल्प आहार करके सन्तोष रखने वाला सैंकड़े १-२ साधु साध्वी निकलेंगे।”

दयाळीजी ! उपरोक्त सारा तुम्हारा कूट २ कर मिथ्या बातोंसे भरा हुआ है। क्योंकि सैकड़े १-२ साधु साध्वी तुम्हारे में हा आधाकर्मी, गरिष्ठ आहार नहीं करने वाले मिलेंगे और तो सैकड़े ९८-९९ आधा कर्मी और गरिष्ठ खूब पेट भर खाने वाले हैं। जैसी तप प्रवृत्ति श्वे० स्था० जैन मुनि में है वैसी दयाळी लोगों में नहीं पाई जाती। इस बात को आबाल वृद्ध सभी जानते हैं। अतएव दयाळीजी का सैकड़े १—२ लिखना सर्वथा मिथ्या है। और दो दफे जंगल जाने में ज्ञान ध्यान की अन्तराय पड़ती है, ऐसा भी तुम्हारा लिखना केवल निरक्षरता का है। क्योंकि दिन में दोनों बार टट्टी हो जाने वाले का चित्त साफ और प्रायः सम्पुरुस्त रहता है। अतः ज्ञान ध्यान में अन्तराय न पड़ कर प्रत्युत उसमें विशेष वृद्धि होती है। इसके अलावा दिन में दो बार टट्टी हो जाने वाले को रात्रि में प्रायः टट्टी जाने का काम नहीं पड़ता है। यदि

दण्डीजी के कथनानुसार सचमुच वैसा ही होता हो तो फिर खुद दण्डी लोग ही ज्ञान, ध्यान की विशेष प्राप्ति के लिये क्यों ऐसा नहीं कर लेते कि रोज २ टट्टी न जाकर एक २ दिन छोड कर जाया करते या मल द्वार वन्द ही कर लेते, जिससे वे टट्टी जाना छोड प्रखर विद्वान् बन जाते। उनके सामने कालिदास से विद्वान् भी हार खाते।

धन्य है दण्डीजी! तुम्हारी प्रखर जड बुद्धि को जो कि जगल के टाइम में से भी टाइम बचाने की कोशिश करती है और अच्छा समझती है। भगवान् ने तो फरमाया है कि जगल की बाधा आ गई हो तो चाहे जैसा क्यों न ज्ञान ध्यान कर रहे हो उसे तुरन्त ही छोड़ कर शीघ्र शौच क्रिया करने जाना चाहिये। यहा तक कि जोर से पानी की वृष्टि हो रही हो उस समय भी टट्टी जाना भगवान् ने नहीं निषेधा है।

फिर देखिये दण्डीजी! आप ही स्वयं दिन में एक दफा टट्टी जाना लिख आये हो पर इससे तुम्हारे स्वास्थ्य को अवश्य हानि पहुँचेगी। इसलिये दिन में दोनों समय टट्टी जा आया करो, जिससे रातको भी टट्टी न जाना पड़ेगा और भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध रात को जल भी न रखना पड़ेगा। अतएव दिन में एक वक्त टट्टी फिरने के मिस रात्रि मे भगवदाज्ञा के प्रतिकूल जल रखने का हठ करना दण्डी लोगो की वड़ी भूल है ॥१५॥

आगे चल कर दण्डीजी ने लिखा है कि—"रात्रि मे जल नहीं रखने वाले पेशाब की शुचि नहीं कर सकते, वे जान बूझकर पेशाब की अशुचि रखते हैं।"

यह लिख कर तो दण्डीजी ने अपने आप ही को अपवित्र सिद्ध किया है क्योंकि दण्डी लोग पेशाब करने के बाद हाथ तो धो भी लेते होंगे पर पुरुष चिन्ह तो धोते भी नहीं होंगे। फिर शुचि कैसे हुई? केवल हाथ धो लेना आधी शुचि है। इसलिये दण्डीजी के कथनानुसार दण्डीजी स्वयं पेशाब की अशुचि रहते और वही पेशाब का बूद लगा हुआ

पुरुष विमद कपड़े के लगा कर सूत्र पट लेते हैं, यह ढूंढ़ो लोगों को बताई हुई दृष्टियों की बड़ी भारी प्रत्यक्ष भूल है ।।२०।।

आगे चल कर श्वे० स्था० जैन मुनि के वैसा नहीं करने पर भी ढूंढ़कजी ने अपने आप ही अपने मुंह से झूठी बात खड़ी कर लिख डाली है कि—"कोई कहेंगे कि पेशाब से गुदा धोकर शुचि कर लेंगे।"

अरे मिथ्यावादी ढूंढ़की ! तेरा यह लिखना सर्वथा अनुचित और मिथ्या है क्योंकि हम श्वे० स्था० जैन मुनि तेरे लिखे मुआफिक न तो ऐसा कभी करते हैं और न कहा ही है। फिर तुमने झूठ लिख कर जिन धर्म की विराधना करने के साथ २ मिथ्यात्व का बोझ ढोहने का क्यों प्रयत्न किया है ? और न तूने तेरी कही हुई बात को प्रमाणित करने के लिये कोई प्रमाण ही दिया है ! बस इससे साफ सिद्ध होता है कि ढूंढ़कजी ने जो भी लिखा वह ईर्षा वश झूठ ही लिखा है।

ढूंढ़कजी ! तुम्हारे मंतव्यानुसार तुम्हारा मूत्र पीना हम सप्रमाण सिद्ध कर चुके पर तुम्हें इस घृणित लोक विरुद्ध व्यवहार करते फिर भी शरम नहीं आती। तुम्हारे ऐसा करने से सारे जैन समाज को कलंक का टीका लग रहा है ॥२१॥

इस दाग को छिपाने के लिये ढूंढ़कजी ने अनेक वाग्जाल रचे पर कलंक का टीका कैसे छिप सकता है ! हां यदि उस कलंक को जड़ से उखाड़ना चाहते हो तो सीधा मार्ग यह ठीक है कि दिन में जितनी प्यास हो उतना अचित जल पी लिया करो। जब पानी भरपूर मिल जायगा तो मूत्र पीने की जरूरत नहीं रहेगी। ढूंढ़कजी ! दिन में दो २ तीन २ वक्त स्वाद के लिये गरिष्ठ आधाकर्मी भोजन खाओगे और फिर कहोगे कि हम तो दिन में एक समय ही अंगल जावेंगे तो ऐसा हो नहीं सकेगा। नमकीन और चरक पदार्थ खाकर यदि उद्दो फिरने का आलस्य कर जाओगे तो बस खराब होंगे जगह खराब होगी और गृहस्थ भी आपके इस व्यवहार की कड़ी टीकायें करेंगे।

पुरुष चिन्ह कपड़े के लगा कर सूत्र पढ़ लेते हैं, यह दण्डी लोगों को बताई हुई दलिलों की बड़ी भारी प्रत्यक्ष भूल है ।।२०।।

आगे चल कर श्वे० स्था० जैन मुनि के ऐसा नहीं कहने पर भी दण्डीजी ने अपने आप ही अपने मुँह से झूठी बात खड़ी कर लिख डाली है कि—"कोई कहेंगे कि पेशाब से गुदा धोकर शुचि कर लेंगे।"

अरे मिथ्यावादी दण्डी ! तेरा यह लिखना सर्वथा अनुचित और मिथ्या है क्योंकि हम श्वे० स्था० जैन मुनि तेरे लिखे मुआफिक न तो ऐसा कभी कहते हैं और न कहा ही है । फिर तुमने झूठ लिख कर जिन धर्म की विराधना करने के साथ २ मिथ्यात्व का बोझ ढोहने का क्यों प्रयत्न किया है ? और न तूने तेरी कही हुई बात को प्रमाणित करने के लिये कोई प्रमाण ही दिया है ? बस इससे साफ सिद्ध होता है कि दण्डीजी ने जो भी लिखा वह ऐसा सरा झूठ ही लिखा है ।

दण्डीजी ! तुम्हारे मंतव्यानुसार तुम्हारा मूत्र पीना हम सप्रमाण सिद्ध कर चुके पर तुम्हें इस घृणित लोक विरुद्ध व्यवहार करते फिर भी शरम नहीं आती । तुम्हारे ऐसा करने से सारे जैन समाज को कलंक का टीका लग रहा है ।।२१।।

इस बात को छिपाने के लिये दण्डीजी ने अनेक वाग्जाल रचे पर कलंक का टीका कैसे छिप सकता है ? हां यदि इस कलंक को अब स बचाइना चाहते हो तो सीधा मार्ग यह ठीक है कि दिन में जितनी प्यास हो उतना अचित्त जल भी लिया करो । जब पानी भरपूर मिल जावेगा तो मूत्र पीने की जरूरत नहीं रहेगी । दण्डीजी ! दिन में दो २ तीन २ वक्त स्वाद के लिये गरिष्ठ आधाकर्मी भोजन खाओगे और फिर कहोगे कि हम तो दिन में एक समय ही जंगल जावेंगे या ऐसा हो नहीं सकेगा । मसालेदार और चरके पदार्थ खाकर बंद टट्टी फिरने का आलस्य कर जाओगे तो बस्त्र खराब होंगे, जगह खराब होगी और गृहस्थ भी आपके इस व्यवहार की कड़ी टीकाएं करेंगे ।

द्वितीय आवृत्ति से मूत पीने का विषय ही निकाल दिया। जिससे सिद्ध होता है कि इन दण्डियों में मूत पीना मना नहीं है।

२२- आगे चल कर दण्डीजी लिखते हैं कि—

"अनाहार में गो मूत्रादि पेशाब"

महोदयो! दण्डीजी ने लिखने में बहुत ही होशियारी दिखलाई है। दण्डीजी मूत पीनेके सम्बन्ध में शरम आ जानेसे गोमूत्रादि पेशाब ही लिख कर रह गए, पर उन्होंने पूरा २ वाक्य नहीं लिखा। भला कैसे लिखते? जो अपवित्र गन्दा व्यवहार है और जिसके लिये जनता उनकी हंसी मजाक करता है वे वैसी बात ही क्यो लिखते? किन्तु दण्डीजी की माया चल नहीं सकती?

देखिये, मूत पीने के बारे में दण्डी लोगों के यहां ऐसा उल्लेख है 'गोमुत्र आदे दइ न सर्व जातिना अनिष्ट मूत्र" इस प्रकार के वाक्य में सव शब्द के अन्तर्गत गधे, घोडे का भी मूत आ जाता है। अफसोस! शतस' अफसोस!! कि दण्डी लोगों के माननीय ग्रन्थ में मूत पीने के सम्बन्ध में लोक के विरुद्ध घृणित व्यवहार का उल्लेख है। फिर भी तुर्रा यह कि उपवास करने में अनिष्ट जाति का भी मूत पी जाने पर उपवास व्रत भग नहीं होता। इस पर से मेरा ऐसा अनुमान है कि दण्डियों के वैसा करने से एक क्षुद्र मनुष्य भी उन्हें घृणा की दृष्टि से देखे तो अत्युक्ति नहीं है।

२३—आगे चल कर दण्डीजी लिखते हैं कि—"आहार करने का त्याग करने वालों को कभी रोगादि कारण से अनाहार वस्तु लेनी पड़े तो आहार त्याग रूप व्रत का दोष नहीं आता।"

दण्डीजी! ऐसा लेख और कर्तव्य तुम्हारे लिए ही मुबारिक हो। क्योंकि अपनी २ इच्छा है, मर्जी हो वैसा करो। पर दण्डीजी! किस आधार से ऐसा लिख रहे हो कि उपवास भग नही होता? अफसोस,

हठाग्रह करना बुद्धिमानों का काम नहीं है। जिस बात से समाज की निन्दा हो, उस बात को जड़ से उखाड़ फेंकिये और दिन में एक ही बार टट्टी फिर कर रात में मान के जिस भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध मल रखने का झूठा हठ परित्याग कीजिये।

दूंढीजी लिखते हैं कि अन्य लोग पत्थर आदि फेंकते हैं, यह लिखना भी अनसमझ का है क्योंकि अव्वल तो कोई पत्थर आदि फेंकते नहीं और अगर मान लें कि फेंकते हैं तो वे फेंकने वाले अनसमझ बालक हैं, जो अज्ञानतरा श्वे० स्था० जैन मुनि पर ही फेंक कर नहीं रह जाते, दूंढी लोगों पर भी फेंकते हैं। तो क्या उन अज्ञानियों के कारण जैन साधुओं की साधु वृत्ति छोड़ दी जाय। जिससे वे अज्ञानी फिर पत्थर नहीं फेंक पावें। पर ऐसा तो हो ही नहीं सकता। देखिए भगवान् महावीर को भी अज्ञानियों ने कई तरह के कष्ट दिए और पत्थर फेंके पर भगवान् अटल रहे। मूढ उन्हें उनके मार्ग से न हटा सके। उनकी प्रशंसा हुई। सिर्फ पत्थर फेंकने पर ही निन्दा का कारण समझ लेना, दूंढीजी की बुद्धि का अजीर्ण है।

२१—आगे चल कर दूंढीजी लिखते हैं कि—'अपने अनेक दोषों को छुपाने के लिए प्रतिक्रमण सूत्र के नाम से संवेगियों पर मूत्र पीने का आरोप रखते हैं।

दूंढीजी! जनता को भोंक में डालना यह तुम्हारा ही काम है। मायावी जाल में सत्य तो कभी छिप नहीं सकता। श्वे० स्था० जैन मुनि दूंढियों पर जो मूत्र पीने का सच्चा आरोप रखते हैं, वह तुम्हारे ही ओर से प्रकाशित माननीय पंच प्रतिक्रमण सूत्र के आधार से ही लिखते हैं। पाठक उस सूत्र को देख सत्य झूठ का पता पा सकते हैं।

पाठको! यह भी ध्यान रहे कि जब दूंढी लोग मूत्र पीने के सच्चे आरोप से लज्जित हो गए तो उनने पंच प्रतिक्रमण सूत्र की

"तथा (सुराइजलके) सुरादि जल ते मदिरादिकनां पाणी जाणवा ए अभक्ष मां (नहीं पीवामां) भले छे"

इस उपरोक्त लेख से दारू ताड़ी तो अभक्ष अर्थात् उसका नहीं पीना सिद्ध होता है पर अनिष्ट जाति के मूत की जगह ऐसा उल्लेख नहीं कि मूत अभक्ष है तो फिर मूत पीने के बारे में कुछ भी शंका करने का काम नहीं रहा। परन्तु दण्डीजी! तुम्हारे पूर्वाचार्यों के लिखे अनुसार अनिष्ट जातिका मूत कल्पे अर्थात् पी ले, यह सिद्ध होता है। अब तुम लाख प्रयत्न करो तो भी मूत पीने के आरोप से दूर नहीं हो सकते। लौकिक लज्जा से तुम अपने दूषण को अब छिपाना चाहो तो वह नहीं छिप सकता।

आगे चल कर दण्डीजी ने उसी पैरे में लिखा है कि—'वैसे ही अनाहार वस्तु में राख, आक, पेशाब, थोयर सब तरह के विष आदि के नाम बतलाये हैं। यह सब किसी भी साधु श्रावक के रात्रि में व दिन में खाने पीने के काम में कभी नहीं आते।"

दण्डीजी का यह लिखना भी सर्वथा मिथ्या है। क्योंकि दण्डी लोगों के पूर्वाचार्य्य स्पष्ट लिख चुके हैं कि अणाहार में जितनी गिनाई हुई वस्तु वे सब साधु श्रावक ले सकते हैं, खा सकते हैं। उसमें उसका चौविहार उपवास भंग नहीं होता है। फिर "खाने पीने के काम में नहीं आते" ऐसा दण्डीजी का लेख दण्डीजी के पूर्वाचार्य के लेख से ही झूठा ठहरा।

फिर भी देखिये, दण्डीजीके लेख से ही दण्डीजी का लेख बाधित होता है। क्योंकि दण्डीजी ने अपने पैरे में लिखा है कि "अनाहार वस्तु लेनी पड़े तो आहार त्याग रूप व्रत भंग का दोष नहीं आता" बस इस से स्वयं सिद्ध हो चुका कि अनाहार की वस्तुओं में से खाने पीने के काम में सभी आ सकती हैं। अत. दण्डीजी के वाक्य से भी अणाहार की वस्तुओंमें से एक का भी निषेध नहीं हो सकता। इसलिये उस अना-

दयाढोजी ! और जो विशय आधार अलग रहा पर लोक लज्जा से वो डरे। 'गोमूत्रादि' शब्दानुसार गो का मूत्र से प्राणी का मूत्र मात्र पी लेने पर उपवास भंग नहीं होता तो क्या गधे घोड़े आदि का मूत पीना उपवास में वर्जित नहीं है ? बस २ दयाढोजी ! इसी बल पर अपनी पवित्रता दिखाते हो ?

आगे चल कर दयाढीजी उसी पैरे में लिखते हैं कि—"ऊपर की सब वस्तु श्रावक के खाने पीने क काम में कभी नहीं आती किन्तु जो वस्तु जिसके योग्य होवे वही वस्तु ग्रहण कर सकेगा परन्तु सब नहीं।" दयाढीजी ! यह लेख तुम्हारी आम्नाय से भी नितान्त मिथ्या है क्योंकि तुम्हारे उसी पंचप्रतिक्रमण सूत्र में लिखा है कि "चउविहार उपवासे तथा रात्रि ने चउविहारे वापरो कल्पे ते अणाहार वस्तु जाणवो।"

दयाढीजी ! इस उपरोक्त वाक्य में जितनी भी अणाहार वस्तु की गिनती है उन सब वस्तुओंके काममें लेने का विधान है। तबही तो उन्होंने यह शब्द दिया है कि "कल्पे" याने अणाहार वस्तुओंमेंसे कोई भी वस्तु अपने काम में ले तो दोष नहीं । फिर दयाढीजी ! तुमने "अणाहार में योग्य होवें वे हो वस्तु ग्रहण करें।" ऐसा अर्थ कहां से लगाया ? तु म्हारे पूर्वाचार्य्य तो स्पष्ट लिख चुके हैं कि अणाहार वस्तु में से कोई भी वस्तु कल्प सकती है अर्थात् ले सकते हैं। उसमें मूत भी तो आ गया। फिर तुम्हारे पूर्वाचार्यों के उल्लेख से तुम दयढी लोग क्यों शरमाते हो ?

यदि तुम कहोगे कि हमारे पूर्वाचार्य्य दारू का उल्लेख भी तो क्यो ग्रंथ में कर गए तो क्या इससे पीना सिद्ध हो गया ? ऐसा सम झना भी दयढी लोगों की अज्ञानता है। क्योंकि जहां दारु (दारू) आया वहां उन्होंने उसी के साथ २ नहीं पीने का भी उल्लेख कर दिया है कि यह बिलकुल अभक्ष्य है। देखो पंच प्रतिक्रमण सूत्र के ४७९ वें पृष्ठ की प्रथम पंक्ति में—

मूत्र, चोल मंजीठ, कणयर फूल, कुंआर, थोहर, अर्कादिक पंच फूल, खारो, फटकड़ी चिमेड इत्यादि सर्व वस्तु अनिष्ट स्वादवान छे अने इच्छा विना जे चीज मुखमा प्रक्षेप करीये तो सर्व अणाहार जाणवी ए उपवासमा पण लेवी सूजे अने आयंबिल मध्ये पाणहार पच्चखाण कर्या पछी सूजे ए आहारनु त्रीजुं द्वार थयुं, उत्तर भेद १८ थया ॥ १५ ॥

अब कहिये दण्डीजो ! उपरोक्त प्रमाण से मूत पीने मे क्या कमी रही ? तुम्हारे ही आचार्य जो कि कलिकालसर्वज्ञ कहे जाते हैं स्पष्ट लिख रहे हैं कि चौविहार उपवासमें मूत भी वह चाहे अनिष्ट जाति वालों का ही क्यों न हो, उसके लेने में अर्थात् पीने में कोई दोष नहीं है।

आगे चल कर दण्डीजी ने अपने मूत पीने के खण्डन में राजा बादशाह का दृष्टात दिया है। यह भी दण्डीजी की अज्ञता है। क्योंकि राजा के यहां मास मदिरा का भोजन होने पर न राजा उन ब्राह्मणो से मास मदिरा खाने पीने का आग्रह करता है और न ब्राह्मण बनिये कभी खाते ही है, प्रत्युत उसका निषेध ही करते हैं। इसी तरह मूत पीने को जगह तुम्हारे पूर्वाचार्य उल्लेख कर देते कि मूत कभी पीना नहीं, यह अभक्ष्य है तो तुम्हारा कहना सही होता, पर वे तो खुले शब्दों में कह गए, लिख गए कि चऊविहार उपवास म अणाहार में जितनी वस्तु गिनाई उनमें से कोई भी खाले व पीले तो उपवास भग नहीं होता। और तुम भी तुम्हारी उद्घोषणा में यही लिख चुके हो तो फिर मूत पीने के टीके से कैसे बच सकते हो ?

यदि तुम दण्डी लोग कहोगे कि अणाहार मे विष भी तो शामिल है तो क्या हम विष भी खाते हैं? पर यहाँ यह तर्क ठीक नहीं। क्योंकि विष भी खाया जाता है। देखिये, बहुत से अफीम खाते हैं और वह भी नियमित, कितने ही पुष्टीके लिये विष मिश्रित औषधि खाते हैं। इसलिये दण्डीजी ! मूत पीने के ऐब को छिपाने के लिये विष का नाम लेकर जनता को भ्रम में डालने का क्यों व्यर्थ प्रयत्न करते हो ? जनता अब

हार की गिनतीमें अनिष्ट आदि का मूत भी शामिल है। जो दएडी लोगों के पीना भी निर्विकार सिद्ध है। दएडीजी का यह घृणित व्यवहार अब लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं छिप सकता।

आगे चल कर दएडीजी ने लिखा है कि—"श्वेप युक्ति से संवेगी साधुओं को पेशाब पीने का झूठा कलंक लगाते हैं।"

दएडीजी! यह लिखना तुम्हारा नितान्त मिथ्या है। क्योंकि श्वे० स्था० जैन मुनि संवेगियों (दण्डियों) पर मूत पीने का झूठा कलंक नहीं देते हैं। श्वे० स्था० जैन मुनि तो तुम दएडी लोगों के लिखे हुए ग्रंथों पर से ही मूत पीने के प्रमाण का उल्लेख करते हैं। देखो, जरा आंखें खोल कर सं० ।१९९१ निर्णय सागर प्रेस बम्बई में श्रावक भीमसिंह माणक का छपाया और तुम्हारे ही दएडी आनन्दविजयजी कलिकाल सर्वज्ञका बनाया हुआ "प्रतिक्रमण" उसकी ४७०वें पृष्ठ की १वीं पंक्ति—

" अणाहारे मोय निवाई " ॥ १५ ॥ वार ॥ ३ ॥

पुन देखो उपर्युक्त ग्रंथ के पृष्ठ ४८० की पंक्ति ११ वी में—

"हवे अणाहार वस्तु कहे छे। अने पूर्वे कहेला चारे आहार मांहिला कोई पण आहार मां न आवे, परन्तु चउविहार उपवासें तथा रात्रिने चउविहारें वावरी कल्पे, ते अणाहार वस्तु जाणवी तेना नाम कहे छे (अणाहारे मे) अनाहार ने विषे कल्पे ते वस्तु कहे छे। (मोय के लघु नीति जाणवी अने निवाइ क) लिंबादिक ते लिंबनी छाली पानडां प्रमुख पांचे अंग ए सर्व अनाहार वस्तु जाणवा। आदि शब्द थकी त्रिफला कडू करियातुं गला आदि, अमासो, केरडामूल आरडासिमूल चावल छालि कंथेर मूल, चित्रा राफरसाग मूमड मलयागरु अगरु चीड थंवा, कस्तूरी राख चूनो, रोहिणी बज हलिद्रा पावली आस गंधी कुंदरू, चापचीनी गिगणी, अफिणादिक सर्वजाति मां विष मांजी ज्यार मूला, आको उपलेट गूगल अतिविष, बूआड एलीक चूर्णपर्णा सुखडार, टकण ज्यार गामूत्र आदि, ऐहम सर्वजातिनी अनिष्ट

काय करके दण्डी लोग अपने समाज की घोर निन्दा करवाते हैं। लोगों के आपस में क्लेश होने में कारण भूत बनते हैं। जिससे श्वे०स्था० जैन मुनि दण्डियो को बराबर समझाने बुझाते हैं कि ऐसे अनुचित कार्य मत करो। जिस पर दण्डी लोग अपनी भूलों को सुधारते नहीं, प्रत्युत संघ में क्लेश फैला कर द्वेष बुद्धि का परिचय देते हैं।

२५—दण्डीजी! वैद्यक ग्रन्थ में रोगादि कारण में मूत्र पीने को लिखा है, ऐसा उदाहरण दे देने से दण्डी लोगों के मूत पीने का सच्चा आरोप हट नहीं सकता। रोगादि कारण में गौमूत्र पी लेने के वैद्यक लेख के उदाहरण दे देने से दण्डी लोगों का मूत पीना तो और भी सिद्ध हुआ। फिर भी देखिये वैद्यक तो गौमूत्र बताते हैं जो कि संसार में उसे कोई इतना अपवित्र नहीं मानता पर दण्डीजी के ग्रथों में तो "गोमूत्र आदि दइने सर्व जाति ना अनिष्ट मूत्र" का उल्लेख है। इस उल्लेख से तो गौमूत्र से लगा कर सर्व अनिष्ट जाति मे गधा, घोड़ा, मनुष्य, ऊंट, हाथी, कुत्ता, बिल्ली आदि सभी के मूत का समावेश हो जाता है। इनके मूत को पी लेने पर भी व्रत भंग नहीं होता ऐसा दण्डी लोगों के वैद्यक उदाहरण से सिद्ध हो चुका। यदि दण्डी लोग कहेंगे कि "रोगादि कारण में जैसा वैद्य कहते हैं वैसा ही हमारा उद्देश समझो" तो यह भी दण्डी लोगों का उत्तर मिथ्या जचता है, क्योंकि मूत पीने की जगह तुम्हारे आचार्य रोगादि कारण का उल्लेख नहीं कर गए। इसलिये अब रोगादि का बहाना करना दण्डियों का मिथ्या प्रलाप है। यदि दण्डी लोग कहेंगे कि एक के ऐसा लिख देने से वंश परम्परा वाले मूत पीयक्कड़ कैसे ठहर सकते हैं? यह तर्क भी अज्ञता की द्योतक है क्योंकि जो तुम्हारे आचार्य, वे भी कलिकाल सर्वज्ञ की उपाधि धारण करने वाले, लिख गए हैं उनके द्वारा विधान की हुई प्रमाणावली से दण्डी लोग वंश परम्परा से ऐसा करने वाले निर्विवाद सिद्ध होते हैं।

भ्रम में आने वाली नहीं है। जनता के दो नेत्रों के सिवाय दो नेत्र हृदय के भी हैं। अतः ढूंढकी लोगों के भ्रम पूर्ण जाली वाक्यों को जनता हृदय के नेत्रों से देख लेगी।

आगे चल कर ढूंढकजी ने जो हेंडबिल में लिखा है, वह बिल्कुल मिथ्या है। क्योंकि श्वे० मू० जैन मुनि में से कोई भी कपट और द्वेष बुद्धि नहीं रखता है। कपट और द्वेष तो सिर्फ ढूंढकी लोग करते हैं, जो अप्रमाण और झूठी बातें लिख कर व्यर्थ द्वेष बुद्धि का परिचय देते हैं।

२४—महोदयो! अभयाहार की वस्तुओं में मूत्र को छोड़ कर विष के बहाने मूत्र नहीं पीने की सचाई लोगों के सामने ढूंढकी लोग रखते हैं, यह ढूंढियों का मायाजाल है और अपने घृणित दोष को छिपाने की कुचेष्टा है "आज तक किसी भी संवेगी साधु ने रात या दिन में कभी पेशाब नहीं पिया।" ऐसा लिख देने मात्र से मूत्र पीने के दूषण से तुम दूर नहीं रह सकते। जब कि ढूंढकी लोगों के पूर्वाचार्यों ने बहुमान्य से मूत्र पीने को लिखा है ? क्या यह असम्भव बात है कि आज तक नहीं पिया हो ?

आगे चल कर ढूंढकजी ने उसी पैरे में लिखा है कि— 'लाग गुरु का मुर्दा जला कर स्नान करते नहीं।" यह लिखना भी ढूंढकजी का मिथ्या है क्योंकि श्वे० मू० जैन मुनि मुर्दा को जला कर लोग स्नान करते हैं, यह जग प्रसिद्ध बात है। इसमें प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं। फिर ढूंढकी लिखते हैं कि "गरिष्ठ वस्तु खाने वाले" यह लेख भी ढूंढकजी के पहिले लेखों में बाधित किया जा चुका है। ढूंढकी लोग भगवदाज्ञा के विरुद्ध मैले कपड़े पहनते हैं, मुख मुंह बोलते हैं, टट्टी अंधेरे २ फिरने का मुहावरा रखते हैं रात्रि में पानी के बजाय चौविहार उपवास में मूत्र पीने की आज्ञा देते हैं, इत्यादि अनेक लोक विरुद्ध, शास्त्रविरुद्ध भगवान की आज्ञा के विरुद्ध, अनुचित व अपवित्र

कि सूतक पातक के यहाँ का खा पी जाने वाले कहते हैं कि
—ाना चाहिये इस पर पाठक विचार कर लें कि "दण्डी लोग कहते
—ा करते नहीं।"

२७—दण्डीजी! श्वे० स्था० जैन आम्नायानुयायी कोई ऐसा नहीं
ा कि—"जैसे गूमड़े से फूट कर खून निकलता उसका परहेज नहीं
ा जाता वैसे ही रजस्वला स्त्री का' यह तो केवल तुम दण्डी लोगों
चाल है कि कुछ भी काले कोलम कर जनता को धोके में डाल
ठी २ बातों का प्रचार करना। पर वास्तविक बात तो यह है कि श्वे०
ा० जैन मात्र रजस्वला से पूरा २ परहेज रखते हैं।

दण्डीजी! जो तुम लिखते हो कि "रजस्वला वाली स्त्रियों से
रहेज रखने के लिये मकान के दरवाजे बन्द रखते हैं।" पर दण्डीजी!
तुम्हा ा यह लिखना मूढ़ता का है। क्योंकि रजस्वला स्त्री व साध्वी अन्य
घरों में जायगी ही नहीं तो फिर द्वार खुले रखने व बन्द रखने का काम
ही क्या रहेगा? केवल थोथी बातों से पोथे भरना ही दण्डी लोगों का
कर्त्तव्य मात्र रह गया है।

२८—दण्डीजी! प्रथम तो लिख आये कि प्रतिक्रमण स्तोत्र
वगैरह का नित्य नियम हो तो रजस्वला स्त्री अपने मन में स्मरण करले
और अब उसी के आगे लिख रहे हो कि नवकार आदि का उच्चारण
करने से कर्म बंधन होता है। क्या खूब कही? कोई मूर्ख भी अपनी
बात को इस प्रकार न काट सकेगा। पर लिखने वाले ठहरे दण्डी न!
उनमें इतनी बुद्धि आयगी कहां से कि आगा पीछा सोच कर लिखें।
यदि दण्डी कह देंगे कि पहले मन में स्मरण करने को कहा था, उच्चारण
करने को नहीं तो भी यह द्वयम् नम्बर की मूर्खता होगी—"उच्चारण
करने से पाप बंधे और स्मरण करनेसे पाप न लगे" ऐसा कथन सिवाय
दण्डियों के कोई भी थोड़ा सा तत्व का भी ज्ञान रखता होगा कभी

आगे चल कर दयाछीजी को मूत पीने का सत्य आरोप बतलाने पर उनने फौजदारी की धमकी दी है तो इस पर पाठकों को विचार करना चाहिये कि अब मूत पीने का झूठा आरोप था तो फिर प्रति क्रमण सूत्र की द्वितीयावृत्ति में मूत पीने के वाक्य को दयाछी लोगों ने क्यों निकाल दिया ? इससे निश्चय पूर्वक सिद्ध होता है कि दयाछी लोगों के यहाँ मूत पीना लिखा है।

रजस्वला का खुलासा।

२६—दयाछीजी ! श्वे० स्था० जैन धर्मानुयायी श्राविकाएं रज स्वला समय में न तो रसोई बनाती हैं और न गोदुहना वगैरा काम ही करती हैं। इसी प्रकार साध्वीजी भी न शास्त्र पढ़ती हैं और न गौचरी ही जाती हैं। रजस्वला समय लोक विरुद्ध कोई भी कार्य नहीं किया जाता। दयाछीजी ! तुमने जो प्रत्येक कार्य करना लिखा वह मिथ्या है। हाँ, तुम्हारी दयिछनियाँ रजस्वला के समय शास्त्र पढ़ती हो घरों पर जाती हो, इसी प्रकार तुम्हारी आम्नाय की श्राविकाएं रसोई बनाती हों तो हमें मालूम नहीं। यदि ऐसा ही होता हो तो यह बुरा है। इससे भ्रष्ट कुल व उत्तम धर्म की गौरवता की हानि पुण्य बुद्धि में मलीनता भ्रष्टाचार का आरोप और लोगों में निन्दा होती है व धार्मिक शास्त्रों से व्यवहारिक बातों से व उत्तम कुल को मर्यादा से भी शारीरिक मानसिक आदि अनेक दोषों की उत्पत्ति होती है। अतएव ९४ प्रहर हो क्या जहाँ तक रजस्वला रहे वहां तक पूरा २ परहेज किया जावे।

हम देखते हैं कि दयाछी लोगों के अनुयायी श्रावक लोग रजस्वला वालों के यहां से दूध, दही शाक, पान, फल आदि लेकर खा पी जाते हैं और अपने गुरुओं को बहरा देते हैं जो वे भी चट कर जाते हैं। मरने वालों के यहां का भी सूतक नहीं रखते। लवंग, केशर काली मिर्च, आदि वस्तु लेकर खा जाते और अपने गुरुओं को बहरा देते हैं। अब

सोस है कि सूतक पातक के यहाँ का खा पी जाने वाले कहते हैं कि नहीं खाना चाहिये इस पर पाठक विचार कर लें कि "दण्डो लोग कहते हैं वैसा करते नहीं।"

२७—दण्डीजी! श्वे० स्था० जैन आम्नायानुयायी कोई ऐसा नहीं कहेगा कि—"जैसे गूमडे से फूट कर खून निकलता उसका परहेज नहीं किया जाता वैसे ही रजस्वला स्त्री का' यह तो केवल तुम दण्डी लोगो की चाल है कि कुछ भो काले कालम कर जनता को धोके में डाल झूंठी २ बातों का प्रचार करना। पर वास्तविक बात तो यह है कि श्वे० स्था० जैन मात्र रजस्वला से पूरा २ परहेज रखते हैं।

दण्डीजी! जो तुम लिखते हो कि "रजस्वला वाली स्त्रियों से परहेज रखने के लिये मकान के दरवाजे बन्द रखते हैं।" पर दण्डीजी! तुम्हा। यह लिखना मूढ़ता का है। क्योंकि रजस्वला स्त्री व साध्वी अन्य घरों में जायगी हो नहीं तो फिर द्वार खुले रखने व बन्द रखने का काम ही क्या रहेगा? केवल थोथी बातो से पोथे भरना ही दण्डा लोगो का कर्त्तव्य मात्र रह गया है।

२८—दण्डीजी! प्रथम तो लिख आये कि प्रतिक्रमण स्तोत्र वगैरह का नित्य नियम हो तो रजस्वला स्त्री अपने मन में स्मरण करले और अब उसी के आगे लिख रहे हो कि नवकार आदि का उच्चारण करने से कर्म बधन होता है। क्या खूब कही? कोई मूर्ख भी अपनी बात को इस प्रकार न काट सकेगा। पर लिखने वाले ठहरे दण्डी न! उनमें इतनी बुद्धि आयगी कहां से कि आगा पीछा सोच कर लिखें। यदि दण्डी कह देंगे कि पहले मन में स्मरण करने को कहा था, उच्चारण करने को नहीं तो भी यह द्वयम् नम्बर की मूर्खता होगी—"उच्चारण करने से पाप बंधे और स्मरण करनेसे पाप न लगे" ऐसा कथन सिवाय दण्डियों के कोई भी थोड़ा सा तत्व का भी ज्ञान रखता होगा कभी

स्वीकार नहीं करेगा। फिर ढ़ूढ़ीजी को कहने का साहस ही कैसे हो जाता है यह नहीं मालूम होता। क्या ढ़ूढ़ीजी वस्तु ज्ञान से कोरे हैं!

फिर देखिए, ढ़ूढ़ीजी ने कहा कि मन में स्मरण करने से पाप बंधन नहीं, उच्चारण में पाप बंधन है तब तो इन ढ़ूढ़ियों के कथनानुसार मन से हिंसा करने वालों को तो पाप बंधन ही नहीं होता होगा, यदि ऐसा हो मानते हैं तो ढ़ूढ़ीजी को जैन कहना भी दोष है।

फिर भी देखिये ढ़ूढ़ी लोग रजस्वला स्त्री को नवकार का उच्चारण करनेसे पाप बंधन होता है, ऐसा कहते हैं, पर उन्हीं के आम्नाय की बनी ढ़ूढ़ी लोगों की रची "गप्प दीपिका समीर" नाम की पुस्तक जो सं० १९४८ में मुद्रित हुई उसके पृष्ठ १०४ पर निम्न प्रकार से लिखा है—

'वार (और) जे कर उस मानस को ऐसा नियम होवे कि मैंने पूजा करा बिना तथा नाम लिए करा बिना कोई भी वस्तु मुंह में पानी नहीं तो उस मानस को सूतक वा पातक कुछ भी नहीं है तथा हम (साम) जगत् व्यवहार से भ्रष्ट नहीं हैं।

देखिये इसमें स्पष्ट उल्लेख है कि सामायक करे उसमें सूतक पातक कुछ नहीं और ढ़ूढ़ीजी लिखते हैं कि नवकार गिनने में पाप बन्धन, तो इन दोनों में से सच्चा कौन ? यह स्वाभाविक प्रश्न खड़ा होता है। इसके उत्तर में दोनों में से कोई एक झूंठा अवश्य ठहरता है।

ढ़ूढ़ी लोग अपनी झूठी पवित्रता दिखाने के लिये कह पड़ते हैं कि रजस्वला से परहेज करना और ग्रन्थों में लिखते हैं कि सूतक पातक कुछ नहीं, यह उनकी दुरंगी चालें जनता को धोखे में न डाले वाली मायावी जाल से कुछ कम नहीं हैं।

४९. ढ़ूढ़ीजी! श्वे० का जैन तो अच्छी तरह से रजस्वलाओं की अशुद्धि मानते हैं पर तुम ढ़ूढ़ी लोग भी दुरंगी चाल' कोव

कर रजस्वला की अशुद्धि पूरी २ मानों और उसी अनुसार वर्ताव करो।

३०—आगे चल कर दण्डीजी लिखते हैं कि—'११-१२ रोज तक जिसके घर में जन्म हुआ या मृत्यु हुई उसके घर का आहार पानी नहीं लेता।'

दण्डीजी! तुम्हारे लेख के अनुसार तुम्हारे भक्त श्रावक लोग पालन कहां करते हैं? क्योंकि घोसी दूध वाले आदि लोगों के यहां जन्म होवे तद्पि कोई सूतक रखते नहीं। और उनके घर में कोई मर जाय तो कोई सूतक पातक रखते नही। फिर वहाँ से दूध, दही, घी, तेल, इलायची, केशर, कपूर, लवग, काली मिरच आदि अनेक वस्तु ले आते हैं और खा जाते हैं और तुम दण्डी लोगों को भी वही सूतक पातक का लाया हुआ बहरा देते हैं। इसी तरह शाक, भाजी, फल वगैरह के लिये भी समझिये। अब कहिये, दण्डीजी! कहां गया तुम्हारा सूतक पातक?

३१—दण्डीजी! अशुद्ध जगह में व शरीर व वस्त्र की मलीनता में श्वे० स्था० जैन साधु न कोई स्वाध्याय करते हैं और न पठन पाठन ही करते हैं। इसी प्रकार साध्वी भी रजस्वला अवस्था में न शास्त्र पढ़ती और न गोचरी आदि के लिये अन्य घरों में जाती हैं। केवल दण्डीजी का लेख ही नितान्त मिथ्या है।

३२—दण्डीजी! श्वे० स्था० जैन साधु साध्वी श्रावक श्राविका तो जन्म मरण वगैरह की अशुद्धि; सूतक का पूरा २ ज्ञान रखते हैं और उसका पालन भी यथायोग्य करते हैं। ऐसा न करने का उल्लेख दण्डीजी का मिथ्या है। दण्डीजी! तुम लोग व तुम्हारे अनुयायी लोग सूतक पातक जैसा रखना चाहिये वैसा कहां रखते हो? केवल अपनी पवित्रता की छाप जनता के सामने बैठाने के लिये ही सूतक पातक पुकार रहे हो पर वास्तविक में देखा जाय तो महा मलीनता का कार्य, सिर नीचा करने जैसा तुम लोगों के आचार्य ने तुम्हारे ग्रन्थ में रचना

कर मूत पीने का लिख दिया वह भी अनिष्ट जाति का जिससे तुम्हारे अनुयायियों को अग्रवाल, पल्लीवाल, माहेश्वरी आदि उत्तम जाति के कई लोग मूत पीने की महामलीनता के सम्बन्ध में बड़ी घृणा की दृष्टि से देखते हैं और अपने परींडे से हाथ लगाना तो दूर रहा छूने तक नहीं देते। यदि भूल से लगा भी दें तो उस मटके को फोड़ डालते हैं और इसके कई मरतबे झगड़े भी हो गए यह सब प्रसिद्ध बात है और तुम सबको लोग वाक्चातुरी रूप ही पवित्रता का झंडा ले फिरते हो पर कब मजाल जो तुम अग्रवाल महेश्वरी ब्राह्मण के चौके के पास चले जाओ। कारण तुमको दूर ही से रोक देंगे कि ठहर जाओ आगे मत बढ़ो। हमारा चौका छू जायगा। (अपवित्र हो जायगा) आदि २ इस लिये तुम लोगों को चाहिये कि जिससे व जिन २ कारणों से समाज की निन्दा हो उन २ बातों को समाज की भलाई के लिये समाज में से शीघ्र ही दूर कर दो। लौकिक शुद्धि से समाज के ऊपर मलीनता एवम् भ्रष्टता के कलंक को साफ कर अर्थात् धोकर पवित्रता का सिक्का जनता के सामने रक्खो ताकि लोगों के कर्म बन्धन भी न हो और झगड़ा भी न हो।

१३—स्वामीजी! यह तो तुम हम सभी मानते और जैन सिद्धान्त का अटल नियम यही है कि निन्दा करने वाले के पाप का बन्धन अवश्य होता है। भगवान् ने जो अष्टादश पाप का वर्णन किया उसमें निन्दा भी तो पाप है। क्या अजैनों द्वारा जैन धर्म पर सत्य बात की निन्दा होने से जैन धर्म झूठा व त्यागनीय माना जा सकता है? कभी नहीं। उनके निन्दा करने से पाप बन्धन के सिवाय और कुछ नहीं होता।

१४—स्वामीजी! जो तुमने ढूंढिये शब्द पर कविता की, वह मिथ्या है। उसको हम अमान्य दृष्टि से देखते हैं और न हमारा उसके अनुसार मन्तव्य है। हम लोग तो सनातन जैन साधु कहलाते हैं।

देखिये नवकार मंत्र में भी "नमो लोए सव्व साहूणं" पर ऐसा नहीं आया कि "नमो लोए सव्व संवेगियाणं या जतियाणं" किन्तु तुम जैसे द्वेषी लोगो ने द्वेष के आवेश में आकर श्वे० स्था० जैन साधु को 'ढूंढिये' ऐसा नाम दिया तदपि इस शब्द पर श्वे० स्था० जैन साधु कुछ नाराज नहीं हुए। क्योंकि साधु का पहिला धर्म है कि क्षमा करना। इसी उद्देश को लेकर यों कहा कि चलो भाई यों समझो, मरजी आवे सो समझो यह शब्द भी ऐसा कोई बुरा नहीं। क्योंकि "ढूंढि" धातु से ढुण्ढिया बनता है जो कि "गणेश" अर्थ का बोधक है। देखो "पद्म चंद्र" कोष के पृष्ठ १६४ पर तथा "शब्दार्थ चिंतामणी" कोष के पृष्ठ १०३५ पर। या यों कहिये कि ढुण्ढि अन्वेषण अर्थमें है सर्वज्ञके सिवाय सब मनुष्य कुछ न कुछ ढूढते ही रहते हैं अतएव तुम सब दण्डी लोग और हम सब ढूंढिये कहलावें तो कोई हरकत नहीं। क्योंकि तुम दण्डी लोग भी तो कोई वस्तु गुम हो जाने से उसे ढूंढते ही हो और विहार भूमि में रास्ता भूल जाने से रास्ता भी ढूँढते हैं। क्या इस प्रकार ढुढने से उसको दया धर्म की प्राप्ति में सन्देह है? कभी नहीं। यदि ऐसा ही है तो दण्डी लोग भी दिन में कोई न कोई वस्तु ढूढने के कार्य मे लगे ही रहते हैं। क्योंकि असर्वज्ञ हैं अत दण्डीजी के कथनानुसार दण्डीजी को भगवान् का सच्चा दया धर्म रूप मार्ग का रास्ता अभी तक नहीं मिला ऐसा दण्डीजी को मानना ही पड़ेगा।

दण्डीजी! श्वे० स्था० जैन मुनि ने कोई नया मत नहीं निकाला इसकी साक्षी नवकार मंत्र दे रहा है। यह धर्म तो अनादि काल से प्रतिपादित है। विपरीत बुद्धि तो तुम दण्डी लोगों की हो गई जिससे भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध श्वेत वस्त्र छोड़ कर पीले वस्त्र धारण करते हो। इस पर से यह भी सिद्ध होता है कि नवीन मत के चलाने वाले तुम ही दण्डी लोग हो।

दएडीजी! पानी विद्दल, शहद, आचार, कंदमूल, मक्खन आदि का उत्तर भली प्रकार पहिले लिख चुके हैं। पाठकगण उसे पढ़ कर स्वयं निर्णय निकाल लें। दएडीजी! तुम स्थे० स्था० जैन साधु पर सम्प शान्ति उच्छेदन का आरोप लगाते हो यह भी सर्वथा मिथ्या है। दरअसल सम्प शांति का मजा देखना हो तो सूरत के हत्याकांड, बंबई में कलह कांड आदि २ का जरा अवलोकन करो ताकि मालूम हो जाय कि घर २ में क्लेश फैलाने वाले कौन हैं?

१५—आगा चल कर दएडीजी ने टोले शब्द का उपहास्य किया है और कहा है कि टोले पशुओं के होते हैं। धन्य है तुम्हारी प्रखर जड़ बुद्धि को! दएडीजी! जरा निरे निरक्षर मत बनिये। टोला शब्द समुदाय वाचक है। वह शब्द सब तरह की वस्तुओं के समुदाय में घटित होता है। यदि पांच दस दण्डी लोग मिल कर कहीं जाते हों तो उन्हें भी लोग कहते कि टोले के टोले कहां जा रहे हैं? क्या उन्हें ऐसे कह देने मात्र से दण्डी लोग पशु बन गए? नहीं, टोला-समुदाय, गच्छ, कुल शाखा चाहे को कहा जाय ये सब ही शब्द समुदाय अर्थ के द्योतक शब्द हैं।

फिर दरिद्र! दण्डी लोग टोले शब्द का अस्त्य अर्थ पशु का टोला करते हैं तो क्या दण्डी लोगों के माने हुए कुल और शाखा शब्द का अर्थ इस प्रकार नहीं हो सकता कि कुल भंगी या चमार का और शाखा पड़ या पीपल की।

१६—दण्डीजी! अब तो तुम शब्दार्थ पर ही उतर पड़े तो भलो पहिले तुम तुम्हारे घर को तो देख लो कि "खरतर" शब्द की क्या व्याख्या है और उसका क्या अर्थ निकलता है। "खर=गधा तर=विशेषार्थ द्योतक। दण्डीजी अब क्या बाकी रहा। आपके शब्दार्थ का उत्तर भली भांति मिल चुका। विशेष लिखना अनुपयुक्त है।

दण्डीजी ! स्थानकवासी कहने से मकान के ममत्वी नहीं कहला सकते क्योंकि मकान साधुजी का नहीं है और न उस पर उनकी मालकी ही है। इसलिये मठवासी का दृष्टान्त नितान्त अघटित है। हां, तुम दण्डी लोगों पर घटता हो तो हमे मालूम नहीं। विना स्थान, आश्रय बिना कोई ठहर ही नहीं सकते। अतः तुम हम सब ही को स्थानकवासी कहलाने में कोई दोषापत्ति नहीं है। क्योंकि आश्रय, स्थान, स्थानक, उपाश्रय, मकान, घर, हवेली आदि नामों से पुकारे जाते हैं और विश्राम लेने को उसी में ठहरते हैं।

दण्डीजी ! तुम लोग देहरावासी कहलाते हो तो यह बड़ी भारी अज्ञान दशा है। क्योंकि तुम लोग देहरे में तो रहते ही नहीं तो फिर देहरा वासी कैसे ? अतः सच्चे जैनियो का देहरेवासी कहलाना सर्वथा जिनाज्ञा-विरुद्ध है।

३७—दण्डीजी ! आगे चल कर तुमने लिखा है कि—"जिनेश्वर भगवान् रूप महाराजा के आचार्य उपाध्याय रूप मन्त्री (दीवान) तवाल के हाथ के नीचे साधु पद तो एक छोटा सिपाही समान है। भगवान् के सर्वज्ञ मार्ग अर्हन मार्ग आदि नामों के बदले साधु- ाम चलाते हैं, इससे साधुमार्गी नाम चलाने वाले सब........ नेश्वर भगवान् की आज्ञा उत्थापन करने के गुन्हेगार बनते हैं।" ैरः।

दीजी ! यह तुम्हारा लिखना सिर्फ मिथ्यात्व का द्योतक है। "साधुमार्गी धर्म" यही भगवान् का मार्ग है इसलिये साधुमार्गी से भगवान् की आज्ञा उत्थापन करने के अपराधी नहीं हो सकते। प्रकार अनेकों मिथ्या बातें लिख कर रसातल के कपाट का ये उद्घाटन करने का सुन्दर संकल्प किया है। तो जल्द ही प्र... ा हो जायगा। फिर देखिये "अर्हत" प्रभु का पद साधु पद स... और आचार्य उपाध्याय भी साधु पद से

पृथक् नहीं है। एक "सिद्ध पद" के अतिरिक्त चारों ही पद एक "साधु पद" ही में समावेश होते हैं। अर्थात् एक साधु पद के चारों ही विरो पण हैं। न कि पृथक् २। जैसे मति श्रुति, अवधि और मनः पर्यव, यह चारों ज्ञान केवल ज्ञान के अन्तगत के भेद हैं और जब केवल ज्ञान पैदा होता है तो वह चारों ही ज्ञान केवल ज्ञान में प्रविष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार "अर्हत आचार्य, उपाध्याय और मुनि ये चारों पद एक "साधु पद" में आ जाते हैं। ऐसा महद् पद जिसके लिये उसकी आचार्य उपा ध्याय रूपी मंत्री (दीवान) कोतवाल के हाथ के नीचे साधु पद तो एक आम सिपाही का पद ऐसी उपमाएं देते हो यह तुम्हें ही शोभा देता है। फिर साधुमार्गियों को आज्ञा उत्थापक कह कर तो तुमने कमाल किया है। क्योंकि मुनि मार्ग यह सब खास सर्वज्ञ प्रभु का माग सिद्ध है और केवल वीर परमात्मा न ही नहीं चौबीसों परमात्माओं ने अपने पवित्र मुख से मुनि धर्म प्रतिपादित किया है और ससारी मार्गों में बस इसी मार्ग को सच्चा मार्ग प्ररूपित किया है तथा यही मार्ग संसार भर में सर्वो त्तम एवम् न्याय संगत पवित्र मोक्ष का देने वाला है तो फिर श्रमण धर्म के समान संसार से तिराने वाला अन्य मार्ग ही कौन है ? देखो, इसी विषय में आवश्यक सूत्र में परमात्मा का उल्लेख है। कि—

"नमो चउवीसाए, तित्थयराणं उसभाइ, महावीरायणं, पज्जवसाणाणं इणमेव निग्गंथं, पावयणं, सच्चं अणुत्तरं केवलियं पडिपुण्णं, णेआ उयं संसुद्धं, सल्लगत्तणं, सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं निज्जाणमग्गं निव्वाण मग्गं इति वचनात्।

(नमो) नमस्कार हो (चउवीसाए) चौबीसों (तित्थयराणं) तीर्थ करों को (उसभाइ) ऋषभदेवजी से लेकर (महावीरायणं) श्री चौबीसवें महावीर स्वामी (पज्जवसाणाणं) पर्यन्त अर्थात् चौबीसों जिनराज को (इणमेव यह निर्ग्रंथों का धर्म आठ प्रवचन मय द्वादशांगी रूप तीर्थंकरों ने प्रतिपादन किया (निग्गंथं) निर्ग्रंथों का धर्म (पावयणं) आठ प्रवचन

अर्थात् पांच समिति, तीन गुप्ति, यह आठ प्रवचन दया माता के हैं। यह धर्म कैसा है ? (सच्चं) सच्चा है (अणुत्तरं) सर्वोत्तम, प्रधान (केवलियं) केवली भगवान् के द्वारा प्रतिपादन किया हुआ, (पडिपुरणं) सकल गुणों कर प्रतिपूर्ण-भरा हुआ (णेयाउयं) न्याय मार्ग है (संसुद्ध) अत्यन्त शुद्ध मायादि कलक रहित, (सिद्धिमग्गं) मोक्ष का मार्ग है (मुत्तिमग्गं) अहितार्थ से मुक्त करने वाला मार्ग (निज्जाणमग्ग) सकल कर्मों का क्षय करने वाला ऐसा मोक्ष का मार्ग (निव्वाणमग्ग) संसार मार्ग से उत्तीर्ण होने के लिये एकान्त निर्वाण मार्ग (निवाणमग्घ) समार सागर से उत्तीर्ण होने के लिये एकान्त निर्वाण मार्ग है।" इति वचनात्।

दण्डीजी ! उक्त आवश्यक सूत्र के प्रमाण से स्वत: सिद्ध है कि श्रमण साधुओं का ही धर्म प्रभु का प्रतिपादित धर्म समझे। तुम दण्डियों का जडोपासना रूप धर्म तो उक्त प्रमाग से निर्विवाद आधुनिक है और साधु मार्गियों का, मुनियों का धर्म जिनागम विहित और खास जिनेश्वर मार्ग अनादि सिद्ध है तो केवल यही एक साधु मार्ग है।

दण्डीजी ! फिर भी श्रमण धर्म की प्राचीनता के विषय मे देखिये आनन्दजी आदि दस श्रावकों और श्राविकाओं ने वीर परमात्मा के मुख कमल से वाणी श्रवण कर प्रभु प्रतिपादित द्वादश विधि गृह वास का धर्म धारण किया और पच महाव्रतधारी श्वे० स्था० जैन मुनियों के ही उपासक बने। निम्नोक्त प्रमाण पढ़िये—

"तत्तेण से आणंदे समणोवासए जाते अभिगए जीवाजीवे जाव पडिलाभेमाणे विहरति।" ६५। तथाहि—

"तत्तेणं सासि वाणदा भारिया समणोवासिया जाया जाव पडिलाभेमाणि विहरति" ६६। इति वचनात्।

अर्थात् जब "आनन्दजी" नाम के श्रमणोपासक श्रावक श्रीवीर परमात्मा के मुख कमल से परम वैराग्य रस मयी वाणी सुन कर द्वादश विध गृह वास का धर्म धारण कर जीवाजीव के जानकार बन के

(भाम्यन्ति-तपश्चरन्तीति श्रमणाः) ऐसे श्वेताम्बर जैन श्रमणों (साधुओं) के उपासक बन कर यावत (श्रमण) निग्रंथों का चतुर्दश प्रकार का प्रासुक दान प्रति लाभते विचरने लगे अर्थात इसी प्रकार आनन्दजी, श्रावक की शिवानन्दा नाम की भार्या ने भी श्री महावीर प्रभु की वाणी श्रवण कर द्वादश विध गृहवास का धर्म धारण किया व श्रमणोपासक श्राविका बनी और चतुर्दश विधि युक्त प्रासुक दान निग्रंथ मुनियों को प्रतिलाभ करती हुई अर्थात् दान देती हुई विचरने लगी।"

इसलिये इस प्रमाण से 'श्री श्रमण' साधुओं का धर्म अनादि सिद्ध है और तुम ढूंढियों द्वारा प्रतिपादित जिनागम विरुद्ध कहो भावना रूप धर्म ही आधुनिक सिद्ध हुआ।

दयाजी! 'श्रमण-धर्म अनादि सिद्ध है' इस विषय में भी श्रमण भगवन्त महावीर स्वामी ने मोक्ष पधारते समय श्रीमदुत्तराध्ययन सूत्र के १८ वें अध्याय में भी मुख से श्रमण धर्म को ही जिन शासन अर्थात् सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग प्रतिपादन किया है। अस्तु, निम्नलिखित प्रमाण अवलोकन कीजिये—

"संजओ चइउ रज्जं, निक्खन्तो जिणसासणे।
गद्दभालिस्स भगवओ अणगारस्स अन्तिए ॥१९॥"

अर्थात् भगवान् गद्दभाली मुनि की परम वैराग्य रस मयी वाणी सुन कर (संजओ) वह संजय नाम का राजा उसी समय (रज्ज) राज्य को (चइउं) त्याग करके (भगवओ) भगवान् (गद्दभालिस्स) श्रीगर्दभाली नाम के (अणगारस्स) मुनि निर्ग्रंथ के (अंतिए) समीप (जिण-सासणे) जिन शासन—अर्थात् सर्वज्ञ मार्ग के विषय (निक्खंतो) निकले अर्थात् दीक्षा ग्रहण की।

भावार्थ—श्रमण भगवान् गर्दभाली मुनि की परम वैराग्य रस मयी वाणी सुन कर कम्पिलपुर का महाधीश संजय नामक राजा राज्य आदि अंत: पुरादि सकल परिवार त्याग कर उक्त मुनिराज श्रमण

भगवान् गर्दभाली नामक अणगार के समीप जिन शासन अर्थात् सर्वज्ञ मार्ग में दीक्षित हो सकल कर्म क्षय कर केवल ज्ञान केवल दर्शन पा मोक्ष में जा बिराजे।

दण्डीजी! उक्त श्रीमद् उत्तराध्ययन सूत्र के प्रमाण से स्पष्ट सिद्ध है कि धर्म अनादि है और सर्वज्ञ जिनेश्वर भगवान् का ही है न कि आधुनिक और किसी अल्प व्यक्ति का चलाया हुआ।

दण्डीजी! इन शास्त्रोक्त प्रमाणों से तो श्वे० स्था० जैन मुनियों का ही मार्ग अनादि और जिनागमानुकूल मोक्ष प्रदायक सिद्ध है और साधुमार्गी तथा श्रमणोपासक कहने में जिनेश्वर भगवान् की आज्ञा के उत्थापन करने के कदापि अपराधी नहीं। इसलिये तुम्हारा लिखना सर्वथा मिथ्या है। हां, तुम दण्डी लोग तो भगवदाज्ञा के अवश्य अप राधी हो सकते हो क्योंकि तुम पीताम्बरी दण्डी लोगों को जब २ कोई पूछता है तो तुम लोग सर्वज्ञ-शासन, जैनमार्ग अर्हत प्रवचन, श्रमण-धर्म आदि शास्त्र विहित नामों के बदले में पुजेरे, मूर्त्तिपूजक, तपगच्छीय, खरतरगच्छीय, अंचल गच्छीय आदि नाम बतलाते हो। इसलिये तुम्हीं दण्डी लोग भगवान् की आज्ञा के उत्थापक और सर्वज्ञ प्रणीत श्रमण धर्म के लुम्पक हो तथा जिस प्रकार राजा महाराजा के नाम की सुन्दर मर्यादा उत्थापन कर अपने नाम की कुत्सित मर्यादा चलाने वाला सि-पाही बडा अपराधी होता है इसी प्रकार भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध जडोपासना रूप धर्म की स्थापना करके तुम दण्डी लोग ही महान् गुन्हेगार बनते हो और प्रभु आज्ञा के विरोधक होते हो।

दण्डीजी! आवश्यक, उववाई आदि जिनागमों में निर्ग्रन्थ, प्रव-चन का जो नाम आया है, वह तीर्थङ्कर भगवान् के दिये हुए उपदेश का तथा गणधरों की रची हुई द्वादशांगी का नाम है। यह बिलकुल ठीक है और उससे निर्ग्रन्थ प्रवचन यह नाम तीर्थंकर गणधरों का कहा जाता

है। जिससे जैन समाज में जितने साधु, साध्वी, श्रावक श्राविकाएं होती हैं वह सब जिनेश्वर भगवान् के उपदेश दिये हुए मार्ग के अनुसार चलने वाली हैं और जैनी कहलाती हैं। दगडीजी! यह लिखना तो तुम्हारा बिलकुल ठीक है। तुम्हारे इस लेखानुसार चलने वाले अर्थात् निर्ग्रन्थ प्रवचन को सादर सप्रेम आंखों पर चढ़ा के चलने वाली है तो केवल एक श्वे० स्था० जैन समाज ही है और वही समाज श्वे० जैन होने का सच्चा दावा रखती है। पीताम्बर समाज नहीं क्योंकि वीर परमात्मा ने जैन निग्रन्थों और निर्ग्रन्थनियों के लिये श्वेत (सफेद) मानोपेत वस्त्र ही धारण करना सूत्रों में प्रतिपादन किया है। इस वीर वाक्य के अनुसार मानोपेत श्वेत वस्त्र धारण करने वाली है तो एक श्वे० स्था० जैन समाज, जिसके निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थनियां-साधु-साध्वियां निग्रन्थ प्रवचनों के अनुयायी हैं। इसी धर्म को श्रमणधर्म-निग्रन्थधर्म-साधुधर्म. साधुमार्गी सर्वज्ञमार्ग जैनधर्म आदि अनेक नाम से पुकारते हैं। इसलिये दगडीजी! साधुमार्गी, निग्रन्थधर्मी श्रमणधर्मी आदि कहने में किसी प्रकार का पाप व आशातना नहीं है। शास्त्रकार जिनेश्वर भगवान् ने ही श्रमणोपासक—अर्थात् साधुओं के उपासक ऐसा शब्द प्रतिपादन किया है किन्तु जड़ोपासक, जड़ की उपासना करने वाला तथा मूर्ति पूजन वाला आदि शब्द किसी भी सूत्र में कहीं भी नहीं प्रतिपादन किये। तथा संवेगधर्मी खरतरगच्छी तपगच्छी, अचलगच्छी आदि एक भी शब्द जिनागमों में नहीं लिखा। तथा न पीले वस्त्र धारण करने का ही बयान जैन शास्त्रों में वर्णित किया। इससे सिद्ध है कि पीताम्बरी सवेगी दगडी लोग भगवदाज्ञा के विरुद्ध चलने वाले हैं अर्थात् भगवदाज्ञा के बाहर हैं और पीले वस्त्र भी जिनाज्ञा विरुद्ध धारण करते हैं। इस लिये पीत वस्त्रधारी जैन मुनि नहीं हैं। जैन मुनि तो वे ही हैं जो शास्त्रानुसार मानोपेत श्वेत वस्त्र धारण करते हों। दगडी लोग अपने मत पंथ की प्रसिद्धि के लिये निग्रन्थ प्रवचन श्रमणोपासक सर्वज्ञ धर्म

आदि नाम छोड़ के मूर्तिपूजक, संवेगी, खरतरगच्छी, तपगच्छी आदि नाम से प्रसिद्धि में आने का प्रयत्न करते हैं, जिससे जिनमार्ग के उत्थापन करने के दोष के भागी बन अनन्त संसार बढ़ाते हैं।

३८—दण्डीजी ! श्वे० स्था० जैन मुनि अपना मूल नाम "सौधर्म गच्छीय" ऐसा बतलाते हैं किंतु हमारी इमदा लौंकाशाह से है ऐसा कोई भी जानकार मुनि नहीं कहता, तो मूलनाम "लुंकागच्छ" कहते है ऐसा तुम्हारा लिखना मिथ्या है। इसी प्रकार "यति लोकों के पास लुंका अशुद्ध पुस्तक लिखने लगा तब यतियो ने लुंका से पुस्तक लिखवाना बन्द कर दिया तो लुंका की आजीविका (रोजी) मारी गई जिस से लुंका यतियो पर नाराज होकर निन्दा करता हुआ यतियो की प्रतिष्ठा व आजीविका का उच्छेद करने लगा व उसने जिन प्रतिमा की उत्थापना कर सं० १९३५ में अपना नया मत चलाया।" इस प्रकार दण्डीजी तुम्हारा लिखना मिथ्या है। क्योंकि कोई वे घर के गरीब नहीं थे। वे तो सरकारी अहलकार थे, उनके अक्षर बड़े ही शुद्ध और सुन्दर थे इसलिये परिग्रहधारी द्रव्य लिंगी निरक्षर भट्टाचार्य यति लोगों ने जिनके कि पास भंडार जैनागम के भरे थे वे उन्हे जीर्ण रेणी दीम आदि के खाये हुए दृष्टिगत हुए तो उन यतियो, निरक्षर भट्टाचार्यों ने जिनागमों की हालत देख विचार किया कि यदि इन आगमों को किसी शुद्ध व सुन्दर लेखक से पुनः लिखवा ले तो अत्युत्तम है, नहीं तो जिनेन्द्रागमों के विच्छेद होजाने पर समस्त जैनधर्म ही समूल विच्छेद हो जायगा इस पर से सारे अहमदाबादमे सुन्दर व शुद्ध लेखक को तलाश करते वे द्रव्य लिंगी परिग्रह धारी यति लोक घूमते घामते कालूपुर के रहने वाले कारकून लौंकाशाह के पास आये और आपकी शुद्ध व सुन्दर लिपि देख कर अत्यन्त प्रसन्न हुए। वे उन्हे नम्रता पूर्वक हार्दिक भाव से कहने लगे तो लौंकाशाह ने अपना श्रावक का कर्तव्य तथा जिन शासन की अभिवृद्धि व उपकार का कारण समझ बिना किसी वेतन के उन

है। जिससे जैन समाज में जितने साधु, साध्वी, श्रावक श्राविकाएं होती हैं वह सब जिनेश्वर भगवान् के उपदेश दिये हुए मार्ग के अनुसार चलने वाली हैं और जैनी कहलाती हैं। दयाछोडी! यह लिखना तो तुम्हारा बिलकुल ठीक है। तुम्हारे इस लेखानुसार चलने वाली अर्थात् निर्ग्रन्थ प्रवचन को सादर सप्रेम आंखों पर चढ़ा के चलने वाली है तो केवल एक श्वे० स्था० जैन समाज ही है और यही समाज श्वे० जैन होने का सच्चा दावा रखती है। पीताम्बर समाज नहीं, क्योंकि वीर परमात्मा ने जैन निग्रन्थों और निर्ग्रन्थनियों के लिये श्वेत (सफेद) मानोपेत वस्त्र ही धारण करना सूत्रों में प्रतिपादन किया है। इस वीर वाक्य के अनुसार मानोपेत श्वेत वस्त्र धारण करने वाली है तो एक श्वे० स्था० जैन समाज, जिसके निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थनियां-साधु-साध्वियां निग्रन्थ प्रवचनों के अनुयायी हैं। इसी धर्म को श्रमणधर्म-निग्रन्थधर्म-साधु-धर्म साधुमार्गी सद्धर्ममार्ग जैनधर्म आदि अनेक नाम से पुकारते हैं। इसलिये दयाछोडी! साधुमार्गी निग्रन्थधर्मी श्रमणधर्मी आदि कहने में किसी प्रकार का पाप व आशातना नहीं है। स्वयं श्री जिनेश्वर भगवान् ने ही श्रमणोपासक—अर्थात् साधुओं के उपासक ऐसा शब्द प्रतिपादन किया है किन्तु जड़ोपासक, जड़ की उपासना करने वाले तथा मूर्ति पूजन वाले आदि शब्द किसी भी सूत्र में कहीं भी नहीं प्रतिपादन किये। तथा संवेगधर्मी खरतरगच्छी तपगच्छी, अंचलगच्छी आदि एक भी शब्द जिनागमों में नहीं लिखा। तथा न पीले वस्त्र धारण करने का ही बयान जैन शास्त्रों में वर्णित किया। इससे सिद्ध है कि पीताम्बरी संवेगी दयाछोडी लोग भगवदाज्ञा के विरुद्ध चलने वाले हैं अर्थात् भगवदाज्ञा के बाहर हैं और पीले वस्त्र भी जिनाज्ञा विरुद्ध धारण करते हैं। इस लिये पीत वस्त्रधारी जैन मुनि नहीं हैं। जैन मुनि तो वे ही हैं जो शास्त्रानुसार मानोपेत श्वेत वस्त्र धारण करते हों। दयाछोडी लोग अपने मत पंथ की प्रसिद्धि के लिये निग्रन्थ प्रवचन श्रमणोपासक सद्धर्म धर्म

आदि नाम छोड़ के मूर्तिपूजक, संवेगी, खरतरगच्छी, तपगच्छी आदि नाम से प्रसिद्धि में आने का प्रयत्न करते हैं, जिससे जिनमार्ग के उत्थापन करने के दोष के भागी बन अनन्त संसार बढ़ाते हैं।

३८—दण्डीजो ! श्वे० स्था० जैन मुनि अपना मूल नाम "सौधर्म गच्छीय" ऐसा बतलाते हैं किंतु हमारी इसदा लौंकाशाह से है ऐसा कोई भी जानकार मुनि नहीं कहता, तो मूलनाम "लुंकागच्छ" कहते है ऐसा तुम्हारा लिखना मिथ्या है। इसी प्रकार "यति लोको के पास लुंका अशुद्ध पुस्तक लिखने लगा तब यतियो ने लुंका से पुस्तक लिखवाना बन्द कर दिया तो लुंका की आजीविका (रोजी) मारी गई जिस से लुंका यतियो पर नाराज होकर निन्दा करता हुआ यतियों की प्रतिष्ठा व आजीविका का उच्छेद करने लगा तो उसने जिन प्रतिमा की उत्थापना कर सं० १९३५ में अपना नया मत चलाया।" इस प्रकार दण्डीजी तुम्हारा लिखना मिथ्या है। क्योंकि कोई वे घर के गरीब नहीं थे। वे तो सरकारी अहलकार थे, उनके अक्षर बड़े ही शुद्ध और सुन्दर थे इसलिये परिग्रहधारी द्रव्य लिंगी निरक्षर भट्टाचार्य यति लोगों ने जिनके कि पास भंडार जैनागम के भरे थे वे उन्हें जीर्ण रेणी दीमक आदि के खाये हुए दृष्टिगत हुए तो उन यतियो, निरक्षर भट्टाचार्यों ने जिनागमो की हालत देख विचार किया कि यदि इन आगमों को किसी शुद्ध व सुन्दर लेखक से पुन लिखवा लें तो अत्युत्तम है, नहीं तो जिनेन्द्रागमो के विच्छेद होजाने पर समस्त जैनधर्म ही समूल विच्छेद हो जायगा इस पर से सारे अहमदाबादमें सुन्दर व शुद्ध-लेखक को तलाश करते वे द्रव्य लिंगी परिग्रह धारी यति लोक घूमते घामते कालूपुर के रहने वाले कारकून लौंकाशाह के पास आये और आपकी शुद्ध व सुन्दर लिपि देख कर अत्यन्त प्रसन्न हुए। वे उन्हे नम्रता पूर्वक हार्दिक भाव से कहने लगे तो लौंकाशाह ने अपना श्रावक का कर्तव्य तथा जिन शासन की भमिहान् क्त व उपकार का कारण समझ बिना किसी वेतन के उन

यतियों की हार्दिक भावना स्वीकृत की। तब यतियों ने बड़े ही आनन्द के साथ कवल एक दशवैकालिक की प्रति लाकर लौंकाशाह को दी तब लौंकाशाह ने सहर्ष कर कमलों में ग्रहण की और लिखने के पूर्व उक्त सूत्र को समग्र पढ़ा तब आपको ज्ञात हुआ कि जिनेश्वर भगवान ने तो "पुढवि न खणे न खणावए, सी ओदगं न पिए न पियावए। अगणि सत्थं जहा सुनिसियं, तं न जले, न जलावए जे स भिक्खू" इस प्रकार है और यति लोग तो जल फूल, धूप हिंसाजनक मूर्तिपूजन, आदि के तथा मन्दिर बनवाने या जिर्णोद्धार, जल यात्रा, स्नात्र पूजा स्वामी वात्सल्य, प्रतिष्ठा आदि का कार्या के हिंसा जनक उपदेश स्वयं देते और दिलाते हैं और विहारादि के समय गाड़ी, घोड़े, श्रावक नौकर आदि साथ रखते हैं तथा दाल भाजी आदि नित नये उम्दा २ भोजन, उष्ण जल आदि बनवा के खाते पीते हैं तथा मोल मंगवा कर खाते हैं, जिनागमों के विपरीत प्ररूपणा करते हैं, आगमों को भंडार में रख कर मनों के बनाये स्वकपोल कल्पित कथा, रास, चौपाई, राजु मयमहात्म्य आदि व्याख्यान द्वारा सुनाते हैं, शास्त्रानुकूल टीका, चूर्णि, दीपिका, भाष्य आदि भंडारगत कर नवीन टीका, चूर्णि, निर्युक्ति, दीपिका आदि में मूर्तिपूजा आदि हिंसाजनक विषय रख कर भोले पिपासु जैन जनता को प्रतिकूल मार्ग दिखा रहे हैं। उनने सोचा इस समय यदि इस विषय में इनसे कुछ कहा सुना जायगा तो ये पेटार्थी लिखने को सूत्र न देंगे और जब तक जिनागमों का प्रचार प्रत्येक व्यक्ति के कर कमलों तक न होगा तब तक जैन धर्म का संसार में अस्तित्व रहना बहुत ही भारी हो जायगा। इसलिये लौंकाशाह ने जैन यतियों से कुछ न कह एक २ सूत्र की दो २ प्रत लिखना प्रारम्भ किया। इस प्रकार ३२ सूत्रोंकी एक २ प्रत अपने पास रख कर एक २ प्रत यतियों को दे दी और अपने पास रखी हुई ३२ सूत्रों की एक २ प्रत को अपने बैठक के कमरे में रखदी और "जिनागम वाचनालय" नाम की एक संस्था कायम करदी।

एक दिन परिग्रह धारी द्रव्य लिंगी यति का शिष्य भिक्षादि किसी कार्य वश लौंकाशाह के घर पहुचा और उक्त जिनागमों की मस्था को देख पागल सा हो उसने अपने गुरु के सामने उक्त संस्था का सारा हाल कहा। गुरु ने यह बात सुन उसी दिन से नवीन प्रत लिखने देना बन्द कर दिया। और पूर्व जितनी प्रतें लिखने दी थी वे भी वापस ले लीं। लौंकाशाह को यतियों ने जितनी भी प्रते लिखने दी थी उनका एक २ उतारा अपने पास रख लिया था इसलिए अब स्वय लौंकाशाह अपने मकान पर ही जिनागम का पठन पाठन करने लगे, उन सर्वज्ञ प्रणीत सूत्रों को सुनने के लिये सहस्त्रो की तादाद मे नर-नारी एकत्रित होन लगे तब लौंकाशाह ने भी अपने अवशेष गृह कार्य को भी जला-जली देकर केवल एक निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रचारार्थ ही कटिबद्ध हो खड़े हो गए। जो २ जिज्ञासु नर-नारी जिनेन्द्र धर्म श्रवणार्थ आया करते थे उनको वे अन्त.करण से जी जोड परिश्रम कर उपदेश करते थे और भिन्न २ प्रकार से निर्ग्रन्थ प्रवचन उनके हृदय में ठसाते थे। सम्यक देव गुरु और धर्म का स्वरूप तथा जड चेतन की भिन्नता, जड़ोपासना या मूर्ति पूजा में, जल, फूल, धूप, दीप आदि द्वारा छओ काया की होने वाली हिंसा का स्वरूप, जलयात्रा, वरघोड़ा, स्थावर तीर्थ आदि से आत्मा में होने वाली हानिया व प्रभु प्रणीत माग से विपरीतता का प्रद-र्शन, सुगुरु कुगुरु का स्वरूप, सम्यक ज्ञान दर्शन चारित्र रूप मोक्ष का निरूपण कर प्रत्येक नर-नारी को स्पष्टतया समझाते थे। तब परिग्रह धारी द्रव्यलिंगी, पेटार्थी यति लोग जैसे चन्द्रमा को देख के चोर, सूर्य को देख उल्लू, सती को देख कुलटा जल जाती है, उसी प्रकार लौंका-शाह को देखकर दण्डी लोग जलने लगे और जैसे दण्डी मणिसागरजी ने लौंकाशाह के विरुद्ध लाच्छन लगाये कि "लुंका अशुद्ध पुस्तक लिखने लगा आदि" ऐसी मिथ्या बातें लिख कर जिस प्रकार तुम ने असत्य माग को सत्य मार्ग बतलाने की इस समय कोशिश की, उसी प्रकार उस

जमाने के प्रभाव से गिरी यति भी अपने कपोल कल्पित शास्त्र विरुद्ध असत्य पंथ को स्थायी रूप में कायम रखने के लिये अथवा जड़ोपासना पीछे सुख पूर्वक आजीविका चलाने के लिये, दाल की पोल न खुल जाय इसलिये, लौंकाशाह की नाना प्रकार से निन्दा करने लग गए और नाना प्रकार की मिथ्या बातें भी अपने रचित ग्रन्थों में लिख मारीं। उन्हीं मिथ्या बातों का अनुकरण करते हुए दरणीजी लिखते हैं कि—"सं० १५३५ में लुंकाने अपना नया मत चलाया" पर दरणीजी, तुम्हारा लिखना निराधार है। लौंकाशाह ने तो अपने नाम से कोई नया मत नहीं च-लाया। केवल निर्ग्रन्थ प्रवचन रूप धर्म अथवा परमात्मा का सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप मोक्ष प्रदायक धर्म का व्यवच्छेद होता देख जिनप्रणीत धर्म का पुनः प्रचार किया। किन्तु तुम यतियों ने जड़ो-पासनारूप, हिंसाजनक, जिनागमों से विरुद्ध मनघड़त मत को जैसे जैन समाज में प्रचलित किया, उस प्रकार लौंकाशाह ने नहीं किया। इसलिये दरणीजी लौंकाशाह के विरुद्ध कुछ भी कहना सूर्य को दीपक लेकर देखने के समान है। लौंकाशाह ही की करामात है कि उन्होंने तुम्हारी पोल खोल कर धर्म के स्वरूप का प्रसार किया। वरना तुम तो चाहे जैसे हिंसाजनक मत का प्रचार कर जैन धर्म का मूल रूप छुपा रहे थे। चाहिये तो यह था कि तुम भी वास्तविक बात का पता पाकर लौंकाशाह के गुणानुवाद गा उनके बताये हुए—प्रचार किये हुए मार्ग पर आते और अपनी भूल स्वीकार करते पर लहसुन की नाई बरसों केसर के साथ रहने पर भी तुम वैसे ही रहे। और लौंकाशाह की भी निन्दा कर समाज अपवित्र करने लगे। दरणीजी ! "लुंका को जैन शास्त्रों का तत्त्व ज्ञान नहीं था और उससे अनेक बातें जैन शासन की मर्यादा के विरुद्ध चलाईं" यह लिखना भी बिलकुल पागलपन का है। क्योंकि लौंकाशाह जड़ोपासना के जमाने में निर्ग्रन्थ प्रवचन रूप रत्नों के पहचानने वाले थे जैन शास्त्रों के तत्त्व ज्ञान से पारंगत विद्वान् थे और [illegible] व सुन्दर

लेखक थे तथा होनहार थे। तभी तो निरन्तर भट्टाचार्य यतियो ने उन्हीं से शास्त्र लिखवाना चाहा। फिर जिनने सहस्रो मनुष्यों के दिल में जैन शास्त्रों का तत्व ज्ञान भर दिया और द्वादश वर्षी काल से चलने वाले जड़ोपासना रूप धर्म को परित्याज्य करवा दिया, क्या वे लौंकाशाह छोटे से आदमी थे ? सर्वज्ञ प्रणीत जैन निर्ग्रन्थ प्रवचन रूप धर्म एव सम्यक् ज्ञान दर्शन चारित्र रूप मोक्ष मार्ग में सैकडों के दिल लगाने वाले लौंकाशाह ससार में एक अद्वितीय व्यक्ति हुए। लौंकाशाह अपने जमाने के एक वीर पुंगव थे, जिनने धर्म की मर्यादा नहीं तोड़ी, बल्कि पुन. कायम की। जैन नामधारी दण्डियों के विरुद्ध उस समय उनका प्रबल आन्दोलन हुआ और उनने ठोस २ कर यह बात लोगो के दिल में बिठाई कि धर्म की मर्यादा तोडने वाले, मनघड़ंत धर्म चलाने वाले ये दण्डी ही हैं। तुम्हारे धर्म में एक नहीं पर सैकड़ो ऐसी जैन शासन विरुद्ध बातें हैं कि जिन्हें लिखने से एक पोथा ही तैयार हो जाय। किन्तु यहां पर थोडी सी लिखे बिना भी काम नहीं चल सकता। इसलिये दण्डीजो के अवलोकनार्थ समोचीन समझ कुछ बाते जो जैन-धर्म शासन-विरुद्ध प्रचलित हैं, उन्हे लिखता हू। अगर दण्डोजी उन पर गौर कर अभिनिवेश–मिथ्यात्व को त्याग विलोकन करेंगे तो मैं कुछ २ श्रम सफल समझूंगा।

जडोपासना, मूर्त्तिपूजा, मन्दिर का बनवाना, जलयात्रा, स्नान पूजा, वरघोड़ा, स्वामीवात्सल्यादि करवा के बहरने जाना, विहारादि समय आदमी साथ में रखना, और उससे माल ताल बनवा कर बेहर के खाना, पीले वस्त्र धारण करना, मन्दिर बनवाने या प्रतिष्ठा आदि को उपदेश करवाना तथा स्वय प्रतिष्ठा करना, जिनेश्वर भगवान् के माता पिता, बनना जिनराज की मूर्ति बनवा कर तैयार करवाना, खंडित होने पर नदी आदि में गड्ढा खोद कर जिनमूर्ति को भडारित कर उसका शोक मनाना और ब्राह्मणों का जिमाना, पाषाण की मूर्ति को साक्षात्

जिनवरे मानना धर्म कार्य में होने वाली हिंसा को हिंसा नहीं मानना, जिनेश्वर के नाम द्रव्य जमा करना, गुरु द्रव्य एकत्रित करना, जिनेश्वर के नाम से माला नीलाम करना, पालना बेचना छत्र, कलश की बिक्री करना, १) रुपए २) रुपये मन के भाव से घी को मिथ्या कीमत में बेचना, मूर्तियों का परोक्षपन जमीन के अन्दर छिपा कर फिर स्वप्न आया है कि "फलां दिन अमुक जगह जिन बिम्ब प्रकट होगा।' इस प्रकार मनुष्यों को धोका दे सम्यक्ज्ञान सम्यक्दर्शन चारित्र रूप मोक्ष से पराङ्मुख होना, हिंसात्मक, द्रव्य पूजा में मोक्ष प्राप्ति मानना और मिथ्या प्रलोभन मनुष्यों को दिखला कर अधोगति प्रदायक हिंसाजनक कार्यों में प्रवृत्त करना, नरनारी के पेशाब में अन्तर मुहूर्त के अन्दर असंख्य जीवोत्पत्ति परमात्मा ने बतलाई उसके खिलाफ रत्नसागर पृष्ठ ४२९ का हवाला दे नरनारी के मूत्र में ४ याम बाद समूर्च्छिम जीव का पैदा होना बतलाना चौदह स्वप्न उतारना और उनको बेचना साधु साध्वी श्रावक श्राविका रूप चतुर्विध मोक्ष प्रदायक जंगम तीर्थ का परित्याग कर कुछ समय से प्रचलित होने वाले आबू गिरनार, शत्रुंजय आदि स्थावर तीर्थों की यात्रा को मोक्षदायिनी बतलाना उपधानादि तपस्या का पारणा बेचना आदि बहुत सी बातें जैनागमों की मर्यादा के विरुद्ध तुम्हारे पूर्वज यतियों ने चलाई। वे ही अन्य रूढ़ियां शास्त्र विरुद्ध आज भी पीताम्बरियों में चली आ रही हैं। कल्पी कपोलकल्पित पुरानी शास्त्र विरुद्ध बातों से पूरित ग्रंथों को जिनागम कर मानना और पुरानी रूढ़ियों का स्वयं गुलाम बनना और औरों को बनाना एवम् उन्हीं कल्पित रूढ़ियों संयुक्त स्वमत के बनाये हुए ग्रन्थों को जिनागम कह कर उनमें लिखी हुई शास्त्र विरुद्ध बातों के मुताबिक चलना व अन्य को चलाना यह सर्वथा जिनाज्ञा विरुद्ध है।

३९—सूरीजी! भगवान् ने भगवती सूत्र के २० वें शतक के ८ वें उद्देश में फरमाया है कि मेरा शासन २१००० वर्ष तक चलता रहेगा।

इससे साबित होता है कि पंचम आरे के अन्त तक वीर भगवान् के शासन में शुद्ध साधु अवश्य ही होते रहेंगे। यह लिखना तुम्हारा असंगत नहीं है। श्वे० स्था० जैन मुनि भी इसे सादर स्वीकार करते हैं। आगे चल कर आप लिखते हैं कि किसी समय शुद्ध साधुओं का अभाव नहीं होगा, जिससे हर समय (कभी बहुत-कभी कम) संयमी साधु मौजूद रहते हैं।" दण्डीजी! पंचम आरे के अन्त तक शुद्ध सयमी साधु अवश्य रहेंगे, अभाव नहीं होगा, यह बिलकुल ठीक है। हमारी भी यही मान्यता है परन्तु शुद्ध संयमी साधु तो कभी कम और कभी बहुत ही मिलेंगे। देखो जिस समय लौंकाशाह ने जिनागम विहित जैन धर्म का प्रचार किया उस जमाने में शुद्ध संयमी साधु बहुत ही कम रह गए थे। जिधर देखो उधर जडोपासना रूप धर्म के उपासक तथा पेटार्थी ही यति लोग दिखाई देते थे, उस समय प्राय कर सुसयमी निर्ग्रन्थ मुनियों का तो अस्तित्व लुप्त ही सा हो चला था। जैसे किसी कवि ने कहा है कि —

"हरित भूमि त्रण सचरे सूझ परत नहीं पथ।
तिम पाखड मत के आगले, गुप्त भये सद्ग्रथ॥"

दण्डीजी! यही दशा उस समय जैन साधुओं की थी। ऐसे समय में जिनराज प्रणीत निर्ग्रन्थ प्रवचन रूप मार्ग लुप्त सा होते देख लौंकाशाह ने जिनागम का पठन पाठन कर सर्वज्ञ मार्ग का सच्चा प्रचार किया, न कि अपने मन कल्पित मार्ग पर चला कर लोगों को बहकाया और न ऐसा उल्लेख किया कि मेरे नाम से धर्म चलाना, तथा मेरे नाम से गच्छ का नाम चलाना और न आज तक कोई श्वे० स्था० जैन मुनि गच्छी कह कर अपनी प्रसिद्धि बतलाते हैं। इसलिये "लुंकाजी ने अपना नया मत चलाया" ऐसा तुम्हारा लिखना मिथ्या है और जिन पेटार्थी लोगों ने द्वादश वर्षी काल में भेष की तबदीली की अर्थात् गृहस्थों के घरों से आहारादि वेहर के स्वस्थान पर आते समय रास्ते

में भूख के मारे कंगले लोग टूट पड़ते थे और मोमनादि छीन लेते थे इस दु:ख के मारे वे स्वस्थान पर आहारादि लाकर सुख पूर्वक नहीं भोग सकते थे इसलिये कंगलों की पहिचान में नहीं आने के लिये मुख पर बंधी मुख वस्त्रिका खोल के हाथ में धारण करली। फिर कुछ दिनों बाद कंगलों ने पहचान कर फिर आहारादि लूटना शुरू किया तब पेटार्थी लोगों ने मेरू मछली की तरह झोली कोनी की जगह लटका कर बाहर से छिपा लाने लगे तब कुछ दिनों तक तो कंगलों को मालूम नहीं पड़ी और फिर मालूम पड़ने पर फिर छीनने लगे तो कंगलों आदि को ताड़ने के लिये हाथ में आगर्गीत दण्ड धारण किया। इस प्रकार जिनागम विरुद्ध भेष की तबदिली करने वाले अथवा मन्दिर आदि करवाने का हिंसाजनक उपदेश देने वाले अतीव सुख पूर्वक सादर पेट भराई करने के निमित्त श्वेत वस्त्र छोड़ कर सं० १७०० स के दरम्यां यशोविजयजी ने जिनाज्ञा विरुद्ध पीले रंग के वस्त्र धारण करना स्वीकार किया। और संवत १६३२-३३ में उनके आत्मारामजी ने कथ रंग के वस्त्र धार पीले पोश करने शुरू किये। और संवेगी ऐसा नाम भी स० १७०० स ही प्रचलित हुआ। इस विषय में उनके वल्लभविजय लिखता है कि— "सं० १७०० से पहले अर्थात् विक्रम सं० १७०० के लगभग श्रीसत्यविजयजी और उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने बहुत क्रिया कठिन की और वैराग रंग में रंग गए तब भी संघ उन्हें संवेगी कहने लगे" इससे यह स्वतः सिद्ध है कि "संवेगी यति आदि कथ रंग के तथा पीले रंग के वस्त्र धारण करने वाला या जड़ोपासना आदि जिनागम विरुद्ध प्रचार करने वाले एवं अन्य उपदेश करने वाले हिंसा में धर्म मानने वाले हिंसाधर्मी ही हैं और भगवदाज्ञा विरुद्ध हाथ में मुख वस्त्रिका धारण करने वाले तथा पीत पट (वस्त्र) धारण करने वाले द्रव्य आदि रखने, रखवाने वाले भ्रष्टाचारी ही नहीं तो और क्या? और भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध पीत वेष धारण कर जैन

धर्म के साधु होने का दावा रखते हैं और कहते है कि सर्वज्ञ शासन के साधु हैं तो केवल एक हम ही दण्डी लोग हैं। ऐसी मिथ्या प्ररूपणा कर अपना अनन्त संसार बढ़ा रहे हैं और जिनाज्ञा विहित भेप व वस्त्र को धारण करने वाले सच्चे सनातनी श्वे० स्था० जैन मुनियो को, आधुनिक और असाधु उत्सुत्रप्ररूपक आदि अनेक अश्लील शब्दो द्वारा निन्दा ही नहीं करते, वरन निर्ग्रन्थ मुनि का उपहास व अवहेलना करते हुए भोले भाले जीवों को महामिथ्यात्वरूप अरण्य मे डाल कर दोष के भागी बनते हैं।

४०—मिथ्या प्रलापी दण्डीजी! तुमने लिखा है कि—'भस्म-ग्रह उतरा और लुंकाजी का दया धर्म प्रसरा" ऐसा लिखना भी तुम्हारा मिथ्या है। क्योंकि दया धर्म तो खास वीर परमात्मा द्वारा ही प्रतिपादित है तो दण्डोजी! जिसको पाप रूप दुष्ट ग्रह लगते हैं उसको उस समय थोड़ा बहुत कष्ट अवश्य होता है किन्तु पाप ग्रह उतरने पर—कष्ट उतरने पर कष्ट मिट कर शाति हो जाती है। यह बात लोक में प्रसिद्ध है। अस्तु लिखने का तात्पर्य यह कि भगवान् महावीर की नाम राशि पर द्वादश वर्ष की अवधि वाला भस्म नाम का ग्रह लगा। जिससे द्वादशवर्षी काल पडा। उस दुष्काल मे उदर पूरणार्थ, उदर पालने वाले नाना प्रकार की प्ररूपना करने लग गए। जिससे सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप मोक्ष मार्ग का तथा तीर्थंकर प्रतिपादित निर्ग्रन्थों के आठ प्रवचन रूप धर्म का सर्वत्र लोप ही सा हो गया। और अन्य मतावलम्बियों के देखा देख उक्त उदरभरो ने जडोपासनादि पाखण्ड मत का प्रचार किया। इसके अलावा अन्य धर्म द्वेषियो ने अथवा मिथ्या मत के प्रचारक नेताओं और महात्माओं ने भी जैन धर्म पर अतीव आघात पहुँचाये। उनके इन उपद्रवो से लाखों श्रावको की और सहस्रो जैन मुनियों की हानि हुई। जैन धर्म सम्बन्धी तात्विक ग्रन्थ व आगमो को उक्त धर्म के द्वेपियों ने पानी तथा आग में गला जला के भस्म कर दिये। केवल रहे थे तो वे ही जो सुरक्षित, अप्रसिद्ध कोषों में जमा थे।

उस सम्यक् ज्ञान, दर्शन चारित्र रूप मोक्ष मार्ग के प्रसत्य कात म रास, चौपाई छंद दोहे, कवित्त आदि तथा टीका, भाष्य, चूर्णि, निर्युक्ति अवचूरिये एवम् मूर्ति पूजा विषयक पूजा पाठ मंत्र आदि की रचना भरसक की गई और रचना के साथ साथ प्रचार भी हर देशों तथा गामों व शहरों में हुआ, जिससे निर्ग्रन्थों के प्रवचन का सर्वत्र लोप ही सा होगया। उस समय जिनगामों के अतिरिक्त नूतन रचित रास, चौपाई, छन्द आदि सुना कर उदरपूरक साधु नाम धारी लोगों का मनोरंजन किया करते थे जिससे उनकी उदरपूजा सुखपूर्वक हुआ करती थी।

ऐसे महा भयंकर दुष्काल में भी भक्तजनों के दाम देने के परिणाम बड़े बड़े थे किन्तु दुष्काल पीड़ित कंगालों के मारे भाव में दम था कंगाल मार्ग में ही छीन लिया करते थे इसलिये साधु की पहचान न हाने देने वास्ते उनने मुख पर जो बँधी मुख वस्त्रिका उतार ली और हाथ में ले ली। थोड़े दिन कंगले धोकेमें आगए,पर अन्त में पोल खुल गई। फिर वही लूट खसोट शुरू हुई तो दरिद्रयों ने दण्डा रखना प्रारम्भ किया कि जिसके डर के मारे कंगले पास नहीं फटकें। उधर भावक लोग भी कंगालों के डर के मारे द्वार देने लग गए तो साधुओं को फिर आहार पानी की तकलीफ हो गई। साधुओं ने सोचा कि इस प्रकार करने से काम नहीं चल सकता। और श्रावकों से द्वार खुले रखने वास्ते कहा पर श्रावकों ने कंगलों के घर में घुस आने के डर के मारे द्वार खुले रखना तो पसन्द नहीं किया पर कहा कि महाराज कोई ऐसा संकेत ठहरा लें जिसके कहने से हम समझ जायें कि गुरु महाराज पधारे हैं। तब भव धारियों ने कहा कि आज से हम तुम्हारे द्वार पर जब २ यह हम आवेंगे तब २ "धर्म लाभ" कहा करेंगे। बस यहीं से दण्डियों में यह 'धर्म लाभ" कह कर रोटी मांगने की रीति चल पड़ी। इसके अलावा जिनागम विरुद्ध जड़ोपासना और फल, फूल, धूप, दीप

रूप हिंसा जन्य द्रव्य पूजा, स्नात्र पूजा, जल यात्रा, गौतम पडगा, चंदन बाला का तेला, उपधान तप, वरघोडा, स्वामी वात्सल्य, जीर्णोद्धार, देवद्रव्य, गुरुद्रव्य, ज्ञानखाता आदि बहानों से रुपये एकत्रित करने लग गए, पाषाणादि मूर्तियों को भगवान कह कर लोगों को उन्मार्ग में गेरने प्रस्तुत हो पड़े। प्रतिष्ठा पाठ, मंत्रों की जगह २ रूढियां होने लगीं जिससे खास जैन धर्म का लोप सा हो गया था। जैन धर्म के असली तत्वों के लोप होने के कारण जैन धर्म को बड़ी भारी क्षति हुई परन्तु भस्म ग्रह की स्थिति पूर्ण होने पर पुनः शनैः २ जैन धर्म की प्रभावना बढ़ने लगी। और जैन धर्म के नाम से जड़ोपासनादि रूपान्तर जैन धर्म के प्रचारक अर्थात् रूपान्तर जैन धर्म के नायक "हीरविजयसूरि" आदि के हृदय में कुछ अंशों में सुमति विराजित हुई, जिससे अकबर आदि बादशाहों को प्रतिबोध दे अमारी घोषणा के पट्टे परवाने करवाए और उनके अनुसार बहुत सी जगह आज दिन तक भी जैन धर्म के पर्यूषण पर्वाधिराज में अमारी घोषणा की डोंडी पीटी जाती है और जीवदया की पलती भी होती है। यह जो जीव रक्षा का काम किया, सब बहुत ठीक किया पर बादशाह आदि ने प्रसन्न हो कर उन प्रतिबोधकों को छत्र, चवर छड़ी, घोंटे, पालकी आदि जिन्सें दीं, उन्हें बिना किसी इन्कारी के सादर सहर्ष स्वीकार करलीं, यह अच्छा नहीं किया। यह कार्य जिनाज्ञा विरुद्ध हुआ। उक्त छत्रादि धारण कर जिनेश्वर प्रणीत निर्ग्रन्थ धर्म का सर्वथा दण्डियों ने रूपान्तर कर दिया। और परिग्रहधारी तथा महाधीश बन गए। भक्ष्याभक्ष्य और कल्पाकल्प का आचार विचार उठा के लोह की ट्रंकों में धर ताले में बन्द कर दिया गया। ऐसे निर्ग्रन्थ धर्म विनाशक समय में निर्ग्रन्थ प्रवचनों के प्रेमी श्रीमान् लौंकाशाह ने अपने सब कार्य त्याग केवल एक जिनेश्वर देव प्ररूपित धर्म का उद्धार करने को कमर कसी और हर जगह जिनोपदेश देने लगे। और भिन्न २ प्रकार से आगम कथित प्रमाण दिखा कर हर

एक मनुष्य को समझने लगे। जिससे लाखों मनुष्यों ने जड़ोपासना रूप भ्रम त्याग कर जिनेश्वर प्रणीत सत्य निर्ग्रन्थ धर्म स्वीकार किया। इसलिये कल्प सूत्र में लिखे मुवाफिक निग्रन्थ प्रवचन धर्मानुयायी निर्ग्रंथ मुनियों की इस समय के पहिले उदय पूजा कम हो गई थी और यह धर्म सर्वथा विच्छेद सा ही हो गया था और परिग्रहधारी दफ्ती, सूरियों का जोर बड़ा भारी बढ़ गया था।

बाद भस्म ग्रह उतरने के उन्हीं निर्ग्रन्थों की मान प्रतिष्ठा दिनों दिन विशेष रूप से होने लगी। इस विषय को विस्तृत हकीकत और मूर्ति पूजा का खण्डन, एवम् दफ्तियों की कुतर्कों का समाधान पूरे २ शास्त्रोक्त प्रमाणों में देखना हो तो (श्रीमान् ज्येष्ठमलजी) महाराज रचित समकित सार नामक ग्रन्थ का अवलोकन कीजिये, जिसमें बहुत अच्छा बयान है। और इस पंचम आरे में २१ बार जिन शासन की उदय पूजा विशेष मानना होगी ऐसा लिखना तुम्हारा व तुम्हारे ग्रन्थों का हो तो भी हमें सप्रेम स्वीकृत है। और हमारी भी यही हार्दिक भावना बनी रहती है कि निग्रन्थ प्रवचन रूप जिन शासन की सदा काल उदय पूजा होती रहे। दफ्तीजी! रत्न प्रभ सूरि आर्य्य सुहस्ती सूरि, हरिभद्र सूरि जिनदत्त सूरि हेमचन्द्र सूरि, आदि आचार्यों ने विशाम्य स कर जनधम का उद्योत तो अवश्य किया किंतु अभी क ८४ गच्छवासी तुम दफ्तियों ने सिवाय परस्पर लड़ाई झगड़े, क्लेश कदा ग्रह कूड़ कूट मायाकूट चलाने सिद्धान्त एक २ का बुरे विधान, एक २ को परस्पर निन्दा कर झूठे हेंड बिल छपाने, किसी पर मिथ्या आक्षेप कर जैन समाज के हजारों लाखों रुपये कूड़ कपटों से पूरित मुकदमों के दफ्तर में बरबाद करना गिरनार आदि के झगड़ों में लाखों की आहुति करवाना सन्मार्ग से उन्मार्ग में मनुष्यों को गैरना, उत्सूत्र की प्ररूपना करने त्रस का घमन कर मूर्ति को स्थापित करना, सूत्रों में नवीन पाठ मिलाना पूर्वाचार्यों के नाम से नवीन ग्रंथों की रचना कर

विचारी भोली भोली जैन जनता को मिथ्या के गहरे गड्ढे में गेरने, ज्ञान पूजा, विद्याध्यान संस्था के सहायतार्थ के बहाने मनुष्यों से सहस्रों रुपये हड़प जाने, और उन रुपयों से ऐश आराम करने, हजारों रुपयों की आहुति कोर्टों में सिर्फ चेलो के लिये देने, वकीलों के खीसे समाज के रुपयों से भरने, हुडियां चलाने हिसाब किताब अपने पास रखने, बाजार से साथ में रहने वाले आदमी द्वारा रबडी, मेवा आदि मंगा कर खाने, आम, संतरे, अंगूरों का मजा चखने घड़ीसाजों के यहां से घड़ी व घड़ी के रखने के रेशमी डब्बे आदि स्वय चेलों द्वारा खरीदाने, कर्ज रख कर माल लेने, वर्षात में उपाश्रय में ही अपने भक्तों द्वारा माल ताल मगाने, हजाम से बाल बनवाने, उपाश्रय के निकट या मन्दिर की धर्मशाला में दाल, बाटी लड्डू आदि बनवाके वहरने, साबुन से कपड़े धोने चाकू, कैंची, घड़ी, चश्में आदि पास रखने, अपने नाम से पार्सल* मगवाने और स्वय भेजने के सिवाय और उपकार के कोई कार्य तुमने नहीं किये। और न करते हो अर्थात न जैन समाज की उन्नति या एक

---

* सं० १९७९ के साल कृपाचन्द्र सूरि के शिष्य ज्ञानसागर उदयपुर बोल अबालालजी घडीसाज की दुकान से १२ आने के पैसों मे एक घडी रखने का रेशमी डब्बा खरीद लाये थे। और छ आने के पैसे दे आये तथा छः आने उधार रख आये थे। ऐसा दर्शकों ने अपनी आँखों से देखा।

१९७९ साल दण्डी मणिसागर का चतुर्मास शांतिनाथजी की गली वाले उपाश्रय में था वहाँ पर वर्षात के दिनों में मंदिरजी की धर्मशाला में गृहस्थों से दाल बाटी बनवाके वेहरके खाई। और वहीं पर दण्डीजी ने हजाम से हजामत भी बनवाई थी। ऐसा उज्जैन के बहुत से लोग जानते हैं।

रजिस्टर पार्सल सं० १९८० श्रावण सुदी १३ शुक्रवार २ रजिस्टर पार्सल मनि कुमुदसागरजी को मिले। ठि जिन कृपाचन्द्र सूरिजी महाराज पासे ओसवालों हवेली (मालवा) मंदसोर रजिस्टर नं० १३६ १३७—

भी काय तुमने किया और न हाथ में ही लिया। फिर भी तुम कर्ता के अमुक उपकार का काय किया ऐसा कह कर फूले दिल में नहीं समाते। दयहीओ ! तुमने ८४ गच्छ कर जैन समाज के टुकड़े तो अवश्य किये।

निर्ग्रन्थ प्रवचना की पथम आर में प्रथम पूरा हुई उनमें सबसे प्रथम श्री सुधर्म स्वामी प्रभव स्वामो भद्रबाहु स्वामी आदि महान् आचार्य भगवान् हो चुके। इनके बाद में आर्य सुहस्ती सूरि आदि आचार्यों ने भी जैन धर्म का उद्योत भिन्न २ अंशों में किया। वह हमें सादर स्वीकृत है किन्तु खास कर निग्रन्थ प्रवचनों के प्रचारक तो श्री सौधर्म गच्छानुयायी श्री ज्ञानचन्द्र सूरि श्री लवजी स्वामी श्री धर्म सिंह मुनि, आदि महा मुनियों ने तथा लौंकाशाह श्रमणोपासक आदि ने जगह २ जिनागमों का प्रचारनि के साथ पठन पाठन और प्ररूपना की और जड़ोपासना रूप महामिथ्यात्व में फंसे हुए सैकड़ों मनुष्यों को उक्त उपासना छोड़ने का उपदेश दिया एवम् पाषण्डोपासक के अग्रेसर कर श्रमणोपासक की श्रेणी में समागम बनाये इन्हीं का विरोध समाज पर उपकार है। परन्तु जड़ोपासना के प्रचारक तथा जड़ोपासना के अनुयायी दयहीओ ने जगह २ जड़ोपासना का उपदेश कर सहस्रों लाखों मनुष्यों को आत्मोन्नति में पतन्हुए करके भेद भाव डाल कर शुद्ध मुनिया तथा सद्गृहस्थों की निन्दा कर परस्परिक विरोध भाव से हानि के सिवाय जैन धर्म की उन्नति रूप कुछ लाभ उपार्जन नहीं किया। अतः दयहीओ लोक जिनाज्ञाविरुद्ध जड़ोपासनादि मूतन मन्त्रों को जैन धर्म के नाम से पुकार कर लाखों मनुष्यों को उन्मार्ग में गिराते हुए सच्चे परमोपकारी शुद्ध संयमी निग्रन्थ प्रवचन प्रवर्तक श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन मुनियों की कलंक रूप्य महान निन्दा कर भोली भाली जैन जनता को मिथ्यात्व में डालते हुए बेचारे पामर जीवों का अनन्त संसार बढ़ा रहे हैं। और स्वयं चौरासी लाख जीव योनि के चक्कर में फिरने के लिये साधन प्रस्तुत कर रहे हैं।

४१—दण्डीजी ! लौंकाशाह जाति के ओसवाल महता गोत्री राज्यमान्य क्लर्क-दफ्तरी और धर्म धुरन्धर श्रमणोपासक (श्रावक) अहमदाबाद के रहने वाले थे। "इसलिये जन्मभूमि के गाम, नाम, जाति कुटुम्ब आदि का कोई भी प्रमाण नहीं है परन्तु ब्राह्मण की तरह लिखाई का धंधा कर अपनी रोजी चलाते थे" ऐसा लिखना तुम्हारा जैन इतिहास से अनभिज्ञ होने का कारण ही मालूम होता है।

जड़ोपासना के प्रचारकों ने व उक्त उपासना के अनुयायियों ने अपनी पूजा, मान्यता बढाने के लिये व सुख पूर्वक उदर पूर्ति के लिये कैसे २ अनर्थ व अत्याचार फैलाये इनका प्रत्यक्ष प्रमाण इस छोटी सी पुस्तक के पढने से आप सज्जनों को पूरा २ परिचय हो जायगा।

४२-४३—दण्डीजी ! शास्त्रों में चतुर्दस प्रकार के स्थानक चले हैं उनमें ठहरने से स्थानकवासी कहलाते हैं। निर्ग्रन्थ प्रवचन प्रवर्तक होने से निर्ग्रन्थ मार्गी (साधुमार्गी) कहलाते हैं ये दोनों नाम जिनाज्ञा विहित हैं और इन्हीं दोनों नाम से पुकारे जाते हैं और बाईस टोले आदि जो तीन नाम तुमने लिखे हैं वे न तो हमारे नाम ही हैं और न उन नामो में हमारा कोई पक्ष है वे तीनों नाम तुम्हारे जैसे क्लेश प्रेमी लोक तो अवश्य कहते हैं। दण्डीजी ! तुम्हारे लिखे हुए पांच नामों में से शास्त्र सहमत दो नाम से तो जैन मुनि अवश्य पुकारे जाते हैं किन्तु जिन २ नामों से दण्डी पुकारे जाते हैं वे सब नाम शास्त्र विरुद्ध हैं। इसलिये दण्डियों को उचित है कि सूत्र विरुद्ध नामों का परित्याग कर शास्त्रोक्त नाम से अपनी प्रसिद्धि करें।

महान्, वे नमूने झूंठी गप्प का वहिष्कार और दंडा रखने के निर्णय का निरीक्षण।

४४-४५-४६-४७-४८—दण्डीजी ! आगे चल कर लिखते हो कि "बारहवर्षी दुष्काल में राक भिक्षुक लोग साधुओं की रोटी खोस

कर जाने लगे तब उसका बचाव करने के लिये साधुओं ने अपने हाथ में दण्डा रखना शुरू किया है यह मो का कथन झूठ है" असूत्र भाषीजी! इस कथन को झूठ बतलाते हैं। यह तुम्हारी महान् माया चारी है। यह बात बिलकुल सही है। क्योंकि दुष्काल से पूर्व प्रत्येक मुनि को दण्डा रखना ऐसी प्रथा नहीं थी। यह प्रथा दण्डियों ने अपनी रोटियें कंगाल न छीनलें इसलिये प्रचारित की, न कि किसी अन्य कारण से। आगे चल कर दण्डीजी लिखते हैं कि "भगवती, निशीथ, आचारांग, प्रश्न व्याकरण व्यवहार दशवैकालिक आदि मूल आगमों में जगह २ पर साधुओं को दण्डा रखने को कहा है" असूत्रभाषीजी! उक्त सूत्रों के नाम से दण्डा रखने की सिद्धि दिखाना तुम्हारा नितान्त मिथ्या है। क्योंकि भगवती सूत्र के आठवें शतक के छट्ठे उद्देश का जो तुमने प्रमाण दिया है वह बिना सोचे समझे दिया है क्योंकि वह प्रमाण आज्ञारूप नहीं। वह विधिवाक्य अर्थात् शिक्षा विधि प्रदर्शक सूत्र है। जरा ध्यान पूर्वक उक्त सूत्र के मूल पाठ व अर्थ को पढ़िये। पृष्ठ १०६६—१००१ पर साधु को आहार, पात्रा, गुच्छा रजोहरण आदि उपकरणों की दानविधि में सूत्र में इस प्रकार आज्ञा है कि—

निग्गंथं चणं गाहावइकुलं जाव कई दोहिं पडिग्गहेहिं उवनिमंतेज्जा एगं आउसो अप्पणा पडिभुंजाहि, एगं थेराणं दलायाहि, सय संपाडिग्गहिज्जा तहेव जाव सं नो अप्पणा परिभुंजेज्जा अप्पणो वा एस तं चेव जाव परिट्ठावियव्वे, सिया एवं जाव दसहिं पडिग्गहेहिं एवं जहा पडिग्गह वत्तव्वया भणिया, एवं गोच्छग रयहरण चोलपट्टग कंबल लट्ठी संथा या वत्तव्वया भाणियव्वा जाव दसहिं संथारएहिं उवनिमंतेज्जा जाव परिट्ठावियव्वे सिया ॥ ६ ॥

असूत्रभाषी दण्डीजी! जरा विचार पूर्वक निम्नलिखित पाठ का अवलोकन कीजिये। गृहस्थ के घर आहार लेने के लिये गये हुए साधु को कोई गृहस्थ विनति किये हुए तीन लिंड दवे और कहे कि यहां

आयुष्मान ! इसमे से एक तुम भोगना और दो स्थेवरों को दे देना, साधु को उस आहार को लेकर जहा पर स्थेवर मुनि हों वहा जाना और वह आहार उनको दे देना। गवेपणा करने पर कदाचित् न मिले तो वह आहार साधु को स्वयं भोगना नहीं। वैसे ही अन्य को देना भी नहीं, परन्तु एकान्त मे निर्जीव स्थान देख कर पठाना। ऐसे ही चार पाच यावत् दस पिण्ड विभाग कर देवे जिसमें से एक लेने वाले साधु को भोगने का और नौ स्थैवरो को देने का कहे तो उक्त आहार लेकर जहा स्थेवर हों वहा साधु को जाना व देना। यदि गवेपणा करने पर कदाचित् स्थैवर मुनि न मिले तो वह आहार स्वय भोगना नहीं। वैसे ही अन्य को देना नहा किन्तु एकान्त मे निर्जन स्थान में पठाना। इसी प्रकार कोई निर्ग्रंथ मुनि गृहस्थ के यहा के पात्र निमित्त गये हुए मुनि को दो पात्र की निमंत्रणा करे और कहे कि हे आयुष्मान् ! इसमें से एक पात्र तुम रखना और दूसरा पात्र स्थैवर भगवान् को देना। फिर उस पात्र को लेकर जहा पर स्थैवर भगवान् हो वहा साधू को जाना, गवेषणा करने पर कदाचित् स्थैवर भगवान् न मिले तो वह पात्र स्वतः को रखना नहीं वैसे ही अन्य को देना नहीं किन्तु एकान्त मे जाकर परिठाना। जैसे दो पात्र का कहा वैसे ही तीन चार यावत् दस पात्र का जानना और जैसे पात्र कहा वैसे ही गोच्छक, रजोहरण, चोल पट्टक, कम्बल, यष्टि व संथारा की वक्तव्यता दस तक कहना। यह गृहस्थ के यहा से आहारादि लाने की विधि कही है। इसमें खास कर इस शब्द पर विशेष विचार करने का है कि—"(एगं आउसो अप्पणा भुजाहि, दो थेराणं दलयाहि) दण्डोजी ! दाना क्या कहता है ? "हे आयुष्मान् ! मैं देता हूँ इसमें से एक आप भोगना और दो स्थैवर मुनियों को देना। फिर देखिये इस अधिकार में आगे चल कर क्या कहा है (एवं जाव दसहि पिंडेहिं उवनिमंतेज्जा णवरं एगं आउसो अप्पणा भुंजहि नव थेराणं दलयाहि")

दण्डीजी ! एक ग्र, एक ही बार पात्र मात्रक् एक दण्ड विभाग कर देवे जिसमें से एक बहेरन वाले मुनि के लिये भोजन की वाधा भाषा गया है और नो स्थैवरों का दन की आज्ञा प्रदान करता है। दण्डीजी ! यह स्थैवरों का विषय है और स्थैवर भगवन्तों के लिये यष्टि रखने को किसी भी सूत्र में मना नहीं है उनके लिये ता और प्रभु ने स्वयं अपने पुण्य कमल से व्यवहार सूत्र में आज्ञा प्रतिपादन की है किन्तु तुम्हारे जैसे हृष्ट पुष्ट दण्डियों के लिये आज्ञा नहीं दी।

असूत्रभाषी दण्डीजी ! इसी प्रकार आपके भी दण्डे स्थैवरों का देने के लिये प्रतिपादित किया है (नव थेराणं दलमाहि) अर्थात नव यष्टि स्थैवरों का देना और एक आने वाले को रखना। इससे पाया जाता है कि "रखने वाला भी स्थैवर ही साबित होता है क्योंकि स्थैवर के सिवाय अन्य मुनियों को यष्टि रखने का अधिकार नहीं। यह बात सभी मुनिराज जानते हैं वो जान कर भगवान् की आज्ञा उल्लंघन कर भवभीरु आत्मार्थी मुनि तो कदापि धारण नहीं करते और दुष्काल में कंगला स रारियों के बचाव के लिये आक्षणों व दण्डा धारण करने वालों को मैं कुछ बात नहीं कह सकता। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि पुष्ट दण्डियों के सिवाय शेर हृष्ट पुष्ट दण्डियों ने जो दण्ड धारण किया है वह सर्वथा सूत्र विरुद्ध धारण किया है।

असूत्रभाषी दण्डीजी ! मुनियों दण्ड केवल एक स्थैवर अवस्था को प्राप्त होने वाले मुनियों को ही रखने को गंभीर परमात्मा की व्यवहार सूत्र के आठवें उद्देशे में इस प्रकार आज्ञा प्रतिपादित है। पढ़िये —

"थेराणं थेरभूमिपत्ताणं कप्पति दंडएवा, भंडएवा छत्तएवा, मत्त एवा लट्ठियंवा भिसिवां, चेलवा चेलचिलिमिलिवा चम्मंवा चम्मको-संवा, चम्मपलिछपणं अविरहति, ववासे दुवेता, गाहावतिकुलं भत्ताएवा,

पाणाएवा, पविसित्तएवा, निक्खमित्तएवा, कप्पति से सनियट्टचारिणं दोच्चंपि उग्गहं अणुणवेत्ता परिहारं परिहरित्तएवा ॥५॥ इति

दण्डीजी ! उक्त व्यवहार सूत्र के मूल पाठ से स्पष्टतया सिद्ध है कि दण्ड स्थैवर भगवान् के सिवाय अन्य मुनियों को धारण करने का अधिकार ही नहीं है और इससे यह भी स्वत. सिद्ध होचुका है कि आप का पूर्वोक्त भगवती सूत्र की भिक्षा विधि प्रदर्शक मूल पाठ का प्रमाण भी स्थैवर भगवंतों के विषय का ही है और उक्त सूत्र के मूल पाठ में जो स्थैवर भगवंतो के लिये प्रतिपादित है वे ही बातें व्यवहार सूत्र में मूल पाठ मे आज्ञा प्रद रूप में प्रतिपादित हैं। अतएव उक्त दोनों सूत्रों के मूल पाठों व अर्थों से सिद्ध है कि दण्डा रखने का अधिकार केवल स्थैवर मुनियों को ही है अन्य को नहीं। वास्ते तुम्हारा प्रलाप मिथ्या है और तुमने इस प्रकार उत्सूत्र की प्ररूपणा कर अनन्त संसार बढ़ाया, नहीं तो और क्या किया ?

४९—"जो साधु दण्डा (धनुष्य प्रमाण) लाठी (शरीर प्रमाणे) कर्दम पूछनी अर्थात् चौमासे आदि में कर्दम से पाव भर जावे उसके पूछने के लिये लकड़ी व वास की खपाटी याने चीपटें इनको अन्य तीर्थक तथा गृहस्थ के पास से सुधरावे समरावे यावत सब उक्त प्रमाणों कहना यावत् अच्छा जाने तो प्रायश्चित्त आवे।" उक्त निशीथ सूत्र के प्रमाण से दण्डीजी दण्डा रखना सिद्ध करते हैं यह प्रत्यक्ष दण्डीजी की उत्सूत्र प्ररूपणा है इसमें दण्डा लट्ठी आदि अन्य तीर्थी या गृहस्थ से विषम का सम करवाना अर्थात् सुथरा बनवाना मना किया है।

५०—५१ आगे चल कर दण्डीजी ने लिखा है, कि—"जे भिक्खू दंडगं जाव वेणुसुयणं वा पलिभिंदिय २ परिट्ठावेई, परिट्ठवतं वा साइज्जई" जो साधु दण्डे को यावत् वांस की खपाटी पूर्ण स्थिर

चलन योग्य है उसको मांग कर परिठावे, परिठावते को अच्छा जाने तो प्रायश्चित्त आवे।"

स्वामीजी! उक्त निशीथ सूत्र के पांचवें उद्देश का प्रमाण देकर समस्त साधुओं को आवश्यक दण्ड रखना ऐसा सिद्ध किया यह स्वामीजी का साहस नितान्त मिथ्या है। क्योंकि जिन स्थविरों के लिये दण्ड रखने का प्रभु ने आज्ञा दी थे,ही स्थविर मुनि यदि मजबूत दण्ड (लकड़ी) आदि को जान बूझ कर उन्हें मांग तोड़ कर डाले तो उन्हीं के लिए भगवान ने प्रायश्चित्त बतलाया। न कि इस मूल पाठ से नवयुवक साधुओं को दण्ड (यष्टि) रखने का सिद्धिसूत्र सिद्ध होता है। अतएव जो समस्त साधुओं के लिए दण्डा रखने की सिद्धि में उक्त प्रमाण स्वामीजी ने पेश किया है यह उत्सूत्र प्ररूपणा कर अनन्त संसार बढ़ाया है।

५२—इसी प्रकार प्रश्न व्याकरण सूत्र के पाठ का मूल अर्थ कर दण्डा रखना सिद्ध करते हो यह भी नहीं। देखो मूल पाठ —

'पीढ फलग सिज्जा संथारग, वत्थ पाय कंबल, दंडक रय हरण निसेज्ज, चोलपट्टग, मुहपोत्तियं पायपुंछणादि भायण भंडोवहि उवगरणं"

५३-५४—उत्सूत्र भाषी अनन्त संसारी स्वामीजी! ऊपर के पाठ में "दण्डक" पाठ तो विद्यमान है किन्तु हाथ में रखने की आज्ञा कहां है? क्या जबरन हो हाथ में रखना बतलाते हो? और उक्त शब्द के लिये "उड़ा दिया" ऐसा जो तुमने लिखा है यह लिखना महा मिथ्या है छपन में रह गया होगा या कम्पोज करते समय कम्पोजीटर भूल गये होंगे छपी प्रत में नहीं छपा तो क्या हुआ? हमारे पास हस्त लिखित प्रतों में (दण्डक) शब्द विद्यमान है यदि तुम्हें शंका निवर्तन करना हो तो हमारे समीप आकर देख सकते हो। मिथ्या बातें लिख कर जन्म बिगाड़ने में कोई पंडिताई नहीं समझी जाती।

५५-५६—दण्डीजी! आचारांग सूत्र के सोलहवें अध्याय के प्रथम उद्देश का मतलब इस प्रकार है—

मूलपाठः—"से अणुयविसित्ताण गामं वा जाव रायहाणिं वा णेव सयं अदिन्न गिण्हेज्जा, णेवेण्णेणं अदिन्न गिण्हावेज्जा एणेण अदिण्णं गिण्हतं समणुजाणेज्जा, जेहिं विसिद्धिं संपव्वइए, तेसिं पियाई भिक्खू छत्तय वा, मत्तयं वा, दण्डगं वा, चम्मछेदगण वा, तेसि पुव्वामव उग्गहं अणुण्णविय, अपडिलहिय, अपमिज्जिय, णो गिण्हेज्ज वा, पडिगिण्हेज्ज वा, तेसिं पुव्वामेव अणुपविय पडिलेहिय, पमज्जिय, 'गिण्हेज्ज वा, पडि-गिण्हेज्ज वा।"

दण्डीजी! उक्त पाठ में तो यह आज्ञा है कि—'जैन मुनि को गाम में, नगर में, यावत राजधानी में अपने को किसी कार की कोई भी जिन्स मालिक की आज्ञा बिना लेना नहीं, दूसरे के पास से लेवाना नहीं व अन्य कोई लेता हो उसकी अनुमोदना भी करनी नहीं। और तो क्या, जिसके साथ में दीक्षा ग्रहण की हो अथवा पास में रहते हो उन साधु के उष्ण, व वर्षाकाल में ओढन रूप छत्र अर्थात् वस्त्र, मात्रक, दण्डा व फोड़ा फुन्सी आदि को साफ करने के लिये किसी गृहस्थ के पास से लाए हुए चाकू, कैंची आदि चमच्छेदक वगैरह वस्तुओं में से कोई भी वस्तु उक्त मुनियों की आज्ञा लिये बिना और देख कर पूजें प्रमार्जे विना लेना कल्पे नहीं।

५७—दण्डीजी! तुमने जो लिखा है कि—"आचारांग में सर्व साधुओं को दण्डा रखने का बतलाया है।" यह तुम्हारा लिखना नितान्त मिथ्या है। क्योंकि दीक्षा के अधिकार में बाल और वृद्ध सभी का समावेश है। जब कहीं चार २ पांच २ दीक्षाएं एक साथ होती हैं तो उनमें सभी जवान नहीं होते और न सभी वृद्ध रहते हैं। एक बालक एक युवा और तीन वृद्ध भी हो जाते हैं। जो वैरागी वृद्ध होते हैं अर्थात् ६०-६५ की अवस्था वाले वय स्थैवर होते हैं तो उनके लिये

चलन योग्य है उसको मांग वस परिठावे, परिठावे तो को अच्छा जान तो प्रायश्चित्त आवे।"

दण्डीजी! उक्त निशीथ सूत्र के पांचवें उद्देशा का प्रमाण देकर प्रत्येक दण्डियों को आवश्यक दण्ड रखना ऐसा सिद्ध किया यह दण्डीजी का साहस नितान्त मिथ्या है। क्योंकि जिन स्थविरों के लिये दण्ड रखने का प्रभु ने आज्ञा दी वे ही स्थविर मुनि यदि मजबूत दण्ड (लकड़ी) आदि को जान बूझ कर उन्हें भांग तोड़ कर डाले उन्हीं के लिए भगवान् ने प्रायश्चित्त बतलाया। न कि इस मूल पाठ से नवयुवक दण्डियों को दण्ड (यष्टि) रखने का सिद्धिसूत्र सिद्ध होता है। अतएव जो समस्त दण्डिया के लिए दण्डा रखने की सिद्धि में उक्त प्रमाण दण्डीजी ने पेश किया है यह उत्सूत्र प्ररूपना कर अनन्त संसार बढ़ाना है।

५२—इसी प्रकार प्रश्न व्याकरण सूत्र के पाठ का मूल अर्थ कर दण्डा रखना सिद्ध करते हो यह भी नहीं। देखो मूल पाठ —

"पीढ फलग, सिज्जा, संथारगं, वत्थं पाय, कंबल दंडग रय हरण निसेज्ज, चोलपट्टग, मुहपोत्तियं, पायपुंछणादि भायण भंडोवहि उवगरणं"

५३-५४—उत्सूत्र भाषी अनन्त संसारी दण्डीजी! ऊपर के पाठ में "दण्डक" पाठ तो विद्यमान है किन्तु हाथ में रखने की आज्ञा कहां है? क्या जबरन ही हाथ में रखना बतलाते हो? और उक्त शब्द के लिये "डंडा दिया" ऐसा जो तुमने लिखा है वह लिखना महा मिथ्या है छपन में रह गया होगा या कम्पोज करते समय कम्पोजीटर भूल गय होंगे छपी प्रत में नहीं छपा तो क्या हुआ? हमारे पास हस्त लिखित प्रतों में (दंडक) शब्द विद्यमान है यदि तुम्हें शंका निवर्तन करना हो तो हमारे समीप आकर देख सकते हो। मिथ्या बातें लिख कर जैन सिद्धान्त में कोई पंडिताई नहीं समझी जाती।

सच्चे साधु श्रावक की युक्तियें लगा कर निन्दा करना सूत्रविरुद्ध होने से ऐसी कार्यवाही दण्डीजी सदा और सर्वदा अनुचित है।

६१—उत्सूत्रभाषी दण्डीजी! तुम लिखते हो कि—"जैसे श्री वीर भगवान् ने गौतम स्वामी को समय मात्र भी प्रमाद नहीं करने का उपदेश दिया है वैसे ही सर्व साधुओं के लिये भी प्रमाद त्याग का समझ लिया जाता है" किन्तु दण्डीजी! दण्डे की आज्ञा सभी मुनियों के लिये नहीं। जैसे प्रमाद त्याग का गौतम स्वामी को मुख्य लक्ष कर कथन कहा और गौणता मे साधु साध्वी श्रावक श्राविका चारों तीर्थ का समावेश आगया इसी प्रकार दण्डे का कथन मानें तो उपरोक्त चारों तीर्थों को हाथ में दण्डा रखना होगा। किन्तु दण्डी जी! ऐसा कब सम्भव है? इसीलिये तुम्हारा उक्त प्रमाद त्याग का न्याय भी दण्डे के लिये देना अनुचित है। यह लागू हो नहीं सकता। यदि तुम्हारी मान्यतानुसार लागू होता तो श्री वीर परमात्मा व्यवहार सूत्र में स्थविर मुनियों को ही दण्डा धारण करने की आज्ञा हरगिज नहीं फरमाते। अत: इससे स्पष्ट सिद्ध है कि सिवाय स्थविर भगवन्तों के अन्य मुनियों को दण्ड धारण करने की भगवान् की आज्ञा नहीं है।

६२—दण्डीजी! दण्डा रखने के लिये केवल एक व्यवहार सूत्र में प्रभु ने आज्ञा दी है तो वह सिर्फ स्थविर भगवन्तों के लिये, अन्यों के लिये नहीं। इससे निशीथ, आचारांग दशवैकालिक आदि आगमों में विधिवाद-प्रदर्शक "दण्ड" विषय का पाठ व्यवहार सूत्र की आज्ञा से वाध्य हो चुका इसलिये सिवाय स्थविरों के अन्य साधु दण्ड कदापि नहीं रख सकते और जो दण्डी दण्डा रखते हैं वे प्रभु आज्ञा के विराधक हैं।

६३—दण्डीजी! हाथ, पैर, वस्त्र, पात्र, रजोहरण, दण्डा आदि उपकरणों से उपयोग पूर्वक यत्नों से काम लिया जावे तो सब सयम धर्म के आधार भूत जीव दया के हेतु भूत हैं और विना उपयोग

दण्डे की भी आवश्यकता होती है और दीक्षा के समय आवश्यक वह रखते भी हैं। "जिन वयस्थैवरों के साथ दीक्षा ग्रहण की उन वय स्थैवरों का अथवा जिन स्थैवरों के समीप रहता हो उनका कोई दण्डादि भण्डोपकरण लघुवय वाले सह दीक्षितों को अथवा अन्य स्थैवरों को (जिन मुनियों का कोई भी उपकरण जिस मुनि को) उपयोग में लाने की इच्छा हो तो उनकी आज्ञा लिये बिना कोई भी उपकरण नहीं वापरना।" दण्डीजी ! उक्त पाठ का यह अभिप्राय है। तुमने लिखा वह नहीं।

५८-५६—इसी प्रकार दशवैकालिक के चौथे अध्ययन से दण्डे का प्रमाण देना निरर्थक है क्योंकि वहां पर दण्डा रखने का अधिकार नहीं है। वहां पर प्रतिलेखना के अधिकार में "दण्डगंसिवा" शब्द आया है सो प्रतिलेखना के लिये आया है न कि प्रत्येक मुनि को दण्डा रखना इसलिये। यह सूत्र प्रतिलेखना-विधिवाद-प्रदर्शक है। न कि प्रत्येक मुनि को दण्ड धारण करने विषयक आज्ञावाद। इसलिये तुम्हारी १०६-०७-०८ आदि पत्रांकों का प्रलाप मिथ्या है। प्रतिलेखना का पाठ बता कर प्रत्येक दण्डी के लिये दण्डा रखना ऐसा सिद्ध कर बतलाना यह दण्डीजी की उत्सूत्रप्ररूपणा नहीं तो और क्या है ?

६०—दण्डीजी ! जैसे तुम प्रत्येक दण्डी के लिये दण्डा हाथ में रखने का जोर देते हो वैसे प्रत्येक दण्डियों के लिये मुखवस्त्रिका मुंह पर रखने के लिये तो जोर नहीं देते। सब दण्डी व दण्डिनियां प्रायः बेधड़क खुले मुंह बोलती है, उधर तो आपका कुछ भी ख्याल नहीं जाता। पर जिस दण्ड को देख कर अन्य जीवों को भय प्राप्त होता है ऐसे भयप्रद डंडे के लिये बड़ा भारी जोर देना और खुले मुंह बोल कर असंख्य जीवों का विनाश करते हुए मुखवस्त्रिका मुंह पर बांधने वाले

सच्चे साधु श्रावक की युक्तियें लगा कर निन्दा करना सूत्रविरुद्ध होने से ऐसी कार्यवाही दण्डीजी सदा और सर्वदा अनुचित है।

६१—उत्सूत्रभाषी दण्डीजी! तुम लिखते हो कि—"जैसे श्री वीर भगवान् ने गौतम स्वामी को समय मात्र भी प्रमाद नहीं करने का उपदेश दिया है वैसे ही सर्व साधुओं के लिये भी प्रमाद त्याग का समझ लिया जाता है" किन्तु दण्डीजी! दण्डे की आज्ञा सभी मुनियों के लिये नहीं। जैसे प्रमाद त्याग का गौतम स्वामी को मुख्य लक्ष कर कथन कहा और गौणता में साधु साध्वी श्रावक श्राविका चारों तीर्थ का समावेश आगया इसी प्रकार दण्डे का कथन मानें तो उपरोक्त चारों तीर्थों को हाथ में दण्डा रखना होगा। किन्तु दण्डी जी! ऐसा कब सम्भव है? इसीलिये तुम्हारा उक्त प्रमाद त्याग का न्याय भी दण्डे के लिये देना अनुचित है। यह लागू हो नहीं सकता। यदि तुम्हारी मान्यतानुसार लागू होता तो श्री वीर परमात्मा व्यवहार सूत्र में स्थविर मुनियों को ही दण्डा धारण करने की आज्ञा हरगिज नहीं फरमाते। अत. इससे स्पष्ट सिद्ध है कि सिवाय स्थैविर भगवन्तों के अन्य मुनियों को दण्ड धारण करने की भगवान् की आज्ञा नहीं है।

६२—दण्डीजी! दण्डा रखने के लिये केवल एक व्यवहार सूत्र में प्रभु ने आज्ञा दी है तो वह सिर्फ स्थैवर भगवन्तों के लिये, अन्यों के लिये नहीं। इससे निशीथ, आचारांग दशवैकालिक आदि आगमों में विधिवाद-प्रदर्शक "दण्ड" विषय का पाठ व्यवहार सूत्र की आज्ञा से बाध्य हो चुका इसलिये सिवाय स्थैवरों के अन्य साधु दण्ड कदापि नहीं रख सकते और जो दण्डी दण्डा रखते हैं वे प्रभु आज्ञा के विराधक हैं।

६३—दण्डीजी! हाथ, पैर, वस्त्र, पात्र, रजोहरण, दण्डा आदि उपकरणों से उपयोग पूर्वक यत्नों से काम लिया जावे तो सब सयम धर्म के आधार भूत जीव दया के हेतु भूत हैं और विना उपयोग

अयत्न से काम लिया जावे तो हाथ, पैर, रजोहरण आदि भी जीव हिंसा करने वाले शस्त्र रूप हो जाते हैं। इसलिये सब उपकरणों में प्रमाद हिंसा का हेतु है, यह लिखना तुम्हारा यथार्थ। किन्तु दण्डोजी चलते समय ईर्यापथ में उपयोग रखेंगे या दण्डा धरने के तरफ? दोनों ओर उपयोग तो एक समय में नहीं रह सकता। उपयोग तो एक तरफ ही रहेगा। या तो ईर्यासमिति में या दण्ड धरने में। जब एक ओर उपयोग रहा और दूसरी ओर नहीं रहा। अगर आप सिद्ध करना चाहें कि हम दोनों ओर रख लेंगे तो यह बात शास्त्रसम्मत नहीं। शास्त्र कहता है कि एक समय में दो जगह उपयोग नहीं लग सकता। तो स्वतः सिद्ध हो जाता है कि जिस समय आपका गमन में उपयोग होगा तो दण्ड की ओर नहीं रहेगा। और दण्डे की ओर ध्यान न रहेगा तो हरियाली अंकुर, द्वीन्द्रिय भेद क पञ्चेन्द्रिय आदि जीवों पर दण्डा पड़ जायगा और उन जीवों का अकाल ही मृत्यु हो जायगी। इसलिये दण्डा हिंसाजनक और शस्त्र रूप है। आपके ही आचार्य लिखते हैं कि—' दण्डा हथियार है। अगर हथियार हटा कर प्रवचन सार का अवलोकन कीजिए। और दण्डे का दण्डात्मक पक्षपात त्यागिए।

६४—दण्डोजी! किसी समय प्रमाद वश कोई पात्र कंधे या हाथ पर से गिर जाय और अयत्न हो जाय तो उस समय उसका मिथ्या दुष्कृत देकर प्रायश्चित्त ग्रहण कर आत्मशुद्धि कर लेते हैं। किन्तु दण्ड तो चलते समय प्रत्येक पैर के साथ क्रमशः युक्त भूमि पर व हरियाली युक्त अंकुरादि पर तथा द्वीन्द्रियादि लघुकाय जीवों पर टेका जाता है जिससे अनन्त, असंख्य स्थावर जीवों तथा सैकड़ों त्रसजीवों का नाश प्रमाद वश हो जाता है। इसलिये स्थविरों के सिवाय अन्य दण्डी लोगों का दण्डा जीवहिंसाजनक है ऐसा कहने में कोई अत्युक्ति नहीं। दण्डे से होने वाली जीवहिंसा का दण्ड भी उनकी

ोग नहीं लेते। इसलिए स्थैवरों के सिवाय अन्य हृष्ट पुष्ट दण्डी लोगों का दण्डा हिंसा उत्पादक होने से सदैव निषेध करने योग्य है। सर्व दण्डियों को दण्डा धारण करने की स्थापना रूप उत्सूत्रप्ररूपणा सिर्फ दण्डी ही करते हैं।

६५—दण्डीजी! वृद्ध साधु एवं साध्वी दण्डा प्रभु आज्ञा से धारण करती हैं और स्थैवर अवस्था प्राप्त होने पर धारण होता है। इसलिए भयोत्पादक एवम् क्रोधमूर्ति का हेतु भूत नहीं हो सकता। किन्तु स्थैवर दण्डियो के सिवाय अन्य निराभोजी हृष्ट पुष्ट दण्डी लोगों का हाथ में धारण किया हुवा दंडा मनुष्य पशु आदि की हिंसा का हेतु भूत है। इसलिए दण्डियों की भारी भूल है जो सब हाथ में रखते हैं।

६६—(दण्डा हमेशा साथ में रखने से १५ गुणो का प्रत्युत्तर और रखने में १८ अवगुणों की प्राप्ति)

भगवती, आचारांग, प्रश्नव्याकरण, निशीथ, दशवैकालिक आदि शास्त्रों में तीर्थंकर गणधर पूर्व धर महाराजाओ ने साधु साध्वियों को दण्डा रखने की आज्ञा दी है, यह दण्डीजी का लिखना मिथ्या है। उक्त सूत्रो में विधिवाद प्रदर्शक मूल पाठ है उसमें दण्ड शब्द अवश्य आया है किन्तु रखने की आज्ञा तो केवल एक व्यवहार सूत्र में है अन्य किसी सूत्र में नहीं यह आज्ञा भी सिर्फ स्थैवर पद प्राप्त मुनि के लिए है सभी मुनियों के लिए नहीं। इसलिये स्थैवरों के अतिरिक्त दण्डी दण्डा रखने वाले जिनागमों तथा गणधरादि महाराजों की आज्ञा के विराधक हैं।

२—दण्डीजी! जिस प्रकार सर्व साधु साध्वो को मुखपत्ति मुंह पर बाँधने की और रजोहरण को सदा सर्वदा पास रखने की आज्ञा है उसी प्रकार दण्डा रखने की सिवाय स्थैवरों के आज्ञा नहीं है। इसलिए सदा सर्वदा सभी मुनियों को दण्डा रखना जिनाज्ञा विरुद्ध है।

३—दण्डीजी! दण्डे के सहारे से आहार की झोली, पात्रे सब अधर रख कर आहार करना पड़ता है ऐसा ३२ शास्त्रों में किसी भी जगह नहीं लिखा। और ऐसा तुम दण्डी लोग भी कहां करते हो! यह तुम्हारा सिर्फ लिखना ही है। बहुत सी जगह देखने में आया है कि दण्डी लोग भिक्षा वृत्ति के लिए जब गृहस्थी के घर जाते हैं तब गृहस्थ दण्डी पात्र व दण्डा रखने के लिए बाजोट पाटले आदि बिछाते हैं उस पर छोटी मोटी पात्रियां रख आहार पानी दण्डी लोग वहरते हैं। यह आम प्रसिद्ध बात है। बाजोट आदि बिछाने में कीड़ी कुंथुए आदि सूक्ष्म, बादर अनेक जीवों की हानि होती है। श्वे० स्था० जैन मुनि तो जब भिक्षा के लिये झोली पात्रा जमीन पर रखते हैं उस पहिले अपने पास सदा सर्वदा रहने वाले रजोहरण से जमीन को पूंज या देख कर फिर भूमि पर रखते हैं इस वास्ते जीव हिंसा होने का कोई कारण ही नहीं। वास्ते दण्डीजी का उपरोक्त जीवहिंसा का आक्षेप करना नितान्त मिथ्या है।

४—दण्डीजी! रास्ते में चलते समय कभी अकस्मात् कांटा लग जाता है तो नीचे बैठ कर निकाल सकते हैं दण्डे का सहारा लेने की कोई आवश्यकता नहीं। और गढ़े आदि विषम मार्ग की ओर जाने की प्रभु आज्ञा ही नहीं। तो गढ़े में गिरने का भय ही क्या! दण्डीजी! बाज समय दण्डी भी गिर जाते हैं फिर दण्डे का महत्व ही क्या! ऐसा तो कभी हो ही नहीं सकता कि दण्डा रखने वाले कभी भी गिर नहीं सकते। जब दण्डा धारण करने वाले भी गिर जाते हैं और संयम तथा आत्मा दोनों के विराधक होते हैं तथा तीसरे जिनाज्ञा के विराधक तो हैं ही तो फिर ऐसे दण्डे से लाभ क्या! इससे यही श्रेष्ठ है कि प्रभु आज्ञा का पालन करें।

५—दण्डीजी! विहार कर मार्ग में जाते समय भूख से तथा प्यास से अथवा जो चलने में अशक्ति हो या चक्कर आते हों एसे

समय स्थैवरो के दण्डे से काम ले सकते हैं। यदि स्थैवर साथ में न हो तो अन्य किसी गृहस्थ से कुछ समय के लिये यष्टि की याचना कर काम चला सकते हैं। यदि कोई गृहस्थ भी न हो तो आस पास के ग्राम से मांग लाते हैं या जंगल के बीच कोई सूखी लकड़ी पडी हो तो राह के आने जाने वालों की आज्ञा से एवम शकेंद्र महाराज की आज्ञा से उसे ले लेते हैं और अपना काम निकाल लेते हैं ;इसमे भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन नहीं होता। किन्तु प्रभु आज्ञा विना जो दण्ड धारण करते हैं वे प्रभु की आज्ञा के विराधक हैं।

६—दण्डीजी! अव्वल तो जैन मुनियो को नदी नाले उतरने का काम ही बहुत कम पड़ता है और कदाचित् पड़ता भी है तो शास्त्रोक्त मर्यादा दर्शित जल से अर्थात एक पग स्थल और एक पग जल इस प्रमाण के सिवाय अधिक जल हो तो साधुओ को उतरने की आज्ञा ही नहीं है इसलिये नहीं उतरते हैं। कभी जल अधिक गहरा हो और थाह लेना हो तो स्थैवरों के दण्डे से देख लेते हैं। इसलिये अन्य साधुओ को रखने की आवश्यकता नहीं।

७—दण्डीजी! बहुत जल वाली नदी उतरते समय नौका मे बैठते व उतरते वक्त दण्डे की आवश्यकता स्थैवरो को ही रहती है, और वे दण्ड पास रखते भी हैं। यदि अन्य मुनियो को भी चढने उतरने का काम पड़े तो वे स्थैवरों के दण्डे से चढ उतर सकते हैं। किन्तु नहीं का बहाना कर सभी मुनियो के लिये दण्डा रखने की आज्ञा प्रतिपादन करना केवल उत्सूत्र प्ररूपणा है।

८—दण्डीजी! जब गिरने की ही स्पर्शना होती है तो हाथ में दण्डा रखने वाले दण्डी और दण्डिनिया भी गिर जाती हैं। अत. यह कहना तुम्हारा सत्य नहीं।

९—दण्डीजी! रास्ते में चलते समय काटने वाले कुत्ते व सीगों से मारने वाली गौ भैंस आदि के बचाव के लिये परमात्मा ने दण्डा

नहीं बतलाया है ऐसा कह कर दण्डे की स्थापना करना शायद तुम्हारे मत से चतुराई होगी पर यह उत्सूत्र प्ररूपणा है। और श्रावे को कुत्ते की थोर दिखाने का भी दण्डोजी ! तुमने अपनी मिथ्या आदत से लाचार हो कर शिर मारा है। पर ऐसी झूट बातों से तुम अपना मन्तव्य कभी सिद्ध नहीं कर सकते। यह सिद्धि चाहने की इच्छा तुम्हारी सर्वथा अनुचित है।

१०—"हाथ में दण्डा होने से ऊपर मुजब विहार के समय जंगल में कभी चोर या हिंसक प्राणी से भी बचाव हो सकता है।" बस यही भावना तो खास तुम्हारी है। सच पूछा जाय तो इसीलिये तुम दण्डा रखते हो। वाह ! दण्डीजी वाह !! तुम दण्डी लोग दण्डे की स्थापना खास कर चोर, सिंह कुत्ते, गौ, भैंस आदि की ताड़ना करने के लिये ही कर क्यों संसार बढ़ाते हो ?

११—विहार के समय कभी तपस्वी आदि चलन में असमर्थ हो जायँ और झोली बना कर उठा के ले जाने का काम पड़े तो किसी गृहस्थ से सदोष दण्डा जाँच कर ले आ सकते हैं। पर ऐसी कूट कुयुक्तियाँ लगा कर दण्डा रखना यह आपको ही शोभा देता है।

१२—दण्डीजी ! आहार लाते समय दण्डे के अभाव में आहार के वजन से हाथ दुखने लगता है ऐसे समय गृहस्थों के घरों में या रास्ते में किसी जगह आहार के पात्र जमीन पर रखना अनुचित है तो कहिए दण्डीजी ! दण्डे के सहारे से झोली को लटकावें और ऐसे समय झोली की गांठ खुल जाय या झोली में वजन अधिक होने के कारण झोली फट जाय तो दण्डी और दण्डिनियाँ रास्ते आदि में ,पात्र रखना उचित समझेंगी या नहीं ? दण्डीजी ! लिखते समय आगे पीछे का जरा सोच समझ कर लिखा करें ताकि फिर नीचा देखने का सौ भाग्य प्राप्त न हो।

१३—दंडीजी ! छोटी दीक्षा वाले साधु को आहारादि करने के लिए बड़ी दीक्षा वाले साधुओं से अलग बैठकर करने के लिए दंडा बीच में रखना पडता है ऐसा सूत्रों में कहीं नहीं लिखा। यह तुम्हारा लिखना नितान्त मिथ्या है।

१४—दंडीजी ! सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र रूप रत्न त्रयी की व पंच महाव्रत की सूचना रूप रेखा होने से दंडा हर समय यम धर्म में अप्रमादी रहने का स्मरण कराने का हेतु है ऐसा लिखना नितान्त मिथ्या है। हां, किसी अबोध व्यक्ति के सामने आपका दण्डा खड़ा कर दिया जाय और उसे उक्त बोध हो जाय तो आपका कथन सत्य हो सकता है। वरना मिथ्या है। किन्तु ऐसा किसी को हो ही नहीं सकता। सम्यक् ज्ञान दर्शन और चारित्र का स्मरण ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और चारित्रमोहनीय के क्षयोपशम से होता है न कि यष्टी देखने से। यदि एसी यष्टी (लट्ठी) काष्ट की देखने से स्मरण होता तो पुर्बिये लोग प्राय दण्डा हमेशा हाथ में रखते हैं सबों को स्मरण हो जाना चाहिये था। पर आज तक किसी को स्मरण हुआ सुना नहीं। इसलिये तुम्हारा लिखना मिथ्या है। साधु जान कर कोई ज्ञान सुनने या साधु धर्म से परिचित होने के लिये आता है तो पास में दण्डा देख कर भग जाता है। इसलिये दण्डीजी ! तुम्हारे जैसे हृष्ट पुष्ट को दण्डा सं, म से पराङ्मुख बनाने वाला है इसलिये सयम धर्म के मार्ग से चलित न होने के लिये दण्डा धारण करना त्याग दो।

१५—दडीजी ! दर्शन, ज्ञान, चारित्र की आराधना करने से मोक्ष प्राप्ति का कारण शरीर है यह लिखना तो तुम्हारा ठीक किन्तु 'शरीर की रक्षा करने वाला दंडा है" यह लिखना नितान्त मिथ्या है क्योंकि शरीर की रक्षा करने वाला तो अन्न, जल और वायु है। यह जो न हो तो दडियो के मुह में मक्खिया घुसने लगें। इसलिये

दण्डीजी! कारण कार्य भाव से दर्शन-ज्ञान-चारित्र तथा मोक्ष का हेतु मुख दंडा नहीं खास कर प्रासुक अन्न, जल और वायु है।

दण्डीजी! उपरोक्त आपके कपोल कल्पित १५ गुणों का उत्तर यथा योग्य देकर समाधान किया आप इस प्रकार कुयुक्तियाँ लगा कर स्वैर भगवन्तों के सिवाय हृष्ट पुष्ट व्यक्तियों को दण्डा रखने की चाल प्राचीन सिद्ध करना चाहते हैं यह आपको उत्सूत्र प्ररूपणा है। इस प्रकार मायाचारी की झूठी बातें लिखने से दुष्काल में तुम्हारे जैसे भोजन पन्थी लोगों ने कुत्तों से अपने भोजन का बचाव करने या चोर, सिंह, गौ, भैंस, डाकू आदि की ताड़ना वास्ते जिनाज्ञा प्रतिकूल बता कर दण्डा धारण किया और बेचारी भोली भाली जनता को मिथ्या मार्ग में प्रेरित किया, यह असम्य अपराध टल नहीं सकता। तुमने ऐसा कथन कर अनन्त संसार की वृद्धि कर ली है। तुम्हें दंडी पीताम्बरी के नाम से पुकारने पर बड़ा आश्चर्य होता है और तुम चिढ़ते हो यह तुम्हारी भूल है क्योंकि दण्डी और पीताम्बरी दोनों नाम गुण निष्पन्न ही हैं। इसलिये तुम्हें नाराज नहीं होना चाहिये। दण्डा रखने से दण्डी और पीत वस्त्र पहिनने से पीताम्बरी कहलाते हो। इसलिये तुम्हें शांत रहना उचित है। अज्ञान दशा या द्वेष बुद्धि से आज दिन पर्यंत दण्डी, पीताम्बरी और मूर्तिपूजक कहने वालों पर द्वेष किया तथा द्वेष बुद्धि से कहने वालों की निन्दा की हो या निन्दा की कोई पुस्तक छपाई हो एवम् वितरण की हो तो उसका शुद्ध भावों से प्रायश्चित्त लेकर आत्मा को शुद्ध कर लो।

जमाना बुद्धिवाद का है जड़वाद का नहीं। समकित का मार्ग पकड़ो। हठ धर्मी से कोई उन्नति नहीं कर सकता। सच्चे लक्ष्य तक पहुँचने में जीवन समर्पण करना, आवश्यकता हो तो उस पर भी ममत्व न करना धर्म है। धर्म की ओट में पाखण्ड नहीं बढ़ाना चाहिये। पाखण्ड बढ़ने से ही धर्म का ह्रास हो रहा है। प्रत्यक्ष मद्र मनुमारी में

जैनियों की सख्या घट रही है। आपसी वाद विवाद में और लड़ने में तो शूर वीरता आ जाती है पर अन्य मतावलम्बी जब कभी धर्म पर आक्षेप करते हैं आँख भी नहीं खुलती जैनियों की इसीलिये दिनों दिन अवनति हो रही है पर आपसी मत भेद के कारण एक दूसरे से मिलने जुलने एवम् शांत्वना देने तक की इच्छा नहीं रखता। वाद विवाद में हजारों फूंकना कर्तव्य समझता है पर समाज की हालत सुधारने के लिये, एक फूटी पाई भी खर्च करना नहीं जानता। कर्णधार स्वय डुबकियां लगा रहे हैं उन्हें वाद विवाद में मजा है वे आपसी निन्दा में लीन हैं। अतएव समाज की ओर देखे कौन? सत्य बात को पकड़े कौन? यही कारण है कि खींचातानी मची हुई है। सत्य बात बताने पर भी ग्रहण नहीं की जाती। वाद-विवाद बढ़ाया जाता है और कपोल कल्पित बातों द्वारा पक्ष समर्थन किया जाता है। दण्डीजी! कुछ सोचो! समाज और अपने भलाई का मार्ग सोचो तो सबका कल्याण होगा।

स्थैवरों के सिवाय नवयुवक हृष्ट पुष्ट दण्डियों के दण्ड धारण करने में १८ दोष—

(१) स्थैवरों से अन्य दण्डी जो दण्डा रखते हैं वे भगवन्तो की आज्ञा का उल्लंघन करते हैं और भगवन्त की आज्ञा उल्लंघन से आज्ञा के विराधक होते हैं। विराधक हो कर भवनपति व व्यतरादि जन्म ले कर पुन. भव भ्रमण करते है। इसलिये दण्डा नहीं रखना ही अच्छा है।

(२) नवयुवक दण्डी कभी किसी बाह्यांतर कार्य वश पारस्परिक झगड़ा टटा कर बैठते हैं तो दण्डेमार हो जाती है। स० १९६६ के साल ऋषभविजय नामक दण्डो चित्तौड़गढ़ और पुढोली के बीच में भिलवाड़े जाते समय मुझे राह में मिला था उसने मेरे साथ वाले साधुओं के समक्ष कहा था कि छोटी सादड़ी मेवाड में मेरे और शांतिविजयजी के बीच में इसलिए झगड़ा हो गया था कि उनने मुझे कचोरी बनाने को कहा और मुझे कचौरी बनाना नहीं आता था। इसलिए मैं न बना सका

इस पर से तकरार बहुत बढ़ गई और शांतिविजयजी ने दण्डे मार २ कर मुझे निकाल दिया। उनने दण्डे के निशान भी बतलाए थे। दण्डे कई जगह सूले दीख रहे थे। यह तकरार के दो दिन बाद ही हमें मिला था फिर हमारे साथ हो वह किशनगढ़ तक गया और हमारे साथ ही रहा बाद उसने अपने पास की सप्त धातु की मूर्ति ६०-७० रुपयों में बेच कर नकदो दाम किए और अजमेर चला गया। इतना लिखने का मतलब यह कि दण्डा रखने वाले नवयुक दंडी दण्डेमार भी कहीं कर बैठते हैं इसलिए दंडा संयम और आत्मा दोनों का विघातक है। अतएव नवयुवक दाडयों को दंडा रखना सर्वथा सूत्र विरुद्ध है।

(३) दंडा रखने वाले को जरूर गरूर आ जाता है और बाज वक्त वह मनुष्य पशु को मार भी बैठता है। इसलिए नवयुवक दण्डियों का दण्डा रखना उचित नहीं है।

(४) बिना दसे दण्डा जमीन पर टका जाता है। कीड़ मकोड़े, मेंढक आदि के ऊपर आ जाय तो पञ्चेन्द्रिय तक दण्डे के नीचे आकर दब जाते और मर जाते हैं इसलिये नवयुवक दण्डियों को हिंसाजनक दण्डा रखना संयम व शोभादि का नाश करता है।

(५) वर्षात के दिनों में ओलण फूलण हरी आदि पर दण्डी दण्डा टेकते हुए जहाँ जाते हैं तो वहां अनन्त असंख्य जीवों का नाश होता है। इसलिये नहीं रखना ही अच्छा है।

(६) मार्ग में चलते समय हाथ मे लिये हुए तीक्ष्ण नोक वाले दण्डे को कभी आगे और कभी पीछे को हिलाते हुए दण्डी लोग चलते हैं। उस समय सामने से आने वाले व जाने वाले आदमियों को लग जाय तो बड़ा क्लेश पैदा हो जाता है इसलिये ऐसे क्लेशोत्पादक दंडे को रखना कदापि योग्य नहीं।

(७) मार्ग में चलते समय दंडा हाथ में से छूट कर नीचे गिर जाने से असंख्य वायु काय के जीवों की तथा त्रस जीवों की हिंसा

होती है व घात भी हो जाता है। अतः दंडा सर्वथा हिंसाकारक होने से विना कारण रखना उचित नहीं है।

(८) किसी समय दण्डा रखने वाले दंडो के नीचे गिरने पर दंडा हाथ में से छूट कर तीखी नोंक सीधी गिरते समय सीने मे आकर घुस जाय तो जान ले बैठता है अतः दंडा स्वात्मा नाशक भी है अतः वर्जनीय है।

(९) दंडे वाला कभी पर को भी मार बैठता है अतः पर जीवात्मा नाशक भी है।

(१०) क्रोध के आवेश में आकर किसीके मस्तक में मार देने से मस्तक फूट कर खून निकल आय तो फौजदारी मुकद्दमा भी दंडा दायर करवा देता है इसलिये दंडा रखना ठीक नहीं।

(११) दंडो के लिये श्रावकों को सूचित करना पड़ता है कि अमुक २ साधुओं को इतने दंडों की आवश्यकता है। यदि वक्त पर दंडे जैसा लक्कड तैयार न मिले तो नवीन कटवा के मँगवा कर दंडे तैयार करवाना पड़ते हैं जिसमे गोली लकड़ी भी काटना पड़ जाता है तो असख्य जीवों का नाश पैदा हो जाता है अतएव दंडा वर्जनीय है।

(१२) दंडे जैसी लकड़ी मोल खरीद कर लाने से (क्रय) दोष भी दंडे रखने वालों को लगता है।

(१३) दंडे खास कर दंडियों के लिये ही तैयार किये जाते हैं। पात्रों के जैसा व्योपार खैराती नहीं करते। इसलिये दंडे के लिए औजार आदि तीक्ष्ण तथा टूटे फूटे ठीक करने में अग्नि का आरम्भ किया जाता है जिसका पाप भी दंडा रखने वालों को लगता है।

(१४) दंडे वालों से बच्चे पशु आदि को मार देने का भय लगता है। बाल बच्चे पशु आदि दंडे वाले को देख कर भय भीत हो कर भाग जाते हैं। अतएव अन्य प्राणियों को हृदय में भय उत्पन्न कराने वाला जो दंडा है उसे त्रासोत्पादक समझ हमेशा त्यागना चाहिए।

(१५) सिवाय स्थविर भगवन्तों के अन्य मुनियों को डंडा रखने की आज्ञा नहीं है और इसे सिद्ध करने के लिए दंडियों का कई कुयुक्तियां रचनी पड़ती हैं। कूड़, कपट माया आदि का सेवन करना पड़ता है तथा दण्डों की स्थापना के लिये हमारे प्रिय दण्डी मणिसागरजी के समान उत्सूत्र प्ररूपणा भी करना पड़ती है अतएव दण्डधारियो! सावधान!

(१६) प्राय कर दण्डी लोग शीशम का दण्डा रखते हैं और आकर्णान्त लम्बा रखते हैं जिससे छोटे जैनेतर बच्चे (लम्बी लकड़ी लम्बो बार दण्डी बैठे पछे चोर) तथा (शीशम की लकड़ी, रेशम की डोर, दण्डी बैठे पाछे चोर) इस प्रकार दण्डियों को चिड़ाते हैं विचार पूर्वक देखा जाय तो दण्डियों को खास चिड़ाने का कारण यह दण्डा ही है।

(१७) दण्डधारी नवयुवकों को देख कर जैनेतर लोग हंसते हैं और कहते हैं कि यह दण्डा क्या ढोर व ऊंटों को हांकने के लिये धारण किया है?

(१८) जिनके लिए दण्डा रखने की आज्ञा नहीं है, और जो सिर्फ शौक के खातिर जिनाज्ञा विरुद्ध व भगवान की आज्ञा के प्रतिकूल डंडा धारण करते हैं। वे जिनाज्ञा के बाहर हैं और जो जिनाज्ञा के बाहर हैं उन्हें मोक्ष किसी भी हालत में नहीं मिल सकती। इसलिए कार्य कारण के बिना जिन आत्माओं ने डंडा धारण किया है उनके लिये मोक्ष की प्राप्ति में डंडा अर्गला समान आ खड़ा होता है।

दंडीजी! ऐसे अनेक दोष नवयुवकों के डंडा रखने में दृष्टि गत होते हैं किन्तु लेख बढ़ जाने के भय से अठारह ही दोष लिख कर बतलाये गए हैं।

५८—दण्डीजी! दीक्षा लेते समय जिन २ उपकरणों की जिस २ के लिए जैसी आज्ञा है वैसे २ लिए जाते हैं किन्तु डंडा रखने की

चित्र परिचय के लिये

(८) पांचों पांडव शत्रुञ्जय पर्वत पर संथारा किये हुए हैं।

श्री जैनोदय प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम

जिनाज्ञा तो सिर्फ वय स्थवरों के लिये ही है अन्य के लिये नहीं वास्ते (उपकरणों के साथ दंडा भी सूत्रो मे बतलाया है इसलिये रखना योग्य है) ऐसी कुयुक्तियां लगा कर दडे की स्थापना करना उत्सूत्र प्ररूपना करने के समान है। अर्थात उत्सूत्र प्ररूपना ही है।

६९—दंडीजी ! स्थवर भगवंतो के सिवाय अन्य मुनियों के लिये दंडा विना कारण सदा सर्वदा रखना भगवान् की आज्ञा के बाहर है अतएव आपका यह ११७ वी जाहिर उद्घोपणा का प्रचार एक दम मिथ्या है।

७०—दंडीजी ! प्रश्न व्याकरण सूत्र के तीसरे [illegible] द्वार में जो दंडा बतलाया है। वह सही है पर उस दडे के साथ ही [illegible] बैठने के लिए पाटिया और शयन के लिए संस्तारक का [illegible] है। यदि इसी मूल पाठ के आधार से दडा रखना चाहते हो [illegible] इसी [illegible] पाठ के साथ ही साथ लकड़ी का पाटिया का [illegible] [illegible] हुआ है इस उद्देशानुसार दंडी लोगों को दडे के साथ [illegible] [illegible] पाटिया भी बांधे रहना चाहिए।

पाठको ! जिस प्रकार जिस [illegible] प्रकार रक्खी जाया करती है। जब साधु [illegible] लिए उस समय दडा रखना उपयुक्त [illegible] हृष्ट पुष्ट युवान साधुओं के लिए दंडा [illegible] है। मूल पाठ और भगवान् का आज्ञा [illegible] साधुओं के लिए दंडा रखना ऐसा [illegible] भाषी समझना चाहिए।

आगे चल कर दंडीजी ने [illegible] करण पूरे २ रखते भी नहीं [illegible] करण, कर्तव्य, श्रद्धा और प्ररूप[illegible]

महोदय ! ढंढीजी का इस प्रकार लिखना निरी निरक्षरता का है। क्योंकि वे जैनागम का भी भूले बैठे हैं जब कि साधुओं के लिए तीन पछेवड़ी रखने की भगवान् ने आज्ञा दी। इससे अधिक आइने की वीर प्रभु की आज्ञा नहीं। यदि तीन पछेवड़ी न ओढ़ कर दो या एक ही ओढ़ कर शीतादि समय बिताव तो वह उत्कृष्ट क्रिया का करने वाला साधु समझा जाता है। ज्यों ज्यों उपकरण (उपाधि) कम करता जाता त्यों त्यों विरार फलदायक है। इस प्रकार होते हुए भी कम उपकरण रखन अर्थात् उपाधि घटाने पर ढंढीजी सूत्र विरुद्ध समझते हैं। इस पर काइ क्या यह न हीं कहेगा कि ढंढीजी की मति ही विभ्रम हो गई ?

फिर हजिए ! जिन कल्पी मुनि के पास तो बहुत ही कम उप करण रहते हैं तो क्या कम उपकरण रखने स साधु नहीं कहलायगे ? अवश्य कहलायेंगे। इससे यह सिद्ध हो गया कि उपकरण कम रखने से साधुत्व की विशेषता है न कि न्यूनता अतएव जो ढंढीजी ने कहा है कि कम उपकरण रखना सूत्र विरुद्ध है,यह उनकी बुद्धि की अजीर्णता है।

ढंढीजी ! फिर भी जरा सोचो जो तीसरे संवर द्वार में ब ।, पाटिया, संस्तारक (घास वगैरह आदि वस्तु वस्तुएं बतलाई हैं वे हमेशा रखन क लिए नहीं जिस समय जिसकी जरूरत हो उस समय उन उप करणा में से उपकरण रखन का सूत्राशय है। और जो हमेशा पास रखने की वस्तुएं अर्थात् उपकरण हैं उनका उल्लेख प्रश्न व्याकरण सूत्र क पंचम सवर द्वार में निम्नोक्त प्रकार से है —

"पडिग्गहो पायबंधणं पायकेसरिया पायठवणं च पडलाइ तिन्नेव रयत्ताणं च गोच्छओ तिन्नेव य पच्छाका रयोहरण चोल पट्टक मुहणंतकं।

पाठको ! उपरोक्त मूल पाठ में साधुओं क लिए अपने पास रखने क उपकरणों का नाम निर्देश किया पर दंडा रखन के लिए दंडे का नाम मूल में नहीं किया। इससे दंडा रखना ऐसी ढंढीजी की सारी कुयुक्तियों का खण्डन हो गया है।

खास निवेदन का उत्तर ।

उत्सूत्र-भाषी दंडी मणिसागरजी को, हम इसके द्वारा यह जता देना चाहते हैं, कि लेखक दंडी ने, जो जैन मुनियो के लिए मुहपत्ति को सदा सर्वदा मुह पर बांधने में छत्तीस दोष बतलाये हैं, वे निरे निकम्मे निष्प्राण, नियति के नियमों से विरुद्ध, निराधार और कुतर्क-पूर्ण हैं। क्योंकि दण्डीजी के द्वारा प्रदर्शित दोषो का जिनेश्वर प्रणीत बत्तीस सूत्रों में तो कहीं जिक्र तक भी नहीं पाया जाता है। दूसरी एक यह बात भी बड़ी ही विचारणीय और विचित्र, दण्डीजी ने दण्ड पेलते पेलते लिख मारी है, कि—"हमेशा मुंहपत्ति को बाधे रहने में भी छत्तीस दोष आते हैं।" पाठको! देखा, दण्डीजी को मायाचारी और मूल तक में मोहक प्रलाप! हमेशा मुंहपत्ति का मुख पर बाँधे रहने में तो दण्डीजी को दोष-दर्शन हो आये, परन्तु व्याख्यानादि के समय, जब कि दण्डी के स्वयं आचार्य, कृपाचन्द्र सूरि दण्डीजी के निज के गुरु सुमति सागरजी, हरिसागरजी, सागरानन्द सूरिजी, आदि अनेको गच्छ निवासी यति और संवेगी लोग, जो कुछ समय ही के लिए फिर चाहे क्यों न हो, मुख पर मुंहपत्ति बाधने का कष्ट उठाते हैं, तब क्या वे लोग तो उपर्युक्त दोषों से बाल बाल अलग रह सकते हैं, और केवल जैन मुनि ही, जो भगवदाज्ञा का प्रेम और प्रतिज्ञापूर्वक पालन करते हुए, मुख पर मुंहपत्ति को सदा सर्वदा बाधे रहते हैं, दोप के भागी हैं? वाह! दण्डीजी की सूझ शक्ति, और पहुच तो सचमुच में पूरी पूरी पहुची हुई है। परन्तु पाठको! दण्डीजी के ये दोप, केवल उन के मनसूबे ही मात्र है। वास्तव में हैं ये कुछ नहीं। अगर सचमुच मे ये दोष कुछ होते तो क्या दण्डीजी उनमे से कमसे कम शास्त्रीय प्रमाणों में से एक दो तक का भी कहीं उल्लेख न करते? परन्तु जिसका जगत मे कहीं कोई अस्तित्व तक नहीं, उनका उल्लेख किया भी जाता, तो

किस नाम, रूप और काम में ? यह तो हांफते-कांपते, 'भाग न भाग मैं तेरा मेहमान, बसने के नाते, अपने अनुयायियों से पुजवाने की लीला-मात्र का प्रदर्शन, दएडीजी ने किया है। अगर यह कह कर माया जाल बिछाया न गया होता, यह स्वाभाविक ही था, कि लोग श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन मुनियों की ओर, जो मुंह मुह की उष्ण वायु के द्वारा होने वाली बाह्य वायु-कायिक जीवों की सतत हिंसा से दूर रहने के लिए, जिनेश्वर भगवान् की आज्ञानुसार, प्रमाण संयुक्त मुखवस्त्रिका को मुख्य मार्ग से, सब समय अपने मुख पर बाँधे रहते हैं, अनायास ही झुक गये होते और तब तो इन ऐसे वेषधारी दण्डियों की, रोटियाँ तक से मुहताजी हो गई होती। फाकाकशी के साथ बेचारों की जीवन की घड़ियां गिन गिन के, कटनी पड़तीं।

पाठको! दएडीजी के छत्तीस दोषों का निराकरण तो यों ऊपर बताये हुए, उन्हीं के 'मौनं सम्मतिलक्षणम्' के न्याय, स्वयमेव ही हो जाता है। अस्तु। हम खुले शब्दों में अब दण्डीजी के अन्ध-विश्वासु महाशय, अनुयायियों और भक्तों का यह भी कहने का आग्रह करें, तो भी कुछ अनुचित नहीं कि उन्होंने उस दिन के बारह वर्षों के पूर्वकाल से, जिनाज्ञा की अवहेलना और अपमान कर जो मुखपत्ति का हाथ में रखने की प्रणाली को अपनाया है, और उसकी पुष्टि में जिन जिन मन-गढ़न्त प्रमाणों को महल चिना है, वे सबके सब कार्य महान् मूर्खता पूर्ण, मोह-मूलक, मिथ्यात्व के प्रचारक और भागवार स भरे पूरे हैं। क्योंकि स्वयं मुखपत्ति शब्द ही अपनी व्युत्पत्ति के द्वारा जगत् को बताये दे रहा है कि उसका उचित स्थान मुख ही हो सकता है अन्य नहीं। उदाहरणार्थ यदि हम पगरखी (पैरों की रक्षा करने वाली), अंगरखी (अंग की रक्षा करने वाली) तथा ऐसे ही अन्यान्य, इन और शब्दों का भी तब भी उसी संगति में जगत् उन्हें सार्थक देख सकता है। अन्यथा, विरुद्ध इसके केवल भ्रम और भूलों की भरमार

यहां होती दीख पड़ेगी। जैसे, यदि कोई व्यक्ति पगरखी को पैरों में न पहनते हुए, सिर पर धारण करले, और टोपी या साफा या पगड़ी आदि को सिर पर न रखते हुए, वह अपने पैरों में उसे पहन ले, तो वह व्यक्ति संसार मे केवल उपहास और अचम्भे का पात्र ही न ठह रेगा वरन् जगत् उसे 'उल्लू', 'अज्ञानी', 'पागल' आदि शब्दों से भी सम्बोधित करेगा। इससे विचारशील पाठक अच्छी तरह जान सकते हैं, कि तव दण्डीजी का, अपने हाथो दण्डा धारण कर, सत्त्व-गुण-मयी मुहपत्ति के पीछे पड़ कर दौड़ धूप करना और उस वेचारी को दिन-दहाड़े, मुंह पद से खींच खांच कर अपने हाथों में घसीट लाना, और वह भी आज के प्रकाश के जमाने में? सोलह आना अन्याय से ओत प्रोत है, निज की साधुता पर कुठाराघात है, अपने दण्ड और दण्डी अवस्था को, "शक्तिः परेषा परिपीडनाय" से पूरा पूरा अपमान है, और संसार के साथ सरासर फरेवी है। अस्तु। इस पाप के प्रायश्चित्त में उचित तो अब यही है, कि जिन जिन महानुभावों ने सनातन जैन प्रणाली की, जो मुख पर ही मुख-वस्त्रिका को बाँधने की है, छोड़ कर, उसे (मुख-वस्त्रिका को) हाथ मे ग्रहण की हो, या करवाई हो, या उसे यों करने, करवाने में जिनका अनुमोदन और समर्थन रहा हो, या जिन्होंने उसे हाथो में रखने रखवाने रूप उत्सूत्र की प्ररूपना की हो, या करवाई हो, अथवा जिन्होंने मुखवस्त्रिका को मुंह पर वाधने में किसी प्रकार की क्वचित् भी शका की हो, और उसे यों वाधना, जिनाज्ञा के विरुद्ध समझी समझाई हो उन्हें जैन-जगत् के प्रसिद्ध वक्ता पण्डित मुनि श्री चौथमलजी महाराज के सुशिष्य श्री शंकर मुनिजी महाराज कृत 'मुख-वस्त्रिका-निर्णय', साहित्यप्रेमी पण्डित मुनि श्री प्यारचन्द्रजी महाराज विरचित 'गुरु-गुण-महिमा', श्री कुन्दनमलजी महाराज द्वारा लिखित 'मिथ्यात्व-निकन्दन-भास्कर', श्री अमोलखजी ऋषि द्वारा रचित 'जैन-तत्व-प्रकाश', श्रीमती विदुषी सती पार्वतीजी कृत, 'ज्ञान-

दीपिका, व 'सत्यार्थ-धर्मोदय-जैन, और इस प्रस्तुत ग्रन्थ तथा श्री म्येष्ठमलजी महाराज आदि मुनियों द्वारा विरचित अन्यान्य ग्रन्थों को ध्यान और मनन पूर्वक पढ़ कर और इन में जो जिनाज्ञा-विहित और मन व सम्मत मुखवस्त्रिका को, सुन्दर भाग से सदा सर्वदा मुख पर ही बांधने की सच्ची और सनातन जैन-प्रणाली है उसी का अनुसरण तथा अनुकरण करते हुए अपनी विगत भूलों का मण्डा फोड़ कर, अपनी आत्मा-शुद्धि कर लेने का अखण्ड व्रत ले लेना चाहिए। इसी में उनका भावी कल्याण, उनके धर्म का जीवन, जिनाज्ञा का प्राणप्रण से पालन, वायु वायु-कायिक जीवों की विरन्तन रक्षा जैन-धर्म की प्राचीनतम पहचान, अहिंसा का प्राथमिक मुखमोपचार, और जिन सूत्रों की सार मयी प्रतिज्ञा है। हमारी यह हार्दिक अभिलाषा और आग्रह है, कि भगवान् इन भूले हुओं को शास्त्र विहित सन्मार्ग की ओर लगन और आने की सुबुद्धि प्रदान करे।

यदि उत्सूत्र-भाषी उपाध्याय मणिसागरजी म० उपर्युक्त विद्वान् मुनियों के द्वारा विरचित शास्त्र-सम्मत ग्रन्थों की अवहेलना तथा जैन सूत्रों और जिनेश्वर भगवान् की आज्ञा का अपमान करते हुए, मुख-वस्त्रिका को स्थान-भ्रष्ट करने का अनुचित साहस और अनधिकार चेष्टा न की होती, यदि इन्होंने सत्य सनातन जैन प्रणाली के मूल म अनुचित कुठाराघात करने वाली, मुख-वस्त्रिका को हाथ में रखने रूप उत्सूत्रों की प्ररूपना जो उनकी अपनी जाहिर उद्घोषणा नं० ३ की मिथ्या रचना के रूप में, 'आगमानुसार मुख-वस्त्रिका-निर्णय' के नाम से थोथी पोथी के रूप मे प्रकट हुई है न की होती, तो 'संसार में प्रत्येक शब्द की प्रतिध्वनि होती है' के न्यायानुसार, यह कदापि सम्भव नहीं था कि यह हृदय-विदारक मुंह तोड़ और सिर फाड़ जवाब भी यों प्रतिध्वनि के रूप म, उनके ही सिर तैयार हुआ होता। हम तो

दण्डीजी का हृदय से हित चाहते हुए, उन्हे यहाँ यह भी सूचित किये बिना किसी भांति नहीं रह सकते, कि यो भविष्य मे कुयुक्तियो, कुत्सित भावनाओ और कदाग्रह के वशवर्त्ती बन कर, जैन-शास्त्रो व उनका अनुसरण करने वाले अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों के शुद्ध और साधु पाठो तथा टीकाओं का अग-भंग करते हुए, न तो वे भोली भाली जैन जनता ही को उन्मार्गी बनाने का अज्ञान मूलक काम करके, निज के अनन्त ससार ही को वढावें, और न वे कभी उन जैन मुनियो की, जो जिनाज्ञानुकूल सुन्दर धागे से मुखवस्त्रिका को निज मुख पर बाधते हैं, व्यर्थ की निन्दा स्तुति ही किया करें, जिससे प्रतिध्वनि के रूप मे, ऐसी अप्रिय-जनक पुस्तकों का प्रादुर्भाव ही जगत् में न हो पावेगा। क्योकि कहा गया है कि:—

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न दीखा कोय।
जो दिल खोजा आपना, मुझ सा बुरा न कोय॥

अस्तु। पराये की पेट भर निन्दा कर और उनके दोषो का प्रदर्शन करने से पहले ही पहले, यदि मनुष्य अपने ही हृदय को जरा टटोल कर देख लिया करे तो वह ऐसी भूलों के करने से तो बाल बाल बच ही जायगा, किन्तु साथ ही साथ, जगत् में अकारण क्षोभ भी उसके द्वारा न फैल पावेगा और व्यर्थ की निन्दा का पात्र भी वह न बनेगा। यह तो यह, पर इस कठिन समय में, जब कि देश दरिद्र-नारायण की प्राण अपहरण करने वाली ठण्डक से कंपकंपा रहा है, देश की सम्पत्ति, ज्ञान शक्ति, श्रम और समय का जो आज यों वितडा-वाद में व्यर्थ ही अपव्यय किया जा रहा है, उसका सदुपयोग होगा, वह ऊपर से और लाभ में, सो अलग ही। तब तो हमारा यह कहना भी किसी प्रकार अयुक्ति-युक्त न होगा, कि हमारी इस रचना में भी, दण्डीजी की लेखनी और उनका मान-भिक्षुक कुत्सित हृदय ही मूल हेतु हुआ है।

प्रिय पाठको ! श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन-मुनियों का तो यह कहना और करना है, कि हम लोग तो वाद-विवाद के वशीभूत हो कर न तो पारस्परिक कलह का बीजारोपण ही करना चाहते हैं और न जैन सिद्धान्तों से विरुद्ध आचरण करना ही हमें कभी सुहाता है। हम तो पग पग पर जैन-सिद्धान्तों की सारमयी प्रतिष्ठा को, अपने आचरण और जीवन की सांस सांस में देखना, तथा उसका व्यवहार करना चाहते हैं। अब हमारा तो सीधे रूप में यही कहना रह जाता है, कि आपकी आम्नाय के अमलदार आप बन रहें, और हमारी आम्नाय के अख्तियार में हम भी वैसे ही अपना अधिकार बनाये रक्खें। फिर इस नाहक के पारस्परिक वितण्डावाद में, सिवाय नुकसान्ती के नफा भी तो कोई नज़र नहीं आता। दूसरी ओर, सभ्य के साथ मिलजुल के रहने और काम करने ही में तो, अपने आश्रित जैन समुदाय की, व दोनों पक्षों की, पूर्ण रूप से आत्मोन्नति और आजादी का जीवन है। परन्तु यह एहलौकिक तथा पारलौकिक हित का मनसूबा, यह कदाग्रह, कुत्सित भावनाओं, कुयुक्ति, कलुषित मार्गों, आदि से कोसों दूर रहने वाला और कल्याण की कामना से भरा पूरा हमारा कथन, यह शान्ति, सभ्यता, शिष्टता, सौजन्य सुहृदता, और सिद्धान्त तथा सूत्र-सम्मत हमारा अनुभव जन्य अनुमोदन, हमारे उत्सूत्र भाषी अनन्त संसारी हिंसा के कट्टर हिमायती मिथ्या-प्रलापी जड़ोपासक, जिनाज्ञा के प्रतिकूल पीत-वसन-धारी और वायु-कायिक जीवों के संहारी भगवदाज्ञा के विरुद्ध आकर्णान्त दण्ड-धारी, मायाचारी, मिथ्यामार्गी अज्ञानानुयायी, और कदाचार के धारक दण्डी मणिसागर जी को पसन्द ही कब और क्यों आने लगा। इसी कारण से तो उन्होंने हांपते कांपते यह लिख मारा है कि—"यह कथन मध्यस्थ भावना का नहीं है, किन्तु मायाचारी का है।"

प्रिय पाठको ! श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन मुनियों का कथन तो मध्यस्थ भावना ही का है, किन्तु आप विवेकशील पाठकों को उक्त दण्डोजी ही के कथन में मायाचारी तथा ममता का मर्म दीख पड़ेगा। देखिए, क्या ही अदूरदर्शिता और अनसमझी की बातें हैं, कि जिनाज्ञा विहित सुन्दर धागे से युक्त मुखवस्त्रिका को मुंह पर बांधने की सनातन जैन-प्रणाली को तो, आप मिथ्या और थोथी बतला रहे हैं परन्तु इसके विरुद्ध, हाथ में मुंहपत्ति को रखने की, जो झूठी, दाम्भिक, शास्त्रप्रतिकूल, और आधुनिक प्रणाली है, उसे आप सच्ची और शास्त्रा नुमोदित बतला रहे हैं। वाहरी सचाई ! दण्डोजो ! क्या, यह अपनी दाम्भिकता को लोगों की भोली निगाहों से दूर रखने की शास्त्र विहित स म्मति है,या सचमुचमे यह, दिन-दहाड़े, दुनिया की आँखों में धूल झोकने और उसे दीन-हीन बनाने को दुःशील और दुर्गुण-भरा कोई दांव-पेंच है ? दण्डीजी ! अब तो अपने दण्ड और दण्डीपन की जरा लाज और बात रखिए ! अब भी सँभल जाने का काफी समय है। यदि सुबह का भूला भटका साँझ को भी घर का रास्ता पकड ले, तो भी उसे भूला भटका नहीं कहते। अतः दुराग्रह को छोड़ दीजिए ! आक्रान्त दण्ड को हाथों से देश निकाला दीजिए, और उसकी जगह वहां पवित्र जैनागम तथा सूत्रों को बैठाइए। पीत वसनों का परित्याग कर, श्वेत वस्त्रो को शरीर पर धारण कीजिए, जो आपकी देश की जल वायु, आपके धर्म और जीवन, तथा आपके आश्रम धर्म के सब प्रकार से अनुकूल है। और, पावन मुखवस्त्रिका को, जिसे आपने उचित स्थान और पद से भ्रष्ट कर, अपने हाथो में. उसके अधिकारों की हाथापाई करने, सौंप रक्खा है, पुनः उसके उचित स्थान, मुख पर बैठा कर. अपनी जबान की ज्यादती और जबर्दस्ती को रोकिए ! अन्यथा, जबान का जुल्म बेचारे को सहना पड़ता है। जैसे, किसी ने क्या ही अच्छा कहा है, कि :—

"वखान है तू बावली गावै भाग अँजास।
आप जु भीतर बैठवी, मूते साय कपास॥"

यह तो हुई यहाँ की बात, परलोक का पछतावा भी तो फिर मार्गों के पीछे प्रतिपल पड़ा ही रहता है। जब तो जिस प्रकार, बुटेरायजी, आत्मारामजी, मूलचन्दजी, वृद्धिचन्दजी, आदि दयिडयों ने मुख-वस्त्रिका को बाँधने तथा प्रमाणसम्मत जैन मुनियों के वेष, श्वेत वस्त्रों आदि का परित्याग करने, और जिनेश्वर भगवान् की आदर्श आज्ञा के विपरीत पीत वसन और आकर्णान्त दण्ड तथा मुंहपत्ति को हाथ में,

फकीरों के से वेप को अपनाने रूप उत्सूत्रों की प्ररूपना की और अनन्त संसार को बढ़ाया उसी भाँति आप भी उसे बढ़ाने में बरसाती नदी की भाँति आगे आगे बढ़ रहे हैं। अस्तु।

दयिडयो! हम एक बार फिर भी आपसे आग्रहपूर्वक, आपकी हितचिन्तना करते हुए यह कहे बिना न रहेंगे कि जिस प्रकार ऐसे उत्सूत्र प्ररूपक दयिडयों की दाम्भिकता से बचने के लिए, उनके चंगुल में से निकल निकल कर, आज सहस्रों सात्विक बुद्धि भावक, आदि कार्यों से, पीत वसन पहनने, मुखवस्त्रिका को हाथों में रखने, उनकी पालना करने आदि का परित्याग करते हुए, श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन मुनियों की शरण में आ, पुनः अपने सनातन जैन धर्म को, अपने असली रूप में जाना पहचाना है, आप आत्मार्थी दयडी लोग भी, कदाग्रह, कुत्सित भावनाएं, और कदाचार को छोड़ छाड़ कर उसी तरह करना अपना कर्तव्य समझिये। किन्तु ज्ञान के अभाव में पेट के प्रपंचवश और मिथ्या रूढ़ियों के मार्ग में पड़ कर, झूठे मार्ग का प्रचार और प्रसार आप कभी न कीजिए। इसी में आपका सच्चा अभि हित है। भगवान् जिनेन्द्रराय भव-रोग-दलित और यहाँ के आततायी

जनों की आत्मा को अपना वास्तविक रूप और उनके अपने ध्रुव धर्म को पहचानने की अप्रतिम शक्ति और शौर्य प्रदान करें।

ॐ सिद्धाः सिद्धिं मम दिसन्तु।

श्रावण कृष्णा ११
श्री वीराब्द २४५९
श्रीविक्रमाब्द १९८७

विनम्र,
लेखक

वन्दे वीरम् ।

इन्दौर शहर में मुँहपत्ति की चर्चा ।

अर्थात्—

पण्डितों की दयनीय हार और आगमानुसार मुंह ही पर मुखपत्ति को सर्वदा बांधने की सैद्धान्तिक सिद्धि ।

प्रेमी पाठको ! संवत् १९८१ विक्रमीय में, जैन जगत् के प्रसिद्ध वक्ता और पण्डित मुनि श्री चौथमलजी महाराज ने चातुर्मास उज्जैन में मनाया था। चातुर्मास की समाप्ति पर वहां से विहार कर आप देवास को पधारे। वहां आपकी दिव्य वाणी का घर घर और दर दर में एक सा समादर हुआ था। क्या हिन्दू और क्या जैन क्या मुसलमान और क्या पारसी और क्या अन्य धर्मी, सभी सज्जनों ने आपके अमर उपदेशों से उचित और आदर्श लाभ उठाया था। यही नहीं, देवास बड़ी पाँती और देवास छोटी पाँती दोनों स्टेटों के उदार और धर्म-पिपासु नरेशों ने भी कई बार मुनिराज के सदुपदेशों से अपने हृदयों को सुसंस्कृत किया था। यों राव से लेकर रंक तक सभी ने वहां मुनिराज के अमृतमय उपदेशों, प्रतिभासम्पन्न वक्तृत्वशक्ति और त्याग की भूरि भूरि प्रशंसा की थी। वहां से विहार कर आपने इन्दौर की ओर

अपना मुख मोड़ा। इन्दौर में पधारने पर, प्यासे चातक की भांति जैन और जैनेतर धर्मरत जनता ने आपका स्वागत किया। वहां बम्बई बाजार में सार्वजनिक उपदेश आपके होने लगे। सैकड़ों नर नारी, क्या जैन और जैनेतर सभी, समान रूप से, आपके उपदेशों के अचूक और हितकारक असर से मनोमुग्ध हो हो कर अपने मन की मलीनता को धोने लगे। सभी श्रोताओं ने मुक्त कण्ठ से आपकी प्रशंसा की। आपकी इस व्यापक प्रशंसा की ध्वनि, ईर्षालु हृदय, विघ्नप्रिय और विवादसन्तोषी दण्डी मणिसागरजी के कानों तक भी एक दिन जाकर पहुची। इस प्रशसा के प्रताप को सुन कर दण्डीजी का ईर्षालु हृदय द्वेषाग्नि से प्रज्ज्वलित हो उठा। पर वे बेचारे करते भी तो क्या, राज्य तो होलकर सरकार का था। वहां होलकर राज-दण्ड (राज-सत्ता) के आगे, आँपसे दण्डियों को पूछता ही कौन था! और फिर कोई सत्ता भी तो आपके पास नहीं थी। तब तो आप रात-दिन विचार-सागर में डूबे रहने लगे और चलते-फिरते, उठते-बैठते सदैव यही सोचने लगे कि, कोई एक ऐसा उपाय कहीं से हाथ लग जाय, जिससे कोई विघ्न खड़ा किया जा सके, और मुनि श्री की उठती हुई प्रशंसा मलीन बनाई जा सके। ऐसे समय के लिए नियति का यह सदैव का निर्धारित नियम काम करता रहता है, कि सत्पुरुषों की उस समय जैसी भी और जितनी भी परीक्षाए हो सकती हैं, उनसे उन्हे परखा जाय। और यों परीक्षा की कसौटी पर सच्चे उतरने पर उनके विमल और व्यापक यश को और भी अधिक विमल और व्यापक रूप में जगत् के सामने रक्खा जाय। विपरीत इसके, जो कलुषित-हृदय, कुतर्की और कदाचारी लोग ऐसे सत्पुरुषों के विपक्ष मे खड़े होते हैं, उनके पापों का प्रदर्शन ससार को करा दिया जाय, जिससे जगत् उनके कलंकित मुख को देख कर भविष्य के लिए सदा सजग बना रहे। नियति के इसी नियम के अनुसार, उस समय साहित्यप्रेमी पण्डित मुनि श्री

प्यारचन्दजी महाराज के द्वारा विरचित ' गुरु-गुण-महिमा ' नाम्नी पुस्तक प्रेस से बाहर निकली। धर्म प्रेमी जनता ने उसका समादर किया और उसने जन-साधारण में, उसका जितना भी अधिक से अधिक हो सकता था, अमूल्य वितरण द्वारा प्रचार और प्रसार करवा कर, गुरु गुण का गौरव और भी अधिक बढ़ा दिया। प्रस्तुत पुस्तक की एक प्रति दण्डीजी के हाथ भी पड़ी। तब तो आपकी त्यौरी बदली, आप अपने आपे में न रहे। कहना होगा कि प्रस्तुत पुस्तक में किसी के दिल को दुखाने की कोई भी बात नहीं थी, और न उसमें किसी का खण्डन मण्डन ही किया गया था, तिस पर भी दण्डीजी का दिल बेचारा दहल उठा। और उन्होंने अकारण तथा बिना सोच समझे ही ये आपत्तियाँ उठाई, कि—गुरु पर गुरुपत्ति बाँधते ही क्यों हैं? तथा इस पुस्तक में ऐसा उन्होंने लिखा ही क्यों?" आदि।

पाठकों! कहिए यह भी कहां का न्याय है। क्या, जगत में किसी के विचार-प्रदर्शन और उसकी बुद्धि पर किसी का शासन है? उन पर भी किसी ठिलुवे का ठेका है? कदापि नहीं! असम्भव!! निरा असम्भव!!! अपने अपने धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार, अपनी क्रियाओं को करने करवाने में प्रत्येक व्यक्ति बन्धन-मुक्त है, सबको समान और साधारण अधिकार है। तब तो इस नियम पर जगत् आ पहुँचता है, कि दूसरे के कार्मों में तनिक भी हाथापाई करना बाधा डालना, अनून मन दण्डनीय है। कदाचित्, दण्डीजीकी वकत-ने उत्त्व की ऐसी गैर क़ानूनी हरकतों को देख कर के ही न्यायी जैन समाज ने, सदा के लिए उनके हाथों दण्ड पकड़वा कर उन्हें दण्डित ठहराया है। यह तो यह, परन्तु दण्डीजी के उनके अपने पाप का प्रायश्चित्त बेचारे उनके चेले चाटियों को भी आज तक सहना पड़ रहा है। वाह! यह तो 'ले डूबता है एक पापी नाव को मँझधार में' वाला हिसाब हो गया! फिर ऐसे अनहोने आक्षेपों के उठाने से दण्डीजी ने अपने निरक्षर

भट्टाचार्य होने का परिचय भी तो संसार को करवा दिया। आपके इसी अज्ञान ने बेचारे दण्डीजी को द्वेषाग्नि में दे पटका। और जब उससे बचने का कोई भी उपाय आपको सूझ न पड़ा, तब 'गुरु-गुण-महिमा' ही की उक्तियो में से कुछ कथनों को खींच-खान कर उनका कतर-ब्योंत करना आपने शुरू किया। और इस कार्य में आपने अपने बचाव को देखा। परन्तु "ढोल के अन्दर पोल कब तक ठहर सकती है?" जब तक कि उसे बजाया न जाय। ठीक इसी प्रकार अब आपकी विद्वत्ता के जग-जाहिर होने का अवसर आया। विज्ञापनबाजी होने लगी। "युद्ध क्रुद्धयुत करि करैं, दरैं तरुन की खानि" अर्थात् दो हाथी तो क्रोश के वशीभूत हो कर युद्ध करते हैं, और चकनाचूर होता है, बेचारे छोटे छोटे वृक्षों का। इसी तरह दोनो ओर के धनी, मानी, ज्ञानी और धर्माभिमानी अनुयायी लोगों का धन, मान, ज्ञान और धर्माभिमान विज्ञापन-बाजी का आश्रय लेकर, वितण्डावाद के रूप में, पानी ज्यो प्रवाहित होने लगा। विज्ञापनबाजी का श्रीगणेश पहले दण्डीजी की ओर से हुआ। पहिले विज्ञापन का उत्तर, पर पक्ष की ओर से, उन्हे यो मिला—

॥ श्रीः ॥

दण्डी मणिसागरजी को सूचना।

पीताम्बरी दण्डी सुमतिसागरजी के शिष्य मणिसागरजी! तुम्हारा हैंड-बिल देखा। नीचे लिखे हुए तीन कारणों से प्रसिद्धवक्ता पण्डित मुनि श्री १००८ श्री चौथमलजी महाराज तुम्हारे साथ शास्त्रार्थ करना ठीक नहीं समझते।

(१) मुंहपत्ति शब्द का अर्थ हाथपत्ति नहीं है। उसी मुंहपत्ति की चर्चा कई बार अनेक विद्वानों के द्वारा हो कर, मुहपत्ति को मुख पर बांधना ही सिद्ध हो चुका है। जिनका कुल वृत्तान्त छप भी चुका है।

अगर जरूरत हो, तो देखा 'नाभा की मुंहपत्ति चर्चा','दयाजी दम्भ दर्पण' आदि पुस्तकें।

(२) शास्त्रार्थ करने के लिए मध्यस्थ तरीके से श्री संघ की जरूरत होती है। परन्तु तुम्हारे हैंड-बिल को देखने से श्रीसंघ का शरीक होना मालूम नहीं होता है। साथ में आप ही के अनुयायी, श्रीमान् रायबहादुर सुल्तानसिंह पत्रप्रास बहादुर हीराचन्दजी काठारी ने भी इस विषय में शास्त्रार्थ करने की मनाई की है। न आपका स्वभाव ही से विघ्न-सन्तापी बतलाया है। जैसे कि आप गत साल में भी यहां पधार कर आपके ही मतयायियों में द्वेष फैला गये हैं।

और (३) तुम्हारे साधुओं ने तुम्हारी ही सलाह से दौड़ कर, तुम्हारे आचार्य कृपाचन्द्रजी सूरि की बिना आज्ञा के, मुनि मानचौथमलजी महाराज का पल्ला पकड़, मल्हारगंज के आम रास्ते पर, मुंहपत्ती बांधन कर, जैन साधु नहीं होने का परिचय दिया है। तथा तुमने स्वतः हैंड-बिल में झूठी बात लिख कर अप्रामाणिकता की है। तुम्हारी इस दशा को देख कर यह समझा जाता है, कि तुम शास्त्रार्थ के योग्य नहीं हो। अत एव अपनी भूल सुधार कर सत्य मार्ग का ग्रहण करते हुए, अपनी आत्मा का कल्याण करो। —

नोट—तुमने जैसे झूठ आकर और हैंडबिल छपवा कर वितरण करवाया है, वैसे हमारे मुनिराज जैनागमानुसार साधुओं की प्रवृत्ति से नहीं कर सकते हैं। अतएव हमें तुम्हारे को यह उत्तर देना पड़ा है।

साथ में तुम्हारी तसल्ली के लिए हमारी ओर से तुम्हारे ही मान्य ग्रन्थों के पुरावे दिये जाते हैं। जिनसे साफ सिद्ध होता है, कि प्राचीन काल से जैन साधु मुंहपत्ति को मुख पर ही बांधते आये हैं। देखो तुम्हारे ही मान्य ग्रन्थ "महानिशीथ" सूत्र के सप्तम अध्ययन में प्रकट रूप से यह पाठ लिखा है —

"कन्नेट्ठियाये वा मुहणंतगेण वा विणा ।
इरियं परिक्कमे मिच्छुक्कडं पुरिमड्ढं वा ॥"

अस्य संस्कृतटीका—

"कर्णे स्थितया मुखपोतिकया इति विशेष्यं गम्यम् मुखान्तकेन वा विना ईर्य्या । प्रतिकामेत्त मिथ्या दुष्कृतम् पुरिमार्द्ध वा प्रायश्चित्तम् ।"

भावार्थ यह है, कि—

कान में घाली हुई मुखवस्त्रिका के बिना अथवा बिलकुल मुखान्तक (मुखवस्त्रिका) के बिना ईर्य्या परिक्रमण करे, तो मिथ्या दुष्कृत अथवा पुरिमार्द्ध प्रायश्चित्त का भागी होता है ।

साथ में जैनेतर ग्रन्थों में भी ऐसा लिखा है, कि ,जैन साधु वे ही हैं, जो मुख पर मुखवस्त्रिका धारण करते हैं, अर्थात् बाँधते हैं । देखो, प्रथमावृत्ति का "शिव-पुराण", अध्याय २१ वाँ, श्लोक २५ वाँ—

"हस्ते पात्रं दधानश्च, तुण्डे वस्त्रस्य धारकाः ।
मलिनान्येव वासांसि, धारयन्तोल्पभाषिणः ॥"

इसका भावार्थ यह है, कि—

हाथ में पात्र धारण करने वाले, मुख पर वस्त्र धारण करने वाले, मलीन वस्त्र धारण करने वाले, और कम बोलने वाले जैन साधु होते हैं ।

साथ में एक छोटा सा प्रमाण यह भी है, कि यहाँ विराजित तुम्हारे ही आचार्य कृपाचन्द्रजी सूरि व्याख्यान देते वक्त मुख पर मुखवस्त्रिका बांधते हैं ।

देखो, बड़े बड़े अंग्रेज़ विद्वान्, जिन्होंने कई जैन-शास्त्र देखे हैं, वे भी इस विषय पर क्या लिखते हैं :—

The religious of the world by Jphan Murdock L. L. D 1902, Page 128

The yati has to lead a life of continence he should wear a thin cloth over his mouth to prevent insects from flying into it"

अन्तिम नोट—अगर बिना तुम्हारे समस्त श्री संघ की आज्ञा के कोई और भी विज्ञापन छपाओगे, तो उस पर ध्यान न दिया जाकर तुम्हें झूठा समझा जायेगा, व उसका कोई उत्तर नहीं दिया जावेगा।
इति शुभम्। मिती पौष सुदी १५ सं० १९७९ विक्रमीय।

सूचक —
श्री श्वे० स्था० जैन मित्र-मण्डल, इन्दौर।
जैन-बन्धु-प्रिंटिंग प्रेस इन्दौर।

यों विज्ञापन प्रकाशित करवा कर यतीजी को सूचित किया कि यदि आपको कोई चर्चा ही करना है, तो आप अपने समाज की ओर से हानि लाभ का पत्र पहले, संघ से प्राप्त करलें तब उसे जाहिर भी करें। परन्तु वहाँ प्राप्त करने को था ही क्या जो बेचारे यतीजी संघ से प्राप्त करते और उसे प्रकाशित करते करवाते! संघ को आपने शामिल नहीं किया। तब तो "मौनं सम्मतिलक्षणं" के नाते आपकी पराजय भी जगत् के सन्मुख है ही।

इसके कुछ दिनों के बाद, जब कि यह मामला ढीला और शान्त पड़ गया, तब यतीजी की ओर से किसी सुरासदी टट्टू प्यारे लाल शर्मा ने एक विज्ञापन निकाला। उसमें भी, "उलटा चोर कोतवाल ही को डाँटे" वाली मिसाल का मामला हुआ। क्योंकि, यह तो उन्हीं के समाज के आदरणीय पुरुषों के द्वारा मर्म्म ही सिद्ध हो चुका है,

कि दण्डीजी अकारण ही विघ्न-सन्तोषी हैं। फिर वे इस बात की पर्वाह ही क्यों करने लगे, कि हमारे इस काम से समाज बदनाम होगा। समाज चाहे समस्त रूप से रसातल को चला जाय, उन्हें तो जैसे तैसे अपना नाम प्रसिद्धि में लाने से काम था। फिर गाली गलोज और विषयान्तर तो होने लगा दण्डीजो की ओर से, और दण्डीजी के दाहिने हाथ, मिस्टर प्यारेलाल शर्मा कहने लगे; कि ये सब बातें श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनों की ओर से हो रही हैं। इन समस्त बातों का सांगोपाग वर्णन करने का न तो हमें अवकाश ही है, और न यहाँ स्थान ही। किंतु हाँ, इतना कहे बिना भी हम न रहेंगे, कि शान्ति-भग, गाली-गलोज, और वितण्डावाद का 'ॐ नम. सिद्धम्' सब से प्रथम, किस ओर से हुआ? यह प्रश्न यदि कहीं हल करने का मौक़ा आवे तो, एक ओर तो अकेले प्यारेलाल शर्मा, और दूसरी ओर, इन्दौर की समस्त जैन व जैनतर नागरिक जनता। इन दोनों की साक्षी में, विद्वज्जन समाज दूसरे की साक्षी ही को प्रामाणिक, बहुमत के रूप से माननीय, और सच्चाई से भरी समझेंगे। समझेंगे ही नहीं, वरन् यह उन्हें पूरा पूरा निश्चय हो जायगा, कि शान्ति के मूल में कुठाराघात करने का सबसे प्रथम प्रयत्न, दण्डीजी की बुद्धि के दाहिने हाथ; प्यारेलाल शर्मा ही की ओर से हुआ। यदि उसके द्वारा लिखित, विज्ञापनों को विद्वज्जन ध्यान-पूर्वक पढ़ेंगे तो वे यह जाने बिना भी न रहेंगे, कि शर्माजी ने भङ्ग-भवानी की तरंगों में भटकते हुए, यत्र तत्र, जो कुछ भी मन में आया, लिख मारा है।

(१) दण्डीजी! प्रसिद्धवक्ता पण्डित मुनि श्री चौथमलजी महाराज की वक्तृत्व-शक्ति और विद्वत्ता है, तब ही तो उनने पब्लिक व्याख्यान देकर, जनता के सम्मुख, 'अहिंसा परमो धर्म.' की महत्ता को रक्खा है; और सदा सर्वत्र रखते रहते हैं। और यदि आप अपने को सर्वेसर्वा मानते हैं, तो क्या यह भी उन मुनिराज की प्रतिभा का ज्वलन्त

प्रमाण है कि आप सरीखे दयडधारी लोग तक भी, उनकी विद्वत्ता और प्रतिभा की स्पर्द्धा न करते हुए ईर्षावश अपराधों बन अमर्त्य सुनते रहते हैं।

(२) दयडीजी ! मुँहपत्ति का अर्थ मुँह पर हमेशा बँधा रहने वाला वस्त्र होता है। इसका विशेष खुलासा हमने इसी पुस्तक में अन्यत्र भली-भाँति कर दिया है। अतः यदि आप चाहें, तो वहां देख कर अपने दिल और दिमाग को दिलासा दे लीजिए।

(३) दयडीजी ! मोयुत रायबहादुर हीराचन्दजी कोठारी ने, आप की आम्नाय के होते हुए भी आप जैसे दयडधारियों से शास्त्रार्थ करने के लिए निषेध किया। उस पर भी तुम कहते हो कि उन्होंने वैसा नहीं कहा। यदि यही सच मान लिया जाय तो आपको अपनी सत्यता प्रकाशित करने के लिए उनका हस्ताक्षरी पत्र प्रकाशित करना चाहिए था।

दयडीजी ! श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनियों की ओर से जो विज्ञापन निकला है, जिसमें कि मुँहपत्ति को हमेशा मुँह ही पर बाँधनको, 'महानिशीथ सूत्र का मूल पाठ प्रमाण में दिया है वह बिलकुल सही और युक्ति-युक्त है इसका खुलासा यथा-स्थान पहिले किया जा चुका है। इस तरह शिवपुराण का प्रमाण भी मुँह पर ही मुँहपत्ति को बाँधना सिद्ध कर रहा है, न कि हाथ में। इसी प्रमाण अर्थात् शिवपुराण के आधार पर ही तो, श्रीमन्त नाभा नरेश ने फर्माया है, कि जैनियों के जो चिन्ह शिवपुराण में बताये गये हैं, वे चिन्ह श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन मुनियों में अक्षरशः पाये जाते हैं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि, मुँहपत्ति को सदा मुख पर ही बाँधना आवश्यक और धर्मानुकूल है।

दयडीजी ! श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनियों की ओर से जो विज्ञापन निकला, उसमें दयडीजी के गुरु, कृपाचन्द्रजी सूरि की व्याख्या

नादि के समय, अपने मुंह पर मुखपत्ति बांधते हैं, ऐसा लिखा था। इस के खण्डन मे दण्डीजी का लिखना है, कि "हमारे गुरुजी जो ऐसा करते हैं, वह ठीक है। क्योंकि, उसमें, उनका तो यही पवित्र उद्देश्य छिपा रहता है, कि व्याख्यानादि के समय की जो दुर्गन्ध नाक के रास्ते, शरीर में से निकलती है, वह आगम पर न गिरने पावे।" पाठको! देखा, किस तरह की अनुपम सूझ, दण्डीजी ने अपनी दीर्घ सूत्रता से खोज निकाली है! दुर्गन्ध निकलती है नाक से, और बाँधा जाता है, मुँह! यदि दण्डीजी ही के कथन को चन्द मिनिटों के लिए सच समझ लिया जाय, तो क्या यह न्याय का सरे आम क़तल करना और दुर्गन्ध का दिन दहाड़े दूना, चौगुना बढ़ाना नहीं है? फिर, नाक के साथ मुंह को भी बाधा जाता है। इससे भी दण्डीजी के कथनानुसार यह सिद्ध हो जाता है, कि नाक के मुक़ाबिले में मुँह बहुत बड़ा होता है, और तब मोरी जैसे मुँह से भी दुर्गन्ध अवश्य निकलती ही होगी।

पाठक! इसमें हमारा कोई अनुमान, अनुभव और सिद्धान्त न समझें। यह तो दण्डीजी ही की सूझ है, जो अपने गुरु तक के लिए, "दुर्गन्ध नाक से निकलती है" का प्रयोग कर रहे हैं। खैर, हमें इसमे कोई प्रयोजन और परिचय प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है। पर मणिसागरजी को भी उचित नहीं, कि वे ऐसे ऐसे चुनिन्दा शब्दों का उपयोग अपने गुरु के लिए करें।

दण्डीजी! जिनका हृदय ज्ञान के प्रकाश से ज़रा भी प्रकाशित है, वे तो तात्त्विक दृष्टि से, आचाराग सूत्र, विपाक, महानिशीथ, आवश्यक, भगवतीजी, आदि सूत्रों में। जहां भी कहीं देखेंगे, उनमें से किसी में भी, स्वयं सिद्ध सिद्धान्त की भांति, मुँहपत्ति को सदा मुंह पर ही बांधना उन्हें लिखा मिलेगा। किन्तु विपरीत इसके, उसे हाथ में रखने रखाने की चर्चा तक, किसी में देखना दुश्वार दीख पड़ेगा। यदि इनमें से किसी एक भी उपर्युक्त ग्रन्थ में मुँहपत्ति को हाथ में रखने के

प्रमाणों की पुष्टि तथा परिचय मिला होता, तो दयालजी शास्त्रार्थ करने के लिए, अवश्य ही संघ को सम्मिलित करते और संघ ही के मार्फत विज्ञापन का बीजारोपण करते। पर बेचारे दयालजी करते ही, तो क्या करते? क्योंकि उनके अपने बत्तीस सूत्रों में तो मुँहपत्ति को हाथ में रखने का, कहीं भूल-चूक भी तो उल्लेख नहीं है। फिर, चर्चा करने की हिम्मत के बिना संघ को भला दयालजी सम्मिलित भी तो कैसे और क्यों करते? तब उनके मार्फत विज्ञापन निकालना तो, बहुत ही दूर की बात रह जाती है। इससे सिद्ध हुआ, कि दयालजी स्वयं ही शास्त्रार्थ करने की टालमटूल कर रहे थे। और! केवल थोथे विज्ञापनों की ओट में, अपने बुद्धि-वैभव की विशेषता (?) जनता में प्रकट करते हुए, केवल बहानाबाज़ी कर रहे थे। मुँहपत्ति को मेरा मुँह ही पर बाँधे रहने के लिए, सूत्रों का प्रमाण ही पर्याप्त और स्पष्ट है। उसका उल्लेख ऊपर कर चुके हैं। और फिर चर्चा का पुष्टि में यदि किसी अनुभवी और सम्मान भाजन अमेय लेखक के मत को भी प्रकट कर दिया, तो इसमें कोई बुराई की बात नहीं है। क्योंकि आज का युग, उनके ऐसे अनेकों मतों तथा प्रमाणों को युक्ति-युक्त और आदरणीय मानता है।

दयालजी! श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन-जगत् तो, शास्त्रार्थ करने से कभी पीछे हटना जानता ही नहीं है। खुद आप ही ने परन्तु हिम्मत हो टालमटूल कर दिया नहीं तो पता रंग आ जाता और लोग भी आपके आत्मज्ञान्य दयल मारण करने से कुछ परिचय पा जाते। फिर शास्त्रार्थ जो हुआ करता है वह संघ की साक्षी ही से हुआ करता है। और वह भी जन साधारण के सम्मुख। यही उद्देश्य सामने रख कर संघ को शामिल और साथ में रखने की सूचना आपको दी गई थी। इस पर भी आपका यह कहना, कि "बाद में संघ को डालना। अन्याय है," हास्यजनक है।

पाठको ! इससे आपको यह तो भली प्रकार विदित हो ही गया होगा कि, दण्डीजी शास्त्रार्थ करने के लिए, बिलकुल एकान्त स्थान और अलग-अलग समय चाहते थे। परन्तु क्या इन दबे हुए शब्दों से, जनता आपके निरक्षर भट्टाचार्य होने के कारणों की खोज नहीं कर सकती है ? अजी जनाब ! जब शास्त्रार्थ ही करने चले हैं, तब फिर 'कुलड़ी में गुड़ फोड़ने' की कहावत क्यों कहलाने चलते हैं। खुले मैदान उतरिये और तब अपने दण्ड की करामात दिखाइए ! कहीं, केवल इश्तहारबाज़ी के कागज़ी घोड़ों से भी कोई मंजिले मकसूद पर पहुँचा है ? जनता को यों उभाडने का प्रयत्न करना तो केवल हौवे-कौवे के मानिन्द है। इससे होता ही क्या है ?

दण्डीजी ! पुस्तक आदि तो संघ की बिना जानकारी में भी छपाई जा सकती है। उसको छापने-छपवाने में तो संघ को सम्मिलित करने की कुछ भी आवश्यकता नहीं, परन्तु हां, जहा शास्त्रार्थ छिड़ता है, साक्षी के रूप मे वहां तो सघ की अनिवार्य आवश्यकता है। और संघ के बिना शास्त्रार्थ करना-करवाना न्याय-पद्धति भी तो नहीं है। इस-लिए सघ को सम्मिलित करने के लिए दण्डीजी को सूचना मात्र की थी, न कि शास्त्रार्थ करने के लिए श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनियों की ओर से कोई मनाई और टालमटूल की थी। इतने पर भी अपने अपने मन पर, अपना ही तो राज होता है, जो चाहे, सो खुशी खुशी समझा करे और अन्दर ही अन्दर फ़ैसला कर लिया करे।

दण्डीजी को संघ के समिलित करने की सूचना कर देने पर भी कुछ भी उचित, अनुचित उत्तर न देते हुए, वे केवल टालमटूल करते रहे। श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनियों को ओर से बड़ी ही बाट जोही गई, कि अब भी संघ के मार्फत, दण्डीजी चर्चा का आह्वान पत्र प्रकाशित करने की कृपा करेंगे। पर बेचारे दण्डीजी को कोई शास्त्रार्थ थोड़ा ही

करना था। वे तो "ऊंची दुकान के फीके पकवान" के माते, चले वे थोथी विज्ञापनबाजी करने और अपने घर में अपने आप ही विजेता बन कर वीर कहलाने। यह तो गीदड़ के रूप में शेर का बाना था। वीर कहलाने के बहाने, कायरता, कदाचार आदि को निमन्त्रण देकर बुलाना था। जब दण्डीजी की ओर से सच के मार्ग न तो कोई उत्तर आया और न उसकी भविष्य में आने की कोई आशा ही शेष रही तब फिर पण्डित मुनि श्री चौथमलजी महाराज ने शेष काल का कल्प समय पूरा हो जाने पर वहां से विहार किया। क्योंकि, जैन शास्त्र के अनुसार, वीर भगवान् शेष काल में एक माह से अधिक ठहरने की मनाई करते हैं। श्वे० स्था० जैन मुनि उसी आदर्श आज्ञा के अनुसार, अपने जीवन की प्रत्येक घड़ी को बिताया करते हैं। दण्डियों के महरा ने एक ही स्थान और एक ही गाँव में, बिना कल्प कभी नहीं बैठ रहते। यहां प्रसंगवश यह भी कह देना पड़ेगा, कि दण्डी लोग बिना कल्प ही एक स्थान और एक गांव में बैठे रहते हैं। उन्हें तो चाहिए माल-मसाले उड़ाने को! और सैर और सपाटे करने के लिए उनके कानों में मन मनायी हुए आवाज सदा सुनाई देती रहनी चाहिए। फिर, इस भव के इन उपयुक्त पुजारी पूरों के सामने, बेचारा कल्प तो है ही किस खेत की मूली! और भगवदाज्ञा के पालन करने में भी क्या पड़ा है!

पाठको! यों जब भगवदाज्ञा के अनुसार, पण्डित मुनि श्री चौथमलजी महाराज न वहां स विहार किया, तब आपने अपने विद्वान् सुशिष्यों में से (१) पण्डित मुनि श्री शंकरलालजी महाराज, तथा (२) साहित्य-प्रेमी पण्डित मुनि श्री प्यारचन्दजी महाराज इन दोनों सन्तवरों को कुछ काल के लिए यहीं ठहर रहने की इजाजत दी। साथ ही उन्हें यह भी आपने कहा, कि—"यदि दण्डीजी के द्वारा, संघ की सम्मिलित सहायता और सम्मति से कोई विज्ञापन निकले तो आप लोग यथासमय मुझे सूचित करदें; मैं दूर नहीं हूं। समय पर, दूर से

दूर होने पर भी, श्वे०स्था० जैन मुनियों के सिद्धान्तो का यथारूप पालन करते हुए, मैं यहाँ आया रहूँगा।" इस पर दोनों मुनिवरों ने उत्तर में अर्ज़ किया कि—यदि संघ को सम्मिलित कर और सघ के मार्फत दण्डीजी का कोई विज्ञापन प्रकाशित होगा, तो दण्डीजी से शास्त्रार्थ करने और उन्हें अपने सीधे मार्ग पर लाने के लिए, हम हीं लोग क़ाफ़ी हैं। और इसीलिए हम लोग यहाँ ठहरे रहेंगे। दूसरे, हमारे कल्प काल का समय भी अभी यथेष्टरूप से अवशेष है।

सज्जनो! देखी दण्डीजी की मायावी चाल? शास्त्रार्थ करने को कमर तो अवश्य कसना, पर संघ को न तो साथ ही रखना और न शामिल ही! बस, दण्डीजी के पास, अपना नाम बढ़ाने और शास्त्रार्थ करने से बाल बाल बचे रहने का, यही तो एक मात्र साधन था। दण्डीजी ने कुछ दिनों को बीच में ढील दे कर, अपनी उसी पहली चाल-ढाल के अनुसार, एक दूसरा विज्ञापन और निकाला। इस बार भी न तो संघ शामिल ही था, और न उसकी अनुमति ही इस काम में थी। तब तो इस थोथेपन में कुछ भी दम और दृढ़ता न देख कर, दोनो सन्तवरों ने वहा से कल्पकाल के बीतने पर विहार कर दिया। इसके कुछ ही काल के पश्चात भाई मनसुखलाल ने दण्डीजी के विपक्ष में एक विज्ञापन निकाला, जिसके कि द्वारा दण्डीजो से दश प्रश्न पूछे गये थ। वह इस प्रकार था:—

॥ श्री ॥

दण्डी मणिसागरजी की उद्दण्डता।

प्रिय पाठको! दण्डी मणिसागरजी के झूठे हैंड-बिलों से आप लोगों को ज्ञात हो ही चुका है, कि उक्त दण्डीजी केवल उद्दण्डता करने ही में, अपनी विद्वत्ता दिखलाना चाहते हैं। अतएव मैं भी उक्त दण्डीजी से निम्नलिखित कुछ प्रश्न करता हूँ। कृपया, वे जैनागमानुसार उनके सब उत्तर देकर, अपनी विद्वत्ता का परिचय दें।

(१) श्वेताम्बरी कहला कर पीले वस्त्र किस शास्त्र के अनुसार आप धारण करते हैं ?

(२) पूर्वियों का सरीखा काम तक लम्बा कपड़ा कौन से आगम के अनुसार आप रखते हैं ?

(३) आपके अन्य साधु लोग तो लोच करते हैं; परन्तु आप उस्तरे से बाल किस शास्त्र के अनुसार बनवाते हैं ?

(४) जैनी लोग तो साबुन तक का व्यापार करना पाप समझते हैं; परन्तु आप चरबी के द्वारा बना हुआ साबुन बहुतायत से वापरते हैं। यह हिंसात्मक कार्य करना आपके कौन से आगम में लिखा है ?

(५) जैन साधुओं की क्रियाओं को छोड़ कर दिन रात प्रेसों में मारे मारे फिरना, यह आपके कौनसे आगम के अनुसार है ? क्या आप पतित हैं, जो ऐसा करते हैं ?

(६) गृहस्थियों से हाथ-पैर दबवाना, बदन मलवाना पोस्टल टिकिट पास रखना, पार्सलें करना पार्सलें मँगवाना, व बाज़ार से खाने के पदार्थ मँगवा कर खाना, वग़ैरह वग़ैरह काम कौन से शास्त्र के अनुसार आप करते-करवाते हैं ?

(७) क्या रास्ते में दौड़ कर, बिना आज्ञा किसी के वस्त्र पकड़ना और झगड़ा पैदा करना, यह भी आपके आगमों में लिखा है ?

(८) मेरे स्वयं के देखने में आया है कि आपके पंच प्रतिक्रमण सूत्र के पृष्ठ ४८० पर जो सम्वत् १६४४ विक्रमीय में प्रकाशित हुआ है, लिखा है कि गोमूत्र आदि सर्व जाति के अमित्र मूत्रों का पीना। और कदाचित् इस के अनुसार आप ऐसा करते भी होंगे। तो क्या ऐसे पतित कार्यों को करना, आप अपने विचारों के द्वारा उचित समझते हैं, अथवा अनुचित ? दर्शाने की कृपा करें।

(९) एक ही गृह में साधु और साध्वियों का सम्मिलित हो कर रहना यह शास्त्र से विरुद्ध है। परन्तु आपके यहाँ यह अवश्य देखा गया है। यह उचित है, या अनुचित ?

(१०) शास्त्र में धातु पास रखना तक, जैन मुनियों के लिए, मना है। तब १टीन कैरट् गोल्ड निर्मित चश्मा, घडी, इत्यादि वस्तुएँ आप अपने पास रखते हैं न ? यह किस आगम की आज्ञा से ?

नोट—कृपा कर उक्त प्रश्नो का सुलभ तौर पर, आपके जैन धर्म में जो ३२ सूत्र मुख्य माने हैं, उनके मूल पाठ के अनुसार उत्तर देने की कृपा करें।

शहर इन्दौर
ता० १०-१-१९२३ ई०

आपका शुभाकांक्षी—
मनसुखलाल।"

इस प्रकार जब उपर्युक्त इश्तिहार निकाला गया, तब इसका वे सिर-पैर का जवाब देते हुए, दण्डीजी के परम भक्त या टका के टकटके अनुयायी, किसी प्यारेलाल शर्मा ने एक हैंडबिल छपवा कर जनता में वितरण करवाया। उसमें उपर्युक्त इश्तिहार के दश प्रश्नों का तो, भूल कर भी उत्तर नहीं दिया गया। विपरीत इसके, इधर उधर की थोथी बातों से उसका कलेवर, अन्त से इति तक रँग दिया गया।

पाठको! यदि दण्डीजी विद्वान् थे, विवेकी थे, विचारशील थे, और वीतरागी भगवान् के उपासक और अनुयायी अपने आपको गला फाड़ फाड कर, विज्ञापनों के द्वारा कहते थे, तो फिर भाई मनसुखलाल के दश प्रश्नों का उत्तर क्यों न आपने दिया ? आप भीगी बिल्ली की भाँति दुम दबा कर, मौन धारण क्यों कर बैठे ? क्या, आप निरक्षर थे ? और यदि सचमुच आप में निरक्षर थे, तो व्यर्थ ही विज्ञापनबाजी का सहारा पकड़ अपने ऐबों को क्यों जग-ज़ाहिर किया ? दण्डीजी! यों गाल बजाने और मार-मार कर मुसलमान बनाने के नाते, विज्ञापनबाज़ी करने ही से, कोई जगत् में विद्वान् थोड़े बना है ? विद्वान् बनने के लिए तो, जगत् में, विनय, शीलता, सच्चरित्रता, सच्छास्त्रानुशीलता, सन्त-समागम, विद्यानुराग और सब से अन्त में, परन्तु

सब से अधिक महत्तापूर्ण हृदय की शुद्धता, इन्हीं बातों की आप रखवता हुआ करती है। ढकोसलेबाजी से तो सत्यता विकासता असफ जाता है। "जैसे हाँडी काठ की, चढ़े न दूजी बार।" वाली कहावत यहाँ ठोक ठोक पड़ती है। फक्कड़करी के दिनों से बोली करनी पड़ती है। दयाबोसी! आपकी विद्वत्ता तो तब अग-जाहिर होती जब आप भाई मोहनलाल अग्रवाल की प्रार्थना पर ध्यान देकर, मैदान में उतर, जनता के सम्मुख अपने विचारों को रखते। पाठकों के अवलोकनार्थ, हम यहाँ भाई मोहनलाल अग्रवाल के निवेदन का भी जो दयाबीजी में किया गया था, अविकल उद्धृत किये देते हैं। वह यों था —

"॥ श्री ॥

श्रीमान् मणिसागरजी से निवेदन।

आपके विज्ञापनों को पढ़ कर ज्ञात होता है, कि शायद आप जैन-समाज में कोई पंडितराज होंगे। इन्दौर में जैन धर्म के पंडितों का आना बहुत कम होता है। शायद आपको ज्ञात भी होगा, कि कुछ ही दिन पहले यहाँ श्रीमान् प्रसिद्धवक्ता मुनि श्री चौथमलजी महाराज पधारे थे। जिनने भी यहाँ कई दिनों तक पब्लिक व्याख्यान देकर, जैन-धर्म के प्रबल सिद्धान्त 'अहिंसा परमो धर्मः' के भाव हजारों जनता के हृदयों में भर दिये हैं। उनके यहाँ से पधारने के बाद, जैन-धर्म के किसी विद्वान् का व्याख्यान यहाँ नहीं हुआ है। अब एक आपसे निवेदन व आग्रह है, कि कृपा कर आप भी अपने पाँच चार पब्लिक व्याख्यान यहाँ फरमावें। ताकि इन्दौर की जनता के सामने, आप सन्त के मुँह से प्रशंसित भिन्न विद्वत्ता का परिचय प्राप्त हो।

मोहनलाल अग्रवाल।"

दयाबीजी की सेवा में वह निवेदन-पत्र भेजा गया। तब भी आप ने मैदान में आकर पब्लिक व्याख्यान देने के लिए कमर नहीं कसी।

कमर भला कसते भी तो कैसे ? कमर भी कहीं कभी दूसरों के बल और विद्वत्ता, तथा बुद्धि पर कसी जाती है ? कदापि नहीं। दण्डीजी में यदि सचमुच विद्वत्ता होती तो वे ऐसे अकारण और सम्मान-प्रद सुवर्ण-योग को कभी हाथ से न जाने देते ? पर दण्डीजी तो वेचारे, इस थोथी और क्लेश-वर्द्धक, तथा श्रम, शक्ति, और समय-नाशक इश्तिहारबाजी ही से विद्वान् कहलाने की बाज़ी मार लेना चाहते थे, वे व्याख्यानादि के झगड़ों में पड कर अपनी विद्वत्ता का भडाफोड़ कराने ही क्यों लगते ? अन्त में जनता ने आपके सच्चे और वास्तविक मूल्य को समझा। गाँव में घर घर और दर दर, चारों ओर आपके प्रति निन्दा और घृणा के नारे लगने लगे। जीवन की वे घड़ियाँ, विद्वान् बनने की डींग मारने वाले, दण्डीजी के लिए सचमुच में मरण से भी बेहतर थीं। अच्छा होता, कि ऐसे समय जब कि दण्डीजी चुप्पी साध कर बैठ रहे, उनके दाहिने हाथ और हितेच्छुक हिमायती, प्यारेलाल शर्मा की ओर से तो तब भाई मनसुखलाल और मोहनलाल अग्रवाल के विज्ञापनों का उचित उत्तर दे दिया जाता। और जो जवाब दिया भी गया, वह केवल थोथा हैंड-बिल मात्र था। उससे उलटी तुच्छता प्रतीत हुई।

जब दण्डीजी की ओर से, भाई मनसुखलाल के दश प्रश्नों का जवाब कुछ न मिलते हुए, ऊटपटाँग विवाद भरा हैंड-बिल प्रकाशित हुआ, तब तो प्रश्नकर्ता भाई मनसुखलाल ने पुनः इस प्रकार हैंड बिल निकाला—

"योग्य परिचय"

एक भूतनाथ, दूसरे प्रेतनाथ।

लो, जैसे गुरु वैसे उनके आश्रय-पालक ! कही खेत की और सुनी खलियान की। वाहजी ! आपकी उत्तर-पत्रिका ! धन्य है, आपको

और आपकी बुद्धि को! बस, इसी में आप अपने गुरु के साथ, योग्य बन कर *जगत् में आडम्बरी माला फिरा रहे हो!*

पहले आप अपने सु-इच्छा के मार्ग से यह तो जान सा, कि हमने तो आपके योग्य, उत्तर देने के प्रश्नों को छाप कर भेजा। जो उनका उत्तर देना तो एक ही तरफ रहा; और कुछ के कुछ गीत गाने लगे। यह भी आपका क्या हो स्वच्छ मत है। जो कविता उलट कर आप ही पर लागू होती है, उस दूसरों पर उँडेल रहे हो, और ऐसे भले कवि को कलंक लगा कर, मक्खों को आड़ से सुर सुरे बन रहे हो? यह कितना लाञ्छनीय कार्य है!

हमने जिन प्रश्नों को छाप कर आपको दिया है उन प्रश्नों का पहले आप अपनी धर्म-पुस्तकों में देखिए। जो लिखा है, वास्तव में वह ठीक है, या नहीं इसका विचार करने के उपरान्त आप उत्तर देते तो ठीक समझा जाता। अंट-संट बकवाद लिखने से आपकी बात का कोई मान नहीं मिल सकता। इससे तो आप अपने सुदृढ़ हार बैठे हो, और अपनी चालाकियों का साबित कर रहे हो कि ज़रूर ही हम अन्ध-श्रद्धालु हैं।

दूसरे, आपने लिखा कि 'छापने वाले का पता तक इस पर नहीं।" यह लिख कर, हमारी समझ में तो आप दोनों चक्षुओं के रहते हुए भी सूरदास की उपाधि ग्रहण कर रहे हैं। क्या, उस पत्रिका में 'सही' नहीं थी? क्या, यह छापेखाने से नहीं छपी? फिर आप किस कारण अपनी खासी बहरदता प्रकट कर रहे हैं?

कृपा करके जो धार्मिक सम्भाषण चल रहा है, उसी को आप हल कीजिए। और, ऐसे बेतुके ग़ैर-सिलसिले व्यवहार से क्यों पेश आ रहे हैं?

आशा है, आप से यदि हमारे प्रश्नों का उत्तर देना न बन पड़े, और यदि आप उत्तर देने के योग्य न हों तो इतना तो भी करें, कि

अपनी गलतियाँ ही स्वीकार कर लें। परन्तु ऐसा न कहे, कि "चित्त तो पड़े हैं; पर नाक तो ऊपर ही है।"

श्रेष्ठ कविता—

अम्मा हमने मल्ल पछाड़ा. ऊपर से पटका धम्म।
वह शरमिन्दा जमीन देखे, आकाश देखें हम्म॥

शहर इन्दौर,
ता० १६।१।२३ ई० } मनसुखलाल गुप्त।"

इतना सब कहने-सुनने तथा प्रार्थना करने और समझाने-बुझाने पर, और उपर्युक्त हैंडबिल निकालने पर भी, जब पूछे हुए दश प्रश्नो में से किसी एक तक का भी उत्तर न मिला, और तब तक भी केवल, शास्त्रार्थ करो, शास्त्रार्थ करो, ही की ध्वनि दण्डीजी की ओर से सुनाई पड़ती रही, और ऊपर से, दण्डीजी, केवल विज्ञापनों के द्वारा ही, दबे छुपे अपनी विद्वत्ता की डींग मारने की डौंड़ी पीटते रहे, तब तो शान्ति-प्रिय श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनियों की ओर से, शास्त्रार्थ करने के लिए "चर्चा का चैलेंज" नामक विज्ञापन छपवा कर जन-साधारण में वितरण करवाया गया। वह यों था,—

चर्चा का चैलेंज।

("जैन-पथ-प्रदर्शक, आगरा" वर्ष ५, अंक १४,
मिति माघ कृष्णा ९ सं० १९७९ विक्रमीय)

'हमें विश्वस्त सूत्र से पता लगा है, कि इन्दौर मे, जो श्रीमान् चौथमलजी महाराज का प्रभावशाली उपदेश हो रहा है, वह कितने ही लोभी, लालची और टुकड़ों के मुहताजों को, तथा जैन-धर्म-द्रोहियो ही को नहीं, वरन् देश-द्रोहियो को भी सहन नहीं हो सका है। और वे तरह तरहके विज्ञापन निकाल रहे हैं। उन विज्ञापनो में से हमारे पास भी (१) एक, किसी हजारीमल ओसवाल, (२) दूसरा. किसी प्यारेलाल शर्मा

और (३) तीसरा नामधारी किसी मुनि मणिसागर के नाम से छपा हुआ, इस तरह तीन विज्ञापन आये हैं। उनमें "अपना नाँटे रेवड़ी और फिर फिर आपहिं देय" की कहावत के अनुसार, अपनी विद्वत्ता और पवित्रता के आगे दूसरों को हेच बतलाया गया है। अस्तु। हमारी राय में तो श्रीसंघ इन्दौर को इस ओर ध्यान ही नहीं देना चाहिए। क्योंकि किसी ने कहा है —

> क्या श्वान शब्द पर ध्यान गजेन्द्र लगावे।
> कविराज आप क चरित न जाने जावे॥

और जिन लोगों की ख्वाहिश शास्त्रार्थ करने की हो उनको हम सूचना देते हैं, कि शास्त्रार्थ के लिए हम कब दूर हटते हैं। यदि तुम्हें शास्त्रार्थ करना मंजूर हो तो अपनी सम्प्रदाय के किन्हीं विद्वानों को तैयार करो। हम हर समय तैयार बैठे हैं। लेकिन तुम्हारे ऐसी जो अपवित्र आत्माएँ हैं, उनसे हमारी पवित्र आत्माएँ नहीं मिलेंगीं।

प्रकाशक।"

C I M O P

इस प्रकार का विज्ञापन निकलने पर, दण्डोजी का अनुयायी सूरजमल नाहटा भड़का। वह लोगों को भ्रम में डालने लगा। इतना ही नहीं, मिथ्या बातों से पूरित एक हैंड-बिल भी उसने निकाला। उसके उत्तर में श्वेताम्बरी स्थानकवासी जैनियों की ओर से निम्नलिखित रूप से उत्तर दिया गया। और सर्व साधारण में भी वह वितरण कर बाया गया—

"खरतरगच्छीय दण्डी मणिसागर व उनके अन्य श्रद्धालु भक्त

सूरजमल नाहटा को सूचना।

आपके उक्त विज्ञापन में, प्रसिद्धवक्ता मुनि श्री चौथमलजी महाराज के भक्तों से चर्चा का आमन्त्रण दिया, यह लिखा है। सो म तो

आप जैसी अपवित्र आत्माओं को चर्चा का आमन्त्रण ही दिया है, और न वे आप जैसे अयोग्यों से किसी प्रकार की कोई चर्चा ही करना चाहते हैं।

चर्चा का चैलेंज इन्दौर के किसी एक गृहस्थ का नहीं है। परन्तु वह किस का है, यह आप आँख खोल कर देखेंगे, तो मालूम हो जायगा। अगर आपको जो चर्चा करवानी ही हो, तो पहले अपने समाज के विद्वानों को तैयार करके, 'चर्चा का चैलेंज'—दाता से पत्र व्यवहार कीजिए। पत्र-व्यवहार करने से चैलेंज-दाता की "बाललीला" का भी अनुभव जन-साधारण को हो जायगा। अपने आप मियां-मिट्ठू बनने से हार-जीत का पता नहीं लग सकता।

मुँहपत्ति के बारे मे शास्त्रार्थ पूर्णतया हो चुका है। और आपके पीताम्बरी साधु हार भी चुके हैं। जिसका कुल व्यौरा नाभा से प्रकाशित 'मुँहपत्ति-चर्चा' नाम की पुस्तक में छप चुका है। यह बात आप को पहले के विज्ञापन में हम दे चुके हैं। आपके साधुओ की प्रतिज्ञा तो उसी वक्त भंग हो चुकी है। फिर आप ऊँचा शिर उठाने की हिम्मत क्यों करते हैं, यह मालूम नहीं होता।

चर्चा के चैलेंज से तो सुज्ञ पाठक सोच सकते हैं। तथा उससे साफ़ प्रकट है, कि लेखक ने लोभी, लालची, टुकड़ों के मुहताज, जैन-धर्मद्रोही, व देशद्रोही, आदि, आपको तथा आपके झूँठे विज्ञापन-दाताओं ही को बताया है, न कि इन्दौर-निवासी आपके और अन्य समाज के लोगों को। लेकिन यह आपकी धूर्तता है, जो ऐसी निर्मूल बातें लिख कर दूसरे के हृदयों को भी बहकाते हैं। परन्तु यह आप विश्वास रक्खें, कि अब जनता ऐसे धूर्त लेखो व लेखको के धोखे मे नहीं आ सकती।

मुँहपत्ति विषयक आपके कपोल-कल्पित दोषों का प्रतिवाद कई बार कर दिया गया है। तिस पर भी शास्त्रों से अनभिज्ञ होने के कारण,

आपकी अज्ञानता दूर नहीं हुई। यह आपके ज्ञानावरणी कर्मों का फल है। एक बार और प्रयत्न करके निम्नलिखित पुस्तकों का अवलोकन आप करें, ताकि शायद इस बार आपका भ्रम दूर हो जाय। 'मिथ्यात्व निकन्दन-भास्कर', 'दयाली-दम्भ-दर्पण, 'ज्ञान-दीपिका, आदि।

आपने लिखा, कि मुँहपत्ति विषयक विवाद अनेकों वक्त, चलता है। परन्तु निर्णय होता नहीं। इसलिए हमेशा का बखेड़ा मिटाने के वास्ते, इन्दौर शहर में इस बात का पूरा पूरा निर्णय, अवश्य होना चाहिए। मुँहपत्ति विषयक निर्णय तो जैन-शास्त्रों से साफ ही है। परन्तु आप असली व प्राचीन जैन शास्त्रों से अनभिज्ञ हैं। इसलिए ही आप सरीखे आत्माओं के द्वारा, ऐसे वितण्डावाद और व्यर्थ के विवाद खड़े होते हैं। अतः पहले श्वेताम्बर जैन ग्रन्थों को प्राप्त कर पढ़िए देखिए। व फिर भी समाधान नहीं हो तो समस्त भारतीय (आल इण्डिया) पीताम्बरी दण्डियों तथा उनके अनुयायियों के द्वारा प्रतिनिधि चुने जा कर, उनके हस्ताक्षर प्रकट कीजिए, ताकि पीछे से यह मानने में कोई उजू नहीं होगा, कि आपकी हार-जीत का निर्णय, सर्व मान्य होगा। क्योंकि, हमें शक है, कि आपकी मान्यता आपके गच्छ में है, या नहीं।

नोट—जब तक आँल इण्डिया के पीताम्बरी दण्डी व उनके अनुयायी आपको प्रतिनिधि न चुन लें तब तक आप का वाद, विवाद के लिए उत्सुक होना व्यर्थ है।

हस्तीमल। रामलाल मारू

बोरा—सराफा

इन्दौर सिटी"

दण्डीजी को समय समय पर कई बार सूचना दी गई थी, कि संघ की सम्मति और उसके द्वारा विज्ञापन शास्त्रार्थ का आप निकालिए। श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन शास्त्रार्थ करने के लिए बिलकुल

तैयार हैं। तथापि, दण्डीजी ने इस बात को पहले तो टालमटूल किया। फिर जान पड़ता है, बिलकुल भुला ही दिया। अब तो बिना ही संघ की सम्मति और सहानुभूति के तथा बिना ही उनके मार्फत चौथा विज्ञापन भी निकल गया। उसमें दण्डीजी ने अपने दम-भर पवित्र और योग्य बनने की चेष्टा की। पर यह काठ की हाँडी एक बार पहले परखी जा चुकी थी। जनता ने इसे अब किसी भी रूप में अपने सामने देख कर, दुबारा चढ़ाने की चर्चा तक न की। जनता आपकी योग्यता को पहले ही देख चुकी थी। वह, अनुमान, अनुभव, अवसर के अधिकारों, आदि से आपकी योग्यता को अच्छी तरह आँक चुकी थी। जिस समय भाई मनसुखलाल ने दण्डियों के घृणित कार्यों की आलोचना की थी, आलोचना ही क्यों, सप्रमाण आलोचना की थी, समय तो तब था, जब कि आप अपनी विद्वत्ता के द्वारा, उसका उचित उत्तर देकर, अपनी पवित्रता जगत् के सम्मुख रखते। उत्तर दिये बिना ही आपको उस समय नगर छोड़ कर, भाग न निकलना था। क्या, उस दिन की बात को आप भूल गये? जो साहस करके फिर सामने आ रहे हैं। ज़रा याद रखिए, "मानो हि महता धनम्" अर्थात् बड़ों का धन तो वास्तव में मान ही होता है। फिर, यदि आप कह पड़ेंगे, कि हम तो साधु हैं, हमें मान-अभिमान, राग-द्वेष, आदि द्वन्द्वों से कैसा सम्बन्ध? तब तो हम आपसे यह पूछे भी कदापि न रहेंगे, कि क्या आपको अपनी साधुता का भी अभिमान नहीं है? आपकी उस साधुता में, क्या खुद आप तक को भी कोई सन्देह है? तब तो फिर आप अपने ही मुख के न्याय से, अपनी पूर्ण रूप से हार स्वीकार किये लेते हैं, आपसे चर्चा करने की हमारी, हमारी ही क्या, किसी की भी कोई नाम तक की भी ज़रूरत नहीं रह जाती है। अस्तु।

दण्डीजी! आपने अपने ग्रन्थों में मूत तक पीना अंगीकार किया है। और वह भी अनिष्ट तथा निकृष्ट जातियों के जीवों तक का।

धर्मान्धता की हद हो चुकी। ऐसे ही कारणों से तो, आप सरीखे नाम दुर्विदग्ध लोग जैन धर्म को धराधाम से धक्का मार मार कर उठा रहे हैं; और ओसवाल जाति को, लीपा-पोती अवनति-गह्वर में, ढकेल रहे हैं। फिर इस धर्म को तथा ओसवाल जाति को-दूषित करना तो आपके सरीखे प्रतिभासम्पन्न (!) पुरुषों के बाँये हाथ का खेल है। दण्डीजी! ऐसे भद्दा कदाचार को छोड़िये! अपनी ऐसी ऐसी काली करतूतों से, जिनेश्वर भगवान् और उनकी दिव्य वाणी को प्रमाण रूप में, पाठ्य स्वर और अर्थान्तर के रूप में जनता के सम्मुख रखते हुए, गंदली करने का गर्हणीय रूप और प्रयत्न, न कीजिए। अपने व्यवहार में विशुद्धता लाइए। पीले वसनों को, किस आगम की आज्ञानुसार, और प्रमाण को पास रखते हुए आप पहनते हैं या तो इस को आप साबित कीजिए या नहीं तो स्वयं इन्हें उतार फेंकिये। वास्तव में ये योग्यता और अयोग्यता को, जगत् को जनाने की रीतियाँ हैं।

दण्डीजी को डंके की चोट कहा गया था कि यदि सचमुच ही आपको चलानी अभीष्ट है तो अपने सम्प्रदाय में से आप पहले किसी विद्वान् और योग्य तथा अनुभवी व्यक्ती को, जो अग्रसर हो शास्त्रार्थ के लिए, तैयार कीजिए। जब यह तैयारी होजाय, तब संघ की सम्मति और सहानुभूति से उसे साथ रखते हुए, विज्ञापन निकालिये। परन्तु दण्डीजी ने इसमें से कोई एक काम करना भी स्वीकार नहीं किया। संसार में जो भी कुछ स्वार्थी काम नजर आता है, उसकी जड़ में, कर्ता का अमर आत्मिक बल ही काम कर रहा है। पशु-बल (शरीर-बल) की पूजा, केवल पशु नामधारी लोगों ही में हुआ करती है। अन्त में, एक न एक दिन उसे पछाड़ अवश्य खानी पड़ती है। इसी सिद्धान्त के अनुसार दण्डीजी में आत्मिक-बल का तो अभाव था ही। उनके हृदय में तो, बिना आत्मिक-बल को अर्जित किये ही शास्त्रार्थ करने की ओट में, विज्ञापनबाजी करने-करवाने के पशुबल से नाम कमाने की लगन लगी

हुई थी। परन्तु पशुबल से भी कहीं ऐसी ऊँची इच्छाएँ कभी पूरी हुई हैं? असम्भव! अतः कहना होगा, कि दण्डीजी को बताये गये हमारे कामों में से, किसी की भी पूर्ति का श्रीगणेश तक न होने पर, दण्डीजी के हाथ में जो मुँहपत्ति को रखने की प्रथा है, वह सप्रमाण और प्रत्यक्ष झूँठी साबित हो जाती है। और तब यही कहना रह जाता है, कि मुँह-पत्ति को उसकी व्युत्पत्ति के अनुसार, जो मुँह पर बाँधने की प्राचीन, प्रामाणिक और सर्व-मान्य प्रथा है, वही सैद्धान्तिक रूप से सच्ची और सौटंची सुवर्ण के समान मूल्यवान् भी है।

देखिए दण्डियों का मिथ्या-प्रलाप!

प्रेमी पाठको! नाभाशहर में, श्वेताम्बरी स्थानकवासी जैनियों की तथा दण्डियों और उनके अनुयायियों में जो गरमागरम चर्चा हुई थी, और उसमें प्रथम पक्ष के लोगों की, अर्थात् श्वेताम्बरी स्थानकवासी जैनियों की जो जीत हुई थी, उसका फ़ैसला, ज्येष्ठ सुदी ५ संवत् १९६१ विक्रमीय को सुनाया गया था। और उसे उसी दिन, गुरुमुखी लिपि और भाषा में, दुर्गा प्रेस में छपवा कर, श्रीमन्त नाभापति महाराज ने, प्रकाशित करवा दिया था। इस फ़ैसले को दण्डियों के विरुद्ध समझ कर इनके एक प्रसिद्ध पत्र-प्रकाशक ने भी महाराजा नाभा को अंट-शंट शब्द अपने पत्र में लिख कर उस फ़ैसले की और भी पुष्टी कर दी है जिससे आबाल-वृद्ध सभी जन-साधारण परिचित होंगे।

जब दण्डी लोगों को अपनी पराजय हुई जान पड़ी, तब भी वे लोग, "चित्त पड़े तो भी नाक हमारी ऊपर ही है" के नाते दूसरा नया फ़ैसला तैयार करवाने की, जिस तरह से भी बन पड़ा भगीरथ प्रयत्न, श्रम, समय, शक्ति और सम्पत्ति को, अपने अधीन रख, तथा अपने हाथों उन्हें ले, जुट पड़े। प्रथम चर्चा होने के अठारह उन्नीस मास के पश्चात्, जैसे-तैसे नया फ़ैसला तैयार करवा कर प्रकाशित करवाया गया। परन्तु दण्डियों की दौड़ यहाँ भी बेकार सिद्ध हुई। क्योंकि, यह

दूसरा फ़ैसला भी तो बेचारे दण्डियों के विपरीत ही दिया था। ढूंढ़ीजी यदि हमारे कथन में आपको विश्वास न हो, तो "नाभा-शास्त्रार्थ" और "पीताम्बरी-पराजय" आदि पुस्तकों में क्या लिखा है, ज़रा आँखें खोल कर देख लीजिए। उसका संक्षिप्त विवरण यों है —

नाभा—मु—ह—प—त्ति प—र्चा।

"श्रीयुत वल्लभ-विजयजी महाराज को, चर्चा के लिए, श्रीमन्त नाभा-नरेश ने, आमन्त्रित किया है। दण्डियों ने इस प्रकार प्रकाशित करवाया है, वह बिलकुल थोथा और असत्य तथा सार हीन है। बात इसके विरुद्ध यह असल यह थी, कि वल्लभ विजयजी ने चर्चा के लिए श्रीयुत नाभा-नरेश के सम्मुख आकर स्वयं प्रार्थना की थी। नरनाथ उनकी प्रार्थना को स्वीकार तो नहीं कर रहे थे और कई बार इन्कार भी कर दिया था परन्तु अन्त में अत्याग्रह के कारण उन्हें उसे स्वीकार कर लेनी पड़ी। मध्यस्थ के रूप सात पण्डित मुकर्रर हुए। वल्लभविजय श्री और उदयचन्द्रजी ने चर्चा आरम्भ की खासा वादानुवाद हुआ। अन्त में, नाभा-नरेश ने मध्यस्थों की, सम्मति और सहानुभूति से मिति ज्येष्ठ शुक्ल ५ के रोज़, श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनियों की जीत के पक्ष में नीचे लिखे अनुसार फ़ैसला दिया:—

"शिवपुराण में जो कुछ जैन धर्म के बारे में मीमांसा की गई है, वह ढूँढ़ियों के मतानुसार है, और उदयचन्द्रजी महाराज ने जो शास्त्रार्थ किया, वह यथार्थ है। शिवपुराण में जैनियों के जो चिन्ह लिखे हैं वे सब के सब इस समय ढूँढ़िये साधुओं में पाये जाते हैं।" यह फ़ैसला गुरु-मुखी लिपि और भाषा में था। जो नाभा-नरेश के द्वारा, दोनों पक्षों के मध्यस्थों और साधुओं के सम्मुख समझाया गया था।

फ़ैसला देने की रीति भी तो यही है। कैसा ही फ़ैसला क्यों न हो वह दोनों पक्षों या उनके मध्यस्थों के सम्मुख ही समझाया गया

होना चाहिए। फैसला, एक पक्ष की मौजूदगी मे, फिर चाहे दोनों पक्षो के मध्यस्थ चाहे हो ही नहीं, कभी गुपचुप किसी के पास नहीं भेजा जाता। जैसे कि यहाँ पर, जिस नये फैसले की चर्चा हमारे दण्डी लोग अकसर किया करते हैं, वह तो गुपचुप, और वह भी तब, जब कि दोनों पक्ष के कोई भी मध्यस्थ मौजूद नहीं थे, वल्लभविजय के नाम भेजा गया था। पर पाठको! जहाँ ये दण्डधारी और उनके अन्ध श्रद्धालु भक्त लोग इस नये फैसले की बात को उठाते हैं, वहाँ वह फैसला किसी चर्चा-विषयक नहीं था। क्योंकि, दुबारा तो नाभा में कोई चर्चा हुई ही नहीं। दुबारा न तो किसी पक्ष वालो ही को, बुलाया गया। न सवाल जवाब ही किसी ने किसी के सम्मुख कही माँगे। फिर, फैसला किस बात का? जिस बात की जड़-मूल तक नहीं, जिसका पाने में और पोथा मे कहीं नाम तक नहीं पाया जाता, उसे ये हिये के अन्धे और बुद्धि के दिवालिया लोग शास्त्रार्थ के नाम से पुकारें, और लल्लो-पत्तो से पाये गये दुबारा के गुपचुप के पत्र को फैसला कहें। गजब का इनका साहस और साधु-धर्म है! मूल के विना शाखा और फल-फूल?. सात मध्यस्थों में से केवल तीन ही मध्यस्थ और दूसरे विराने नये मनुष्यों के हस्ताक्षर का नया फैसला, फैसला नहीं, खुशामद-पत्र, लगभग विगत अठारह माह को गिडगिड़ाहट और चाटुकारी से विवश हो कर, तथा ऐसे नामधारी साधुओं से अपना पिण्ड- छुड़ाने के लिए, सिर्फ वल्लभविजयजी के नाम गुपचुप लिख भेजा, गया। इसमें न तो नाभा-नरेश ही के कहीं दस्तखत हैं, और न सातो मध्यस्थ लोगों ही की सही का कहीं पता है। इससे यह, या तो एक प्रत्यक्ष बनावटी पत्र, जिसने फैसले का नाम धारण किया, हो सकता है, या जिन तीन सज्जनों के हस्ताक्षर उस पर पाये जाते हैं, उन्हें भला-बुरा, ऊँचा-नीचा समझा-बुझा के, या किसी प्रकार का लालच प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से देकर के, उनसे लिखा लिया गया हो, ऐसा साफ साफ प्रतीत होता है। पक्ष-

पवित्र-हृदय, किन्तु मूर्ख कहलाने वाले, एक बालक को भी इस में सन्देह हो सकता है।

वाद-विवाद का अर्थ में ये चन्द मिनिटों के लिए यह मान भी लें, कि वह दुबारा प्राप्त किया हुआ फैसला सचा है। तो भी अन्त में तो वल्लभ-विजयजी ही की पराजय विवश हो कर माननी पड़ती है। पाठक यदि देखना चाहें तो देख सकते हैं, कि सात सभ्यों में से, जो पहले के थे, चार तो इस बार, भिन्न मत होने के कारण या उन्हें ज्ञान न होने देने के कारण, इस फैसले में शामिल ही नहीं हो पाये। शेष तीन रहे। फिर, मत (Votes) की अधिकता या न्यूनता ही पर, किसी वाद-ग्रस्त विषय का फैसला फैसल किया जाता है या वह अमान्य समझा जाता है। इसी नियम के अनुसार, यदि दूसरे फैसले का विचार किया जाय तब भी वल्लभ-विजयजी हार ही में रहते हैं। क्योंकि, मत की गणना के अनुसार—

कुल व्होट्स	मुनि उदयचन्दजी के पक्ष में	वल्लभविजयजी के पक्ष में
पहिली बार ७	७	०
दूसरी बार ७	४	३
कुल जोड़ १४ (चौदह)	११ (ग्यारह)	३ तीन सिर्फ

यों कुल चौदह मत में से ग्यारह तो मुनि श्री उदयचन्दजी की तरफ और सिर्फ तीन वल्लभ-विजयजी के पक्ष में रहे। इससे प्रत्यक्ष से प्रकट हो जाता है, कि विजय न मुनि उदयचन्दजी का वरा और यों श्वेताम्बरी स्थानकवासी लोगों ही की जीत हुई। और वह भी एक बार नहीं, परन्तु दानों बार।

दूसरे वस्त्र के फैसले की बात खास करके एक विचित्रता की ओर अपने पाठकों के लक्ष्य को खींचती है। और यों वह काठियावाड़ के पुराने जमाने के एक वकील के द्वारा कही गई बात को स्मृति को

जागरूक कर देती है। वह एक अपील के हक्क की बात थी। किसी एक भोले-भाले ग़रीब मनुष्य ने एक बार एक वकील से यह शर्त की थी, कि जो मैं जीत जाऊँगा, तो अमुक अमुक रक़म बतौर बख़शीस के आपको मै दूँगा। वकील झूठे मुक़द्दमो को बहाल करने कराने मे बड़ा ही चलता-पुरजा था; वह किसी भी प्रकार से अपने मवक्किल को जिताने मे बड़ा ही प्रवीण और ज़बर्दस्त था। जैसे कि आजकल धर्म की चर्चा के मिस कितने ही मुनि लोग परायों की निन्दा करने में पारंगत और पूरे बने-ठने होते हैं। इस ग़रीब के मामले में सुबूत की कमी थी। मामला सीधा न बैठा। बेचारा गरीब हार गया। परन्तु अन्त को चाहे कुछ भी हो, किसको गरीबों की पर्वाह पड़ी है। मामला बिगड़ जाने पर भी उस वकील ने अपने मवक्किल से कहा, "बाबू! इनाम! इनाम लाओ, इनाम!! सब तरह का, पर पक्ष के लोगों ने, अपने को हराने का प्रयत्न कर लिया था। परन्तु फिर भी तो मैं तुम्हारी तरफ़ का वकील था। जो भी मुक़द्दमा अपन हार गये हैं, तब भी 'अपील का हक़' मैं ने तुम्हारे लिए बिलकुल सुरक्षित रक्खा है। एक मात्र अपील का हक़ ही तुम्हारे पास मैं ने इतना ज़बर्दस्त रख छोड़ा है, कि वह जीतते हुए भी झख मारता है, और मन ही मन पछताता है। यदि सामने वाला मेरे बैठे हुए तुम्हारो अपील का हक़ ही ले लेता तो फिर वकील ही मैं किस नाम और काम का था।" बस, ठीक यही मसल नाभा के केस मे भी वक़ील ने वल्लभविजयजी के लिए कर दिखाई। नाभा के पहले फ़ैसले पर भी वकील ने विरुद्ध पक्षी को अपील का हक़ दिलाया। इसलिये थोड़ी देर के लिए, अपने मन को सँभालने के लिए, यदि प्रतिपक्षी अपनी झूँठी जीत ही समझते, तो इस में विजेता पक्ष को कोई बुराई नहीं है। प्रतिपक्षी को ऐसी ही जीत सदा मुबारिक़ हो। दूसरी बार के फ़ैसले पर सही करने वाले महाशय लिखते हैं, कि "पहली बार का फ़ैसला देने के बाद श्वेताम्बर स्थानकवासी लोगों ने कोई दलील ही नहीं दी।

जागरूक कर देती है। वह एक अपील के हक़ की बात थी। किसी एक भोले-भाले ग़रीब मनुष्य ने एक बार एक वकील से यह शर्त की थी, कि जो मैं जीत जाऊँगा, तो अमुक अमुक रक़म बतौर बख़्शीस के आपको मैं दूँगा। वकील झूँठे मुकद्दमों को बहाल करने कराने में बड़ा ही चलता-पुरजा था; वह किसी भी प्रकार से अपने मवक्किल को जिताने में बड़ा ही प्रवीण और ज़बर्दस्त था। जैसे कि आजकल धर्म की चर्चा के मिस कितने ही मुनि लोग परायों की निन्दा करने में पारंगत और पूरे बने-ठने होते हैं। इस ग़रीब के मामले में सुबूत की कमी थी। मामला सीधा न बैठा। बेचारा गरीब हार गया। परन्तु अन्त को चाहे कुछ भी हो, किसको गरीबों की पर्वाह पड़ी है। मामला बिगड़ जाने पर भी उस वकील ने अपने मवक्किल से कहा, "बाबू! इनाम! इनाम लाओ, इनाम!! सब तरह का, पर पक्ष के लोगों ने, अपने को हराने का प्रयत्न कर लिया था। परन्तु फिर भी तो मैं तुम्हारी तरफ़ का वकील था। जो भी मुक़द्दमा अपन हार गये हैं, तब भी 'अपील का हक़' मैंने तुम्हारे लिए बिलकुल सुरक्षित रक्खा है। एक मात्र अपील का हक़ ही तुम्हारे पास मैंने इतना ज़बर्दस्त रख छोड़ा है, कि वह जीतते हुए भी झख मारता है, और मन ही मन पछताता है। यदि सामने वाला मेरे बैठे हुए तुम्हारा अपील का हक़ ही ले लेता तो फिर वकील ही मैं किस नाम और काम का था।" बस, ठीक यही मसल नाभा के केस में भी वक़ील ने वल्लभविजयजी के लिए कर दिखाई। नाभा के पहले फ़ैसले पर भी वकील ने विरुद्ध पक्षी को अपील का हक़ दिलाया। इसलिये थोड़ी देर के लिए, अपने मन को सँभालने के लिए, यदि प्रतिपक्षी अपनी झूँठी जीत ही समझते, तो इस में विजेता पक्ष को कोई बुराई नहीं है। प्रतिपक्षी को ऐसी ही जीत सदा मुबारिक़ हो। दूसरी बार के फ़ैसले पर सही करने वाले महाशय लिखते हैं, कि "पहली बार का फ़ैसला देने के बाद श्वेताम्बर स्थानकवासी लोगों ने कोई दलील ही नहीं दी।

इसलिए उनका पक्ष खोटा है। टकसाली सोने की! सोना नहीं। चावल तोला पाव रत्ती नहीं।" ऐसा हम मानते हैं। वाह! तर्क शास्त्र तो क्या ही अच्छा और तथ्यपूर्ण से भरा हुआ है! धन्य, आपकी विद्वता और विवेकशीलता !! पर हम, जनाब फैसला-फैसल करने वाले महाशय से पूछते हैं कि अजी! महाराय, दलीलें पेश करना हारी हुई पार्टी का काम है या जीते हुए पक्ष का? कोई भी पक्ष जब मध्यस्थ किसी काम के लिए नियत कर देता है, तब फिर दखलन्दाजी देने का उसे अधिकार ही क्या रह जाता है? उसकी सम्पूर्ण शिष्टता सौजन्यता, सभ्यता, और सचाई तो इसी बात में है, कि वह बोले एक अक्षर भी नहीं। विपरीत इसके मध्यस्थ जो कुछ फैसला उसे दे दें, जो कुछ इन्साफ उसके लिए कर दें उसी से वह अपना मन मनावे; वमिमत की तसल्ली करे। और यही काम श्वेताम्बरी स्थानकवासियों ने किया, कि सातों मध्यस्थ और सभापति महाराज ने, मिल कर जो कुछ भी फैसला दे दिया, उसी को उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया और तब न्यायानुसार उन्हें बोलने का कोई हक न रह जाने के कारण, वे चुप हो रहे। फिर, फैसला जब उन्हीं के पक्ष में हुआ, तब दलीलें पेश करने से उन्हें कोई काम ही क्यों रहा? कुआ खोदने वाला यदि भाग्यवश स्वयं ही उसमें जा गिरे और अपने हाथ-पैरों को तोड़ बैठे तो दवा लाने का और दवा के इन्तिज़ाम करने का काम उसका है, या जो उसे हाथ पकड़ कर बाहर निकाले दवा देने की ज़रूरत उसका है?

'पीताम्बरी-पराजय' के प्रसिद्ध कर्त्ता के नीचे के कुछ शब्द खास ध्यान देने योग्य हैं। वे लिखते हैं कि (अर्थात् पीताम्बरी लोग लिखते हैं, कि)—"हम जीते, हम जीते।" परन्तु क्या वे हमारे (लेखक के) निम्न लिखित प्रश्नों का उत्तर देने की कृपा करेंगे?

(१) *क्या, जब नाभा-नरेश ने उन्हें टोपी पहना कर, मुँह पर मुँह पत्ति बाँधने की ख़ास ज़रूरत समझाई थी, तब भी क्या आप (पीताम्बरी लोग) ही जीत थे?*

(२) जब महाराजा साहब ने स्वयं वल्लभविजयजी से कहा था, कि "इस भाँति आप भी मुँह पर मुँहपत्ति को बाँध लें।" तब भी क्या विजय-वैजयन्ती आप ही (पीताम्बरी लोगों ही) के गले में पहनाई गई थी ?

(३) जब नाभा-नरपति ने वल्लभविजयजी को सम्बोधित करते हुए कहा था, कि "सुनो बाबा ! "मूर्त्ति तो कभी सिद्ध नहीं हुई, और न होती ही है, इसका तो सभी लोगों ने खण्डन किया है।" तब भी क्या आप ही (पीताम्बरी लोग ही) जीते थे ?

(४) जब नाभा-नरेश ने वल्लभविजयजी से कहा था, कि "आप अपने सारे कपड़ों को या तो लाल रँग के रखिए, या सबके सब एक दम श्वेत रँग ही के हों। परन्तु पीले वस्त्र तो आप साधु नाम-धारियों को कभी न रखना चाहिए ? तब भी क्या पीताम्बरी लोगों ही को विजय का परवाना मिला था ?

(५) जब नाभा-नरेश को ज्ञात हुआ था, कि वल्लभविजयजी अपनी सरकार (नाभा-सरकार) की निन्दा करते हैं, तब उन ने एक बार कहा था, कि "ये लोग अपना मैल धोते हों, इन्हें धो लेने दो।" उसी समय एक राज-कर्मचारी ने महाराजा ही के सम्मुख कहा था, कि "इन संवेगी साधुओं को और इनके ऐसे भ्रष्ट ग्रन्थों को कुँएँ में गिरवा देना चाहिए।" उस समय भी क्या ऐ पीताम्बरी लोगो ! आप ही फतहमन्द हुए थे ?

और (६) गुप्त रीति से फैसला, लल्लो-पत्तो करके लिखवा लिया गया। उसे एक आदमी के नाम भिजवा दिया गया। और वह भी सात मध्यस्थों में से केवल तीन ही की सही से ! तब भी क्या आप ही जीते थे ?

'हम जीते' यह बात इन पीताम्बरी लोगों की इतनी ही सच्ची हो सकती है, जितनी कि "महाराजा साहब ने वल्लभविजयजी को याद

पाठको ! मामा के फैसले को आदि से अन्त तक संक्षिप्त में, आप ने पढ़ लिया। और उससे आप ने यह जान लिया होगा कि कौन जीते और किसके गले में हार ने अपना हाथ डाला। मामा पति की सही का असली फैसला तो आज भी अपने मुँह बोल रहा है, कि "मामा में दिगम्बरों को बड़ी ही बुरी तरह मुँह की खानी पड़ी।"

दिगम्बरों के घर क भेद् से वार्तालाप करते हुए मालूम हुआ कि, उन के प्रति की हुई मामा की निन्दा को वे यदि खून की घूँट की भाँति पी भी जाँय, तो भी दूसरे ही क्षण, वे यह कह पड़ते हैं कि "मामा में यदि हमें नीचा देखना पड़ा, तो कोई बात नहीं; अन्त में अमरावती में तो जीत हमारे ही सिर-आँखों रही !" परन्तु पाठको ! यह कहना भी उनका, संसार के साथ सरासर अन्याय है; दिन-दहाड़े संसार के समझदारों की आँखों में धूल फेंकना है। संसार के भोलेपन और उसकी मूर्खता से अपना पेट-पालन करने का मनसूबा है।

पाठको ! इन दिगम्बरों का झूँठा साहस कितना बढ़ा हुआ है ! कितना हेटा है ! कितना इयाहीन है ! कि वहाँ अमरावती में भी सरासर रूप से श्वेताम्बर समाजवासियों ही की जीत हो रही है; और जिसके प्रत्यक्ष प्रमाण में सरकार से उन्हें फैसला तक मिल रहा है; और तब भी दिगम्बरी लोग, वहाँ अपनी ही जीत होने का अनहोना दम भर रहे हैं ! यह उनके लिए, तथा उनके आश्रित, समाज के लिए कितनी बड़ी भूल की बात है, कैसी गर्हित और अजायप्रद बात है ? यदि कोई धर्मीदार और इयादार व्यक्ति हो, तो उसके लिए यह मौत से अधिक बढ़कर बदनामी की बात है !!

हम अपने पाठकों की जानकारी के लिए, अमरावती के सरकारी फैसले को भी अविकल रूप से यहाँ उद्धृत किये देते हैं। वह यों है—

C R. No 3329 Copy of Judgement.

In the court of Shah Mohommad Ishaq Esq
First class Magistrate Amraoti

I have heard the arguments of learned counsels on both sides and read the written arguments put in by them The complaints objects particularly to these words—" Hinsadharmi, Mithyapakhandi, and ashuddha-dharmi " in the passage put in para 21 of this judgement the learned counsels for the defence have very clearly, defined in their written arguments the strict sense in which these words have been used in the booklet and after going through the statements of the witnesses for the defence, I am not prepared to accept that these words are defamatory, not do they convey the meaning attributed to them by the complainat. It is an admitted fact that this controvarcy is going on between the parties since a very long time and the several publications that have been filed in this case tend to show the existing feeling between them Most of the passages alluded to in para 21 of this judement clearly show that the publication of the booklet Ex. P I was a challenge to the complainant and his until they did so they will not be proving themselves "

प्रिय पाठको ! यों अहमदाबाद, किसनगढ़, निम्बाहेड़ा, जावद, अहमदनगर, अमृतसर, आदि भारत के प्रसिद्ध स्थानो में, अन्य मतावलम्बी विद्वत्समाज के सम्मुख, जो भी वाद-विवाद उठाया गया, प्रत्येक मे, श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनियों के द्वारा दण्डियों की हार हुई। उन्हें बुरी तरह मुँह की खानी पड़ी। श्वेताम्बर स्थानकवासी कभी

पाठको ! नामा के फैसले को आदि से अन्त तक संक्षिप्त में, आप ने पढ़ लिया। और उससे आप ने यह जान लिया होगा कि कौन जीते और किसके गले में हार ने अपना हाथ डाला। नामा पति की सही का अनमनी फैसला तो आज भी अपने मुँह बोल रहा है कि "नामा में दरिद्रों को बड़ी ही बुरी तरह मुँह की खानी पड़ी।"

दरिद्रों के घर क भेदू से वार्तालाप करते हुए मालूम हुआ कि, उन के पति की हुई नामा की निन्दा को, वे यदि खून की घूँट की भाँति पी भी जाँय, तो भी दूसरे ही क्षण, वे चट कह पड़ते हैं कि "नामा में यदि हमें नीचा देखना पड़ा, तो कोई बात नहीं; अन्त में अमरावती में तो जीत हमारे ही सिर-आँखों रही।" परन्तु पाठको ! यह कहना भी उनका, संसार के साथ सरासर अन्याय है, दिन-दहाड़े संसार के समझदारों की आँखों में धूल झोंकना है। संसार के भोलेपन और उसकी मूर्खता से अपना पेट-पालन करने का मनमूबा है।

पाठको ! इन दरिद्रों का झूँठा साहस कितना बढ़ा हुआ है ! कितना हेटा है ! कितना हमाहोत है ! कि जहाँ अमरावती में भी सरासर रूप से श्वेताम्बर खानदानियों की ही जीत हो रही है; और जिसके प्रत्यक्ष प्रमाण में सरकार से उन्हें फैसला तक मिल रहा है; और तब भी दरिद्री लोग वहाँ अपनी ही जीत होने का अनहोना दम भर रहे हैं ! यह उनके लिए, तथा उनके आश्रित समाज के लिए कितनी बड़ी भूल की बात है, कैसी गर्हित और लज्जास्पद बात है ? यदि कोई पानीदार और इमानदार व्यक्ति हो, तो उसके लिए यह मौत से अधिक बढ़कर बदनामी की बात है !!

हम अपने पाठकों की जानकारी के लिए, अमरावती के सरकारी फैसले को भी अविकल रूप से यहाँ उद्धृत किये देते हैं। वह यों है—

C R. No 3329 Copy of Judgement.

In the court of Shah Mohommad Ishaq Esq. First class Magistrate Amraoti.

नहीं, सौ बार, सामने से हो कर निकल जाय, कभी उठेगा नहीं; और न कभी उन्हें नमन ही करेगा। यदि वह इस के विपरीत करता है, तो सचमुच में अभी वह केवल थोथा नामधारी मुनि है, मुनि पद और मुनि अवस्था दोनों का अपमान और हत्या करने वाला वह हत्यारा है। अतः जितना भी जल्दी हो सके, उसे या तो अपने बाने और पद की लाज रखने के लिए अपने अधिकारों और कर्तव्यों को कार्यों के रूप में बदल देना चाहिए। अन्यथा उसे अपने बाने और पद को छोड़ कर, अपनी मानसिक और शारीरिक शक्ति के अनुसार किसी अन्य पद को अपना लेना चाहिए। यदि वह यों करने पर भी उतारू नहीं है, तो वह जगत् को लूटने हारा डाकू है, वह पूरा पूरा वञ्चक है; उस ने अभी मुनि-अवस्था के मान और महत्त्व को तनिक भी नहीं समझा है। यही अवस्था नाभा-नरेश के सामने, ठीक ठीक रूप से, वल्लभ विजयजी की थी। जब जब महाराजा साहब सभा में आते, उस समय एक ओर जहा उदयचन्दजी न तो उन्हें कभी उठ कर ताजीम ही देते और न कभी नमन ही उन्होंने महाराजा के प्रति किया। वहीं वहीं दूसरी ओर वल्लभविजयजी हर समय महाराजा साहब के आने पर उठते रहते, समय असमय नमन करते, और कई बार प्रार्थना तक कर बैठते, कि अभी तक मेरा इन्साफ नहीं हुआ।

पाठको! यह हुआ 'नाभा-मुँहपत्ति-चर्चा' का संक्षिप्त इतिहास। इसमें कोई भी विचारशील पाठक भली भाँति समझ सकता है, कि 'प्रभावकपणे' की लालसा का क्या विघातक परिणाम होता है। एक वैष्णव राजा के पास जैनी लोग, और वे भी एक फर्यादी के रूप में और साधु नामधारी! पाठको! लानत है, इस ऐसी सत्यानाशी साधुता पर! इन ऐसे ही वितण्डावादी, बुद्धि के अचड़ और शास्त्र-ज्ञान के दीवालिये लोगों के कारण, हमारे जैन-पद और जैन-धर्म का ह्रास अहर्निश हो रहा है। हमारी सद्-विद्या, सद्-भावनाओं और सन्त-मण्ड-

किया और उनसे वार्तालाप करके सरकार को बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ।" इस कथन का सच और तथ्यपूर्ण होना। कहने का आशय यह है कि दोनों बातें निरी गप्प हैं। क्योंकि, नाभानरेश न तो यहाँ तक कहा था, कि "हम इन ऐसे संवेगी पुरुषों के दरशन तक करना नहीं चाहते।"

आगे चल कर हमें जब विश्वस्तसूत्र से, किन्तु खानगी तौर से जो समाचार मिले हैं, उनसे ज्ञात होता है, कि जब शास्त्रार्थ के समय स्वामी अजयचन्द्रजी महाराज की ओर से वल्लभविजयजी को सवाल किये गये थे, उस समय उन्हें सुन कर नाभा-नरेश तथा सभ्यजन लोगों ने वल्लभविजयजी का, उनके ६ ही पर, उन लोगों के आचरण की निन्दा करते हुए, बड़ा ही अपमान किया था। कुछ भी हुआ हो। पर हुआ वल्लभविजयजी का अपमान था, और उन्हें हर समय वहाँ नीचा देखना पड़ता था।

पाठकों! कुछ भी हो अन्त में तो एक मुनि मुनि ही होता है। वह इस नश्वर जगत् के सम्राटों का भी सम्राट् होता है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ने श्रीमद्भगवद्गीता में 'मुनि' शब्द की व्याख्या यों की है——

'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः, सुखेषु विगतस्पृहः।
वीत-राग-भय-क्रोधः, स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥"

—श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय २, श्लोक ५६।

अर्थात् जिसका मन दुःख के समय दुःखी नहीं होता, सुख के समय सुख भोगना नहीं चाहता जो किसी भी प्रकार के राग भय और क्रोध से बिलकुल रहित है, वही स्थित-प्रज्ञ मुनि' कहलाता है।

तब फिर वह मुनि पद का अधिकारी पुरुष यहाँ के साधारण राजा महाराजाओं को क्यों मुजरा करने जाता। उनके आने पर वह उठक-बैठक भी क्यों करने लगता? वह तो, देवता भी यदि एक बार

I have heard the arguments of learned counsels on both sides and read the written arguments put in by them. The complaints objects particularly to these words—" Hinsadharmi, Mithyapakhandi, and ashuddha-dharmi " in the passage put in para 21 of this judgement the learned counsels for the defence have very clearly, defined in their written arguments the strict sense in which these words have been used in the booklet and after going through the statements of the witnesses for the defence, I am not prepared to accept that these words are defamatory, not do they convey the meaning attributed to them by the complainat. It is an admitted fact that this controvercy is going on between the parties since a very long time and the several publications that have been filed in this case tend to show the existing feeling between them Most of the passages alluded to in para 21 of this judement clearly show that the publication of the booklet Ex. P I was a challenge to the complainant and his until they did so they will not be proving themselves "

प्रिय पाठको ! यों अहमदाबाद, किसनगढ़, निम्बाहेड़ा, जावद, अहमदनगर, अमृतसर, आदि भारत के प्रसिद्ध स्थानों में, अन्य मतावलम्बी विद्वत्समाज के सम्मुख, जो भी वाद-विवाद उठाया गया, प्रत्येक में, श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनियों के द्वारा दण्डियों की हार हुई। उन्हें बुरी तरह मुँह की खानी पड़ी। श्वेताम्बर स्थानकवासी कभी

पाठको ! मामा के फैसले को आदि से अन्त तक संक्षिप्त में, आप ने पढ़ लिया। और इससे आप ने यह जान लिया होगा कि कौन जीते और किसके गले में हार न अपना हाथ डाला। -मामा पति की सही का असली फैसला तो आज भी अपने मुँह बोल रहा है, कि "मामा में इरियों को बड़ी ही बुरी तरह मुँह की खानी पड़ी।"

इरियों के घर क भेद् से वार्तालाप करते हुए मालूम हुआ कि उन के प्रति की हुई मामा की निन्दा को वे यदि सुनकी पूँछ की भाँति पी भी जाँय, तो भी दूसरे ही क्षण, वे चट कह पड़ते हैं कि "मामा में यदि हमें नीचा देखना पड़ा तो कोई बात नहीं; अन्त में अमरावती में तो जीत हमारे ही सिर-आँखों रही।" परन्तु पाठको ! यह कहना भी उनका, संसार के साथ सरासर अन्याय है; दिन-दहाड़े संसार के समझदारों की आँखों में धूल फेंकना है। संसार के भोलेपन और उसकी मूर्खता से अपना पेट-पालन करने का मनसूबा है।

पाठको ! इन इरियों का झूँठा साहस कितना बढ़ा हुआ है ! कितना हेटा है ! कितना हमाहीन है ! कि जहाँ अमरावती में भी सच सर रूप से श्वेताम्बर जानव्रासियों की ही जीत हो रही है; और जिसके प्रबल प्रमाण में, सरकार से उन्हें फैसला तक मिल रहा है; और तब भी इरके लोग, वहाँ अपनी ही जीत होने का अनहोना दम भर रहे हैं ! यह उनके लिए, तथा उनके आश्रित समाज के लिए कितनी बड़ी भूल की बात है, कैसी गर्हित और लज्जास्पद बात है ! यदि कोई पानीदार और हयादार व्यक्ति हो, तो उसके लिए यह मौत से अधिक बदतर बदनामी की बात है !!

हम अपने पाठकों की जानकारी के लिए, अमरावती के सरकारी फैसले को भी अविकल रूप से यहाँ उद्धृत किये देते हैं। वह यों है:—

C R. No 3329 Copy of Judgement.

In the court of Shah Mohommad Ishaq Esq. First class Magistrate Amraoti.

I have heard the arguments of learned counsels on both sides and read the written arguments put in by them. The complaints objects particularly to these words—" Hinsadharmi, Mithyapakhandi, and ashuddha-dharmi " in the passage put in para 21 of this judgement the learned counsels for the defence have very clearly, defined in their written arguments the strict sense in which these words have been used in the booklet and after going through the statements of the witnesses for the defence, I am not prepared to accept that these words are defamatory, not do they convey the meaning attributed to them by the complainat. It is an admitted fact that this controverey is going on between the parties since a very long time and the several publications that have been filed in this case tend to show the existing feeling between them Most of the passages alluded to in para 21 of this judement clearly show that the publication of the booklet Ex. P I was a challenge to the complainant and his until they did so they will not be proving themselves "

प्रिय पाठको ! यों अहमदाबाद, किसनगढ़, निम्बाहेडा, जावद, अहमदनगर, अमृतसर, आदि भारत के प्रसिद्ध स्थानों में, अन्य मतावलम्बी विद्वत्समाज के सम्मुख, जो भी वाद-विवाद उठाया गया, प्रत्येक मे, श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनियो के द्वारा दण्डियों की हार हुई। उन्हें बुरी तरह मुँह की खानी पड़ी। श्वेताम्बर स्थानकवासी कभी

भूल कर भी लगत उनका मान, मैत्री करना, उचित नहीं समझते, तथापि वे यह भी इस नाते उचित नहीं समझते, कि, प्रति-पक्षी को उसके अपने कार्यों का बदला न देकर, निरे नामर्द संसार में कहलावें। और यही कारण है, कि श्वेताम्बर स्थानकवासी लोग जो भी बड़े ही शान्ति-प्रिय हैं तो भी समय असमय उन्हें "जैसे को तैसा" (Tit for tat) के रजोगुणी मार्ग को अपनाना ही पड़ता है। और तब "uninvited guests sit on thorns" अर्थात् अनिमन्त्रित मेहमान का अनादर होता है, के नाते से प्रति-पक्षी के साथ उनका विपरीत व्यवहार भी देखा सुना जा सकता है। परन्तु विचारशील पाठकों को यह भली भाँति ज्ञात हो सकेगा कि इस सारे वितण्डावाद का बीजारोपण करने वाले ये ढूंढ़ी लोग और इनके अनुयायी ही हैं।

॥ श्रीमहावीराय नमः ॥

इन्दौर शहर में ढूंढ़ियों की हार।

(जवाब न देकर भगदौड़)

(१) प्रेमी पाठको ! यह हमारा अनुभूत अनुभव है, कि ये, ढूंढ़ी लोग शास्त्रार्थ करने का ढिंढोरा पीट कर फिर पीछे से तरह तरह के विषयान्तर वाद विवाद और झगड़ों की जड़ पकड़ जाते हैं। फिर दोनों ओर से विज्ञापनबाजी के घोड़े दौड़ने लगते हैं। यों इन लोगों की नासमझी और बेहूदगी का बदला बेचारे इनके आश्रित समाज और प्रतिपक्षी लोगों को, निज का समय, शक्तियाँ श्रम और सम्पत्ति खोकर, चुकाना पड़ता है। यह तो रहे, और पारस्परिक मनो-विकार की जो जड़ मजबूत होती जाती है, वह अलग ही है। शान्ति और सुजनता के आधार वीर भगवान् के, ये अपने को उपासक बताते हुए भी शान्ति और सुजनता से वाद-विवाद करना मानों इन्होंने आज तक सीखा ही नहीं है। यही क्यों भूले हुए मरनों का भी तो सौम्यता

पूर्वक उत्तर देना ये नहीं जानते। दण्डी मणिसागरजी ने भी इसी मार्ग का अनुसरण किया। शास्त्रार्थ के करने-कराने में, उन्हें सूचना देते रहने पर भी, न तो उन्होंने श्रीसंघ ही को अपने साथ रक्खा और उस की किसी प्रकार की सम्मति और सहानुभूति ही उन्होंने सम्पादित की। पूछे हुए प्रश्नों में से किसी एक प्रश्न का जवाब तक उनसे न बन पड़ा। इन्दौर के उपर्युक्त विज्ञापनों से पाठकों ने यह बात भली प्रकार जान ही ली होगी।

(२) दण्डीजी! बत्तीस सूत्रों के मूल पाठ के आधार पर, मुँहपत्ति को मुँह पर बाँधना सिद्ध कर दिखाया, तभी तो नाभा-नरेश ने, अपनी सही के दिये हुए फैसले में, श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन-साधुओं की विशुद्ध वृत्ति को प्राचीन और आगमानुसार बतलाया है। अकेले नाभा में ही क्यों, अन्यान्य प्रसिद्ध स्थानों में भी तो, इसी प्रकार श्वेताम्बर स्थानकवासी लोगों ने आगमों की पवित्र आज्ञानुसार, मुँह ही पर मुँहपत्ति को बाँधना, कई बार, और सैकड़ों प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया है। और तो और, इन उद्घोषणाओं तक में, आगमों के आधार को सामने रखते हुए, सूत्रों के सिद्धान्तों को दिखाते हुए, स्वय इन दण्डियों के प्रामाणिक ग्रन्थों और अन्य ऐतिहासिक पुस्तकों के पुरावों को पेश करते हुए भी, मुँह ही पर मुँहपत्ति को बाँधना, भली-भाँति से सिद्ध कर दिखाया है।

आगे चल कर दण्डीजी ने उसी परिलेख में लिख मारा है, कि "मेरे साथ शास्त्रार्थ करने की ताक़त नहीं हुई।" दण्डीजी आपका यह लिखना सही है। क्योंकि, वैर, विवाद और व्यवहार जो किया जाय, वह समान शील पुरुषों ही से करने के लिए, नीतिकार पुरुषों का कहना है। अतः आपसे शास्त्रार्थ करना,- कीचड़ में पत्थर फेंकने के सदृश समझ कर ही तो, आपकी ओर से किसी दूसरे, सौम्य स्वभावी और, वास्तव में विवेकी विद्वान् के साथ, वाद-विवाद करने का चैलेंज. श्वेता-

म्बर स्थानकवासी जैनियों की ओर से, आपको दिया गया था। दूसरे, आपकी विद्वत्ता और योग्यता का जग-जाहिर ढिंढोरा भी तो उस समय पिट चुका था, कि आप जैसे विद्या-वारिधियों (!) से, मार्ई मनसुखलाल के दस प्रश्नों तक का उत्तर देते न बन पड़ा। और इसी शर्म के मारे, आप इन्दौर को छोड़ कर, वहाँ से बिना किसी से कुछ भी कहे सुने, एकाएक नौ-दो ग्यारह चल दिये थे। तीसरे, आप वास्तव में शास्त्रार्थ करना चाहते थे या वितण्डावाद, क्योंकि, वितण्डावाद आपको अपने प्राणों से भी प्यारा है, यह सोच समझ कर ही तो, श्वेताम्बर स्थानकवासी लोगों की ओर से आपको विज्ञापन के द्वारा यह कहा गया था कि हम लोग शास्त्रार्थ करने के लिए हर समय और हर एक योग्य स्थान पर तैयार हैं। और योग्य स्थान से हमारा इतना ही आशय रक्खा जाता है, कि वहाँ क्या जैन और क्या जैनेतर सभी प्रकार के योग्य व्यक्तियों की साक्षी में आपकी ओर के किसी योग्य अनुभवी और विवेकशील विद्वान् साधु के साथ, शास्त्रार्थ करने के लिए, हम हर घड़ी उद्यत बैठे हैं। इसके साथ ही हमारी दूसरी एक शर्त सदा से यह भी रहती आई है, कि पहले आपको इसके लिए श्रीसंघ की सम्मति और सहानुभूति भी सम्पादित कर लेनी चाहिए। और तब उनको साथ रख कर, आपको विवाद-निर्धारण सम्बन्धी विज्ञापन प्रकाशित करवाना चाहिए। हमारी ओर से यों बिलकुल साफ़ साफ़ कह देने पर भी, आज तक उपर्युक्त म.णसागरजी की ओर से कोई एकाध संवेगी साधु, शास्त्रार्थ करने के लिए, मैदान में कमर कस कर और ताल ठोक कर न उतरा। इससे भी उपर्युक्त मणिसागरजी तथा उनके दुलारे अनुयायियों ही को हार खा को जान पड़ी।

(३) इतना सब कुछ हो चुकने पर भी, और जगत् में उनके मान को मैला होते देख कर भी, 'उलटा चोर कोतवाल को डाँटे' वाला ही हिसाब उपर्युक्त कर रहे हैं। स्वयं उपरोक्त ही ने तो वाद-विवाद

ने से दिल चुराया, टालमटूल की, और पूछे हुए साधारण से साधा- प्रश्नों तक का उत्तर न देते हुए, इन्दौर से एकाएक भाग निकले। है, ठहरते भी वे उस समय किस बूते पर। क्योंकि, प्रश्नकर्त्ता ने अपने प्रश्नों को बत्तीस सूत्रों के मूल पाठों पर ही, कराने की हट ड रक्खी थी। ऐसे समय, 'बद अच्छा, बदनाम बुरा' की कहावत अनुसार बेचारे दण्डीजी के पास वहाँ से भाग निकलने का ही सब अच्छा साधन मौजूद था। कहिये, दण्डीजी! यदि आप में सचमुच यता थी, आप यदि बीसों विस्वा विद्वान् थे, यदि आप के धार्मिक वन की छाप और आप के सदाचरण के ठप्पे, आपके अनुयायियों हृदयों पर, ठीक ठीक लग चुके थे, तो फिर आप हमारे प्रश्नों का र विना दिये ही वहाँ से चल कैसे पड़े? क्यों नहीं आपके अनुयायी कों ने उस आये दिन आपका साथ दिया? क्या, इन्हीं साधनों की ट में, आप अपने जीत का ढोल जगत् में पीटते हुए, घर घर और दर अपनी रक्षा की याचना करते फिरते रहे हैं? वाह भगवन्! ह रक्षा की याँचना आपकी आप ही को मुबारिक रहे।

(४) दण्डीजी! आपके सुन्दर गले में हार के द्वारा हार तो सी दिन पहना दिया गया था, जिस दिन श्वेताम्बर स्थानकवासी नियों की ओर से 'चर्चा का चैलेंज' नामक विज्ञापन जनता के हाथों या गया था, और हमारे हर प्रकार से और हर समय, तथा योग्य थान में, चर्चा के लिए तैयार रहने पर भी, आप मौनावलम्बन कर ठ रहे थे। क्या, 'मौन सम्मतिलक्षणम्' के न्याय से यह आपकी कता, आपकी पराजय को साबित नहीं कर रही है?

और (५) दण्डीजी! आपने 'आगमानुसार मुँहपत्ति-निर्णय' और 'उद्घोषणा' में सूत्रों के मूल पाठ को हेर-फेर किया। युक्तियों और कुत्सित भावनाओं से प्रेरित हो कर, मुँहपत्ति को हाथ रखने की आकाश-कुसुम-वत् सिद्धि को भी संसार के सामने

ग्रहण कर, उन्हें अपने आत्मिक आचरण में लाना सीखें। आपके हृदयों से दीन ढूंढियों की हिमायतें दूर हों। ढूंढियों की अन्धाधुन्धी और लोक-लाज की लापरवाही के कारण, ढूंढियों ने जो मुँहपत्ति को हाथ में रखने का हठवाद और कदाग्रह धारण कर रक्खा है, उसका इस आत्म-बल के सुन्दर और शान्ति-प्रदायक और नयनाभिराम प्रकाश में सदा के लिए अन्त हो। परमात्मा उन्हें इस आत्म-बल को अपनाने और इसकी शरण में आने की शक्ति प्रदान करे।

ॐ शान्ति! शान्ति!! शान्ति!!!

ॐ

जाहिर—उत्तर ।
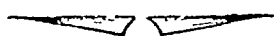
उत्सूत्र भाषी दण्डीजी ! 'जाहिर-खबर' में जो 'धर्म-लाभ', 'यह' आदि को सिद्ध करने में 'अनादि मर्यादा' की ओट आपने ली है, वह निरी मिथ्या, प्रमाद-पूर्ण और सूत्र-विरुद्ध है। उसे ऐसा कहने का हमारा सक्षिप्त विवेचन यों है—

'धर्मलाभ' आदि कह कर रोटी आदि माँगना कंगलों का काम है। परम त्यागी जैन-मुनियों को ऐसा कहना कभी नहीं फबता। और न ऐसा कह कर वे कभी किसी से कोई याचना ही करते हैं। और न वीर भगवान् ही की इस विषय में कोई आज्ञा मूल सूत्रों में कहीं पाई जाती है। फिर आप इसे आशीर्वादात्मक वचन लिखते हैं। यह ठीक है। कौन इसे अनाशीर्वादात्मक कहते हैं। परन्तु आपको यह भी यहाँ स्मरण रखना चाहिए, कि 'आप को धर्म का लाभ हो, द्रव्य का लाभ हो, आपका भला हो, आप को पुत्र की प्राप्ति हो, आदि आदि तो तभी बोले जाते हैं, जब कि कोई दाता किसी पेटार्थी कंगले को कुछ देता है। इन कंगलों के अतिरिक्त, भाट, चारण, वन्दी, मागध, सूत, आदि भी, अपने दाताओं के प्रति, यदा-कदा, दान में मिलने वाली वस्तु के प्रथम और पश्चात्, इन शब्दों का उपयोग किया करते हैं। क्या, दण्डियो ! सचमुच में आज आप, अपने परम त्याग की अवस्था को छोड़ कर, इन लोगों की श्रेणियों में उतर आये ? जो 'धर्म-लाभ' आदि आशीर्वादात्मक पदों की युक्ति आप को सूझ पड़ी ? अजो ! आप की अवस्था और धर्मानुसार जैन-शास्त्र भी तो इस में सहमत नहीं हैं, और न भगवद् आज्ञा ही का कोई आसार इस को तह में आप के लिए पाया जाता है। तब क्या, पेट-पालन, प्रमाद की प्रगति और प्रपंच के

धारण कर, उन्हें अपने आत्मिक आचरण में लाना सीखें। आपके हृदयों से हीन रूढ़ियों की हिमायतें दूर हों। रूढ़ियों की अन्धाधुन्धी और लोक-लाज की लापरवाही के कारण, रूढ़ियों ने जो मुँहपत्ति को हाथ में रखने का हठवाद और कदाग्रह धारण कर रक्खा है, वह सब इस आत्म-बल के सुन्दर और शान्ति-प्रदायक और नयनाभिराम प्रकाश में सदा के लिए भस्म हो। परमात्मा उन्हें इस आत्म-बल को अपनाने और इसकी शरण में आने की शक्ति प्रदान करे।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

किए हैं। इस से यह सिद्ध हो चुका कि प्रारम्भ में ही सूत्र विरुद्ध प्रवृत्ति को पालने में श्रीगणेशाय किया तो फिर आगे में सूत्र के अनुसार प्रवृत्ति पाल भी कैसे सकते हैं। 'यह' बात खुलासा, इसी ग्रन्थ मे हम पहले कर चुके हैं। इस शब्द का प्रयोग तो, केवल पेटार्थी दण्डियो के द्वारा, उस दिन के बारह वर्षीय दुष्काल के जमाने ही से हुआ है, जब कि उन के पेट पालने के सम्पूर्ण साधनो की शक्तियाँ ससार से रुठिया गई थीं। इस से निर्विवादित सिद्ध हो जाता है कि यह भी अनादि नहीं है। फिर, नन्दोषेण मुनि का, भगवान् महावीर की मौजूदगी में, वेश्या के मुहल्ले में गोचरी के लिए जाना, यह लिखना भी दण्डोजी की दण्डायमान ना समझी ही को जग-जाहिर करता है। क्यों कि भगवान् ने तो वेश्या के मुहल्ले के पड़ोस में हो कर निकलने तक के लिए मना किया है और बताया है। तब उन्हीं की मौजूदगी में, और ऐसी बातों का निधड़क होना! हरगिज नहीं हो सकता। और न वेश्या के मुहल्ले में नन्दाषेण मुनि गोचरी गए ऐसा मूल सूत्रों में उल्लेख है। तदपि दण्डीजी उसे बिलकुल निधड़क ही हो कर लिख रहे हैं, जो निरा थोथा और भ्रम मूलक है।

आगे चल कर दण्डीजी का यह लिखना, कि "शुद्ध सयम धर्म की जगत् में महिमा बढ़ाने के लिए 'संवेगी' नाम रख कर शुद्ध संयमी साधुओं ने 'पीत वस्त्र' धारण किए।" पाठको! कितना थोथा और मायाचार से भरा हुआ है। कहीं सयम और साधुता की पहचान भी पीले और काले रंगों से हुई है? स्वयं प्रकृति हमें डंके की चोट बता रही है, कि उसमें—(१) तरुणाई के बालों की स्याही, और (२) जवानी के खून की ललाई, संयम और अनुभव-प्राप्त बुढ़ापे में सफेदी में बदल जाती है। यही क्यों, उस के रंग की चमचमाहट, धीरे धीरे, वर्षा, धूप, आँधी, हवा, आदि के संघर्ष से सफेदी की ओर ढलकती चली जा रही है। अतः सफेदी का पीले रंग में बदलना, केवल मायाचार, आत्मार्थियों के विरुद्ध पुरुषार्थ, वीर प्रभु की आज्ञा का विराधक बनना, ससार को बढ़ाना, पेट-भराई के लिए प्रपञ्चों का रचना, और बुद्धि का सठियाना मात्र है?

फिर, जिन-राज के जन्माभिषेक, दीक्षा और केवल ज्ञान, आदि

पसारे ही के लिए आप लोगों ने !'धर्म-लाभ की सृष्टि अपने लिए का है ? धन्य आप की बुद्धिमत्ता और साधु-वृत्ति को ! परन्तु विपरीत इसके, श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन मुनि, जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए, 'दया कुरु' अर्थात् दया पालो ऐसा जो उपदेशात्मक पद कहते हैं, वह शास्त्र-सम्मत उन की अवस्था के अनुकूल, और पिता परमात्मा की आज्ञा के आधार पर स्थित और सनातन है। जिसके प्रमाण में, श्रीमद् उत्तराध्ययन जी सूत्र के १० वें अध्याय की ३६ वीं गाथा का देखना चाहिए। उस में भी भगवान् की आज्ञा है, कि साधु जहाँ जाय, वहीं शान्ति का, दया का उपदेश करे। कारण कि परम त्यागी और सच्चे जैन मुनि तो धर्म-लाभ कह कर आहार ग्रहण करना दूषित समझते हैं। अतः दण्डीजी ! आप का यह लिखना, कि "जैन साधुओं को या मुनियों का उपदेशात्मक और आशीर्वादात्मक पदों तक का भी ज्ञान नहीं था,' भी नितान्त भ्रम-मूलक है, तथा आप की जड़ और विवेक हीन बुद्धि ही का लागों का परिचय देना है। ज्ञान तो वास्तव में आप का नहीं था जिसके कारण परमत्यागियों की अवस्था में धर्म-लाभ कह कर आहार नहीं लेना चाहिए सो न रह हा यह अज्ञता नहीं है क्या ?

आगे चल कर, "श्वेत वस्त्र वाले यति लोग आरम्भ परिग्रह ।लं हो गए;" दण्डीजी का यह लिखना अक्षरशः सत्य है। किन्तु 'लाग यतियों की निन्दा करते हुए जिन मूर्तियों की उत्थापना भी करने लगे। इसलिए, (१) यतियों से भिन्नता दिखाने (२) अनादि जिनमूर्ति की मान्यता की रक्षा करने और (३) शुद्ध संयम-धर्म की जगत में महिमा बढ़ाने, आदि के लिए, 'संवेगी नाम रख कर, शुद्ध संयम शील साधुओं ने पीत वस्त्र ग्रहण किए हैं !'

पाठको ! नं० (१) की बात के अनुसार पीले वस्त्रों को धारण करना तो दण्डीजी स्वयं स्वीकार करते हैं कि हमने पीले ये धारण